ग्रंथांक....339

पतितपावन जैनधर्म

(पापी को भगवान् बनाने वाला जैनधर्म)
(पापात्मा को पुण्यात्मा व परमात्मा बनाने वाला जैनधर्म)
(गद्य-पद्यमय)

-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

कोरोना वायरस काल के कारण ग.पु.कॉ. सागवाडा में सुदीर्घ प्रवास वर्षायोग, स्वाध्याय, दो जैन वेबिनार 2020 में मोक्षशास्त्र व द्रव्यसंग्रह का देश-विदेशों में स्वाध्याय-प्रचार-प्रसार

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

(1) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (2) धर्मदर्शन सेवा संस्थान
(3) श्रीमती इतिक्षा ध.प. श्री गौरव जी जैन ग.पु.कॉ., सागवाड़ा

ग्रंथांक-339 संस्करण-प्रथम 2020
प्रतियाँ-500 मूल्य-251 रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त
(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान
द्वारा-श्री हेमन्त प्रकाश देवड़ा (महावीर)
चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,
उदयपुर (राज.)-313001/मो. 94608-78187
(2) डॉ. नारायणलाल कछारा
सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001
फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622
E-mail:nlkachhara@yahoo.com

मोह नींद से जगाने हेतु गुरु श्रीकनकनन्दी आए

-क्षु. सुवीमक्षती

(चालः ओह रे ताल मिले...)

जगाने आए 'कनक' गुरुवर, भव्य जीवों जागो रे ऽऽऽ
अनन्त सो लिए मोह नींद में, अब जागो रे ऽऽऽ (ध्रुव)
समता-साधक है गुरुवर, सद्गुण-रत्नाकर-2
अद्भुत अनुपम गुरुवर, ज्ञान-प्रभाकर-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ अद्भुद अनुपम गुरुवर, ज्ञान-प्रभाकर
मिथ्याभ्रमतम नाश हेतु, गुरु दिवाकर...जगाने...(1)
पंथ मत जाति भेदभाव, गुरुवर न करते-2
धन जन मान सम्मान, वर्चस्व न चाहते-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ धन जन मान सम्मान, वर्चस्व न चाहते
माईक मंच होर्डिंग भीड, आडम्बर न चाहते...जगाने...(2)
स्वाध्याय चिन्तन लेखन, आत्मध्यानरत है-2
गुरुवर का महत् लक्ष्य है, स्वात्मोपलब्धि-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ गुरुवर का महत् लक्ष्य है, स्वात्मोपलब्धि
इस हेतु प्रयासरत, सतत गुरुवर...जगाने...(3)
मोहमहामद पीकर तुम तो, स्वयं को न जाने-2
देह जीव को एक मानकर, बहिरातम बने रहे-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ देह जीव को एक मानकर, बहिरातम बने रहे
देह विराजित निज आतम को, अब जाना रे...जगाने...(4)
तन-मन-इन्द्रिय भोग, नहीं है तव स्वरूप-2
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि, सब हैं अनात्म रूप-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि, सब हैं अनात्म रूप
इनसे परे आत्मवैभव, है तव स्वरूप...जगाने...(5)

तुम हो आत्मा अजर-अमर, शाश्वत शुद्धात्मा-2
कर्मबन्धन से हुए हो, अशुद्ध-आत्मा-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ कर्मबन्धन से हुए हो, अशुद्ध-आत्मा
कर्मवैरी नाश करके, बनो परमात्मा...जगाने...(6)
अनन्तभूत में किया जो तुमने, अब नहीं करना-2
अब तक जो किया न तुमने, वो ही है करना-2
हो भव्यों हो ऽऽऽ अब तक जो किया न तुमने, वो ही है करना
राग-द्वेष-मोह नाश करके, स्व को पाओ रे...जगाने...(7)

ग.पु.कॉ, दि-25/4/2020

मेरे कनक गुरु का क्या कहना!

रचयित्री-कुमारी शुद्धि D/o योगेश जैन, कक्षा-छटवी

(चालः मेरे सामने वाली खिड़की में...)

दुनिया में गुरु अनेकों हैं...मेरे कनक गुरु सा कोई नहीं...
इनकी महिमा का क्या कहना...इनकी गरिमा का क्या कहना...(स्थायी)...
मेरे गुरु आडम्बर रहित...सहज-सरल-शान्त मूरत...
निस्पृह व अयाचक गुरु...अलौकिक अद्भुत मूरत...
ऐसे गुरुवर की निश्रा में...हमें आत्म ज्ञान मिलता है...(1)
जबसे ये गुरु हमें मिले...ज्ञान की महिमा समझ आई...
हम स्वाध्याय में नित्य आने लगे...जिससे मैं की महिमा जानी...
आतम का बोध हुआ मुझको...जिससे आनन्द रस पाया है...(2)
राग-द्वेष-मोह त्यागी गुरुवर...ज्ञान की गंगा बहाते हैं...
ऐसे वीतरागी गुरुवर से...मैं जिन दीक्षा प्राप्त करूँ...
ऐसी भावना भाए 'शुद्धि'...संसार से पार उतरना है...(3)

विषयानुक्रमणिका

अ.सं.	विषय	पृ. स.
1.	मोह नींद जगाने हेतु गुरु श्री कनकनन्दी आए	2
2.	मेरे कनक गुरु का क्या कहना!	3
3.	युग शिरोमणि (युग श्रेष्ठ) आत्मज्ञानी निस्पृही, वीतरागी आरध्यप्रभु (ऋषिवर) आ. श्री कनकनन्दी जी	6
4.	कनकगुरु की चरण रज प्राप्त करूँ...	7
5.	सेवाभक्ति स्वरूपा आदर्श नारी (मातृ) शक्ति	8
6.	जैनधर्म की अभी की समस्यायें एवं समाधान	8
7.	ज्ञानी-ध्यानी कनक गुरु की वन्दना	11
	पापी को भगवान् बनाने वाला जैनधर्म	
1.	स्वरूप प्राप्ति हेतु सर्वसाधना-अन्यथा सभी व्यर्थ...	12
2.	सातिशय पुण्यशाली निकट भव्य ही बनते ज्ञानी-वैरागी	28
3.	ज्ञान-वैराग्य सम्वृद्धि हेतु वर्णन है पाप-पुण्य-मोक्ष तक	34
4.	जैन धर्म की परम विशेषता-पतित भी बनते भगवान्!	66
5.	मेरे आत्मविश्लेषण व आत्मसुधार व शिष्य-सम्बोधन हेतु	113
6.	उत्तम (शुभ, शुद्ध) भाव क्या है और क्यों करूँ!?	120
7.	'अहंकार' 'ममकार' परे करूँ स्वप्रतीति-परिणति	130
8.	बहिरात्मा (पापात्मा) से अन्तरात्मा (पुण्यात्मा) अन्तरात्मा से परमात्मा (धर्मात्मा)	164
9.	स्ववैभव पाना ही मेरा धर्म व अधिकारः अन्य सभी पर व विभाव व बेकार	179
10.	आगम-अनुभव से जाना धर्म-अधर्म-धर्मबाह्य	217
11.	अफवाह है लोकमूढ़ता/अन्धानुकरण	228
12.	भोगोपभोगासक्तों की दुर्दशा (मधु बिन्दु)	231

13.	सज्जन व दुर्ज्जन संगति के सुफल-कुफल	245
14.	विज्ञान की सशरीरी अमरत्व की अवधारणा की समीक्षा	272
15.	रहस्यों के रहस्य उद्घाटक	339
16.	अनेकान्त का अनन्त विराट स्वरूप	364
17.	स्वशुद्धात्मानुयायी भावना तो मोहराग युक्त इच्छा	387
18.	मुनि निन्दा से अनेक भव तक घोर दुःख	406
19.	एक लड़का व कुछ कुत्तों से मुझे प्राप्त शिक्षायें	409
20.	कोरोना वायरस से निर्भय होने हेतु	410
21.	आराधना पाठ	418
22.	अन्तिम भावना	420
23.	समाधिमरण पाठ	422
24.	मोक्ष हेतु स्वदेह क्षय करूँ	430
25.	आचार्य कनकनन्दी श्रीसंघ हेतु	431
26.	आध्यात्मिक सच्चा श्रमण V/s श्रमणाभास	432
27.	सच्चा श्रावक योग्य कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य	455
28.	''वन्देतद्गुण लब्धये'' हेतु देवदर्शन	457
29.	योगी को अपना पूर्व-आचरण अज्ञानपूर्ण प्रतीत होता	458
30.	महापापी लकुच बना महामुनि	460
31.	पतितों को भी पावन बनाना चाहूँ...	461
32.	श्रेष्ठता-ज्येष्ठता-पूज्यता के कारण	466
33.	भाव मोक्ष से दुःखक्षय संभव अन्यथा नहीं	467
34.	निर्मोही के स्व को भगवान् मानना V/s मोही के...	468
35.	आत्मा अनन्त गुण-धाम	469
36.	मम शुद्धात्मा स्वरूप : सच्चिदानन्द	470
37.	ज्ञान-वैराग्य हेतु पाप-पापीओं का वर्णन	470

युग शिरोमणि (युग श्रेष्ठ) आत्मज्ञानी, निस्पृही, वीतरागी आराध्य प्रभु (ऋषिवर) ''आ.'' श्री कनकनन्दीजी

रचयित्री-दीपिका एन. शाह

दोहावलि

युग के सर्वश्रेष्ठ हो, दिव्यदृष्टि दर्शाय।
तेरी आत्मीय शक्ति को, हर क्षण मन में ध्याय।। (1)

हे! कलिकाल के समन्तभद्र, अकलंक स्वामी।
आत्मज्ञानी महाऋषि, नित-प्रति प्रणमामि।। (2)

क्षण भर में कर्म क्षय करे, हो आतम ज्ञानी।
रत्नत्रय धारी बन, स्व-पर कल्याणी।। (3)

स्व-पर प्रकाशी आप हो, करुणाधारी महान्।
सर्वज्ञ वाणी उर धरे, विश्व को करे आह्वान।। (4)

विश्व के हीरो हो प्रभु, धर्म की शान बढ़ाय।
महान् धर्म सिद्धान्त को, जन जन (विश्व) तक पहुँचाय।। (5)

रोम-रोम वाणी खिरे, परम सत्य बतलाय।
भवि जीवों को बोधकर, आत्म श्रद्धान कराय।। (6)

केवली स्वरूप आप हो, लक्ष्य धारे महान्।
अलौकिक गणितज्ञ प्रभु, सारभूत तथ्य ज्ञान।। (7)

निश्छल हँसी उर में सदा, आनंदित जन-मन/गण।
परम मनोविज्ञानी प्रभु, यथार्थ स्वरूप में लीन।। (8)

तीर्थंकर सम आप हो (कनक प्रभू), गणधर सुविज्ञ देव।
सहज, सरल, सौम्य मूरत, आध्यात्म गुरुदेव।। (9)

अपार वात्सल्य की धनी, सुवत्सल गुरु माँ।
पवित्र उदारभावी सदा, छोटी श्री सुवीक्ष (गुरु) माँ।। (10)

बीस वर्ष तक सतत रहे, गुरु सेवा में लीन।
ब्र. सोहन दादाजी, संघ सेवा में प्रवीण।। (11)

-ॐ जय जय जय गुरुदेव-

कनक गुरु की चरण रज प्राप्त करूँ

रचयित्री-दीपिका एन. शाह

(चालः कभी प्यासे को पानी....)

मैं शरण नाथ/प्रभु, तेरी लिया ही करूँ।
नीर भक्ति का पावन..., पीया ही करूँ.....।।(1)
मैं चरणों में बस, तेरी सेवा करूँ...।
चरण रज को पाकर...., जीवन धन्य करूँ....।।
देखा तुमसा कहीं...., कोई ज्ञानी नहीं....।
देखा तुमसा कहीं....वीतरागी नहीं....।
नैन सोये या जागे[2]....तेरा ही दर्श हो....।
तेरा जीवन बने...मेरा आदर्श हो....।।
मैं शरण नाथ....। नीर भक्ति....।।
मौत को भी चुनौती...दिया ही करूँ....।
अंतिम घड़ी (समय) में...मैं तेरी शरण ही रहूँ....।।
यथार्थ स्वरूपी....संत शिरोमणि,....।
मेरे तो आराध्य....प्रभु आप ही हो....।।
तेरे महान् गुणों की....मैं पूजा करूँ....।
गुरु भक्ति से मेरा....जीवन धन्य करूँ....।
परम आशीष सदा[2]....मुझ पर बना रहे....।
''वन्दे तद्गुण लब्ध्ये''....भाव मेरे रहे....।
मैं शरण नाथ.....। नीर भक्ति का.....।।

-ॐ जय जय जय गुरुदेव-

सेवाभक्ति स्वरूपा आदर्श नारी (मातृ) शक्ति

(चालः 1.कोमल है कमजोर नहीं... 2.भातुकली...)

कोमल हैं दुर्बल नहीं तू, सेवा-भक्ति रूपा नारी है।
तीर्थंकर तक की जननी तू, पालन पोषण करने वाली है।। (स्थायी)
मानव जाति की प्रथम गुरु, तेरा गौरव न करे है मानव।
भोग उपभोग की सामग्री माने, भ्रूण हत्या से ले रेप (बलात्कार) तक।
धर्म तक में भेदभाव करे, भोग-उपभोग किन्तु करे।। (1)
नारी भी नारी की अरि है, तो भी जगत् पूज्या आर्या है।
सीता, चन्दना, अंजना, मैना, राणीमदालसा से ले जीजाबाई।
लक्ष्मी-राणी दुर्गाबाई, मीरा, क्यूरी मेडम से मदर टेरेसा।। (2)
आहारदात्री सुजाता, चन्दना सती सम, आदर्श अभी भी है नारी।
आहार बनाना व आहार देना, पुरुष से अधिक करे नारी-शक्ति।
नन्दा देवी नेहा दृष्टि देवी, इस हेतु आदर्श मातृ शक्ति।। (3)
श्रीसंघ चातुर्मास कनक सूरी की, तन मन धन से सेवा भक्ति।
तथाहि कॉलोनी की नारी शक्ति, स्वग्राम नन्दौड़ में प्रवृत्ति।
ऐसी नारीजाति ही आदर्श होती, उन्हें ही श्रेष्ठ माने ''कनकनन्दी''।। (4)

पुस्तक समीक्षा-

जैन धर्म की अभी की समस्याएँ एवं समाधान

लेखक-''आचार्य श्री कनकनन्दी जी''

1. **बोली (नीलामी) प्रदर्शन, याचना, निदानयुक्त धर्म**- संसार वृद्धि का कारणः धन-जन-मान भीड़ संग्रह हेतु किया गया बाह्य धर्म मात्र दिखावा है। यथार्थ धर्म मार्ग छोड़कर भौतिक निर्माण हेतु ख्याति, पूजा, लाभ, प्रदर्शन के लिये बोली करना या करवाना संसार वृद्धि का कारण ही है। यह दान नहीं है एक तरह से नीलामी है जो आगमोक्त नहीं है।

2. **श्रावक का मुख्य धर्म दान और पूजा**- दान-पूजा के बिना श्रावक नहीं

है। बोली (नीलामी) दान की श्रेणी में नहीं आती है। आगमोक्त दान-श्रेष्ठतम आय का चौथा (¼) मध्यम छठा (1/6) एवं जघन्य दसवाँ (1/10) हिस्सा स्वैच्छिक दान ही यथार्थ दान व पुण्य वृद्धि का कारण है।

3. प्रवचन का स्वरूप-महापुरुषों, गुरुओं की उत्तम वाणी सम्पूर्ण विश्व, प्राणी मात्र के हित के लिये होती हैं। प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन, प्रकृष्ट ज्ञान। स्व-पर का भेद जानते हुये आत्म तत्त्व में लीन रहना, आत्म तत्व की ही चर्चा करना। हित-अहित का विवेक होना। यथार्थ धर्म स्वरूप को बताते हुए सदैव सम्यक्त्व का ही बोध कराये। महापुरुष संसार संबंधी दुःख दूर करने के लिये व आत्म तत्त्व की उपलब्धि के लिये ही उपदेश देते हैं।

4. लक्षण के साथ जीना सिखाता है दशलक्षण पर्व-आचार्य श्री कनकनंदी बार-बार यही बताते हैं कि धर्म प्रायोगिक होता है। धर्म आचरण, व्यवहार में होना चाहिये। धर्म सतत होना चाहिये सिर्फ पर्व के दस दिन ही नहीं। पर्व तो धर्म को प्रायोगिक रूप देने का माध्यम है। पर्व के माध्यम से दस लक्षणों को जानकर उसके अनुरूप ही आचरण में लाये।

ख्याति, पूजा, लाभ, वर्चस्व, प्रतिष्ठा, दिखावा, याचना, क्रोध-मान-माया-लोभ, ईर्ष्या, निंदा, घृणा, तृष्णा से परे होना चाहिये। धर्म पालन का उद्देश्य, परमलक्ष्य (मोक्ष-लक्ष्मी) को पाना है। धर्म के दश लक्षणों को प्रायोगिक रूप में मनाना। आत्म-विशुद्धि के लिये धर्म है।

5.प्रवचन-प्रवचन ही आगम है। जो सर्वज्ञ देव द्वारा कथित सत्य व गणधर द्वारा रचित है। प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन है। प्रवचन स्व-पर प्रकाशी होता है। प्रवचन पंथ-मत, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण से रहित आत्म-तत्त्व की ही चर्चा व आत्म-ज्ञान की ही कथा होती है। प्रवचन लोकानुरंजन, मनोरंजन नहीं है। सम्पूर्ण जीवों के (प्राणीमात्र) के सर्वोदय हेतु है। प्रवचन अर्थात् धर्म के संविधान का वर्णन (आगम का वर्णन) यही यथार्थ प्रवचन है।

6.''समता-परमो-धर्म'' ध्यान व शांति-समता ही परम धर्म है। समता में ही गर्भित है परम आगम का ज्ञान। रागादि भाव रहित शुद्ध परिणाम (भाव) ही समता है। तप-त्याग, नियम, ध्यान-अध्ययन, संयम-साधना, परीषह-जय, वैराग्य,

निस्पृहता, आदि समस्त महान् गुण समता के ही रूप हैं। बाह्य तप-त्याग सरल है परन्तु समता में रहना कठिन है।

समता रहित होने पर पूरे आगम का ज्ञान व्यर्थ है। और समता सहित न्यूनतम ज्ञान, अल्प तप-त्याग से भी मोक्ष तक की प्राप्ति होती है। अतः सदैव समता में रहे।

विशेषः आचार्य भगवन् ''श्री कनकनन्दी गुरुदेव'' सदैव सहज, सरल, साम्य-समता भाव में ही रहते हैं।

7. साधु बने सिद्धि हेतु (निर्वाण हेतु) न कि प्रसिद्धि हेतु (साधु का लक्ष्य सिद्ध बनना न कि प्रसिद्धि पाना):- समता, शांति व आत्मविशुद्धि बिना लाखों-करोड़ों भव के तप-त्याग से भी कर्म निर्जरा नहीं, वही कर्म निर्जरा आत्म-ध्यानी, आत्म-ज्ञानी साधु अन्तर्मुहूर्त में कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः सदैव आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। समस्त बाह्य आडम्बर धन-जन-मान, ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, फोटो, गाजा-बाजा, माईक-मंच, पाण्डाल-पत्रिका, होर्डिंग, रागादि भाव से शून्य, अनात्म भावों का त्याग कर निज शक्ति का अनुभव करते हैं। स्व-पर कल्याणी बन आत्म-तत्त्व में लीन रहना ही मुख्य ध्येय है।

8. बाह्य विरक्ति का मुख्य कारण (आकिंचन्य से त्रैलोक्याधिपति बनना): आकिंचन (अपेक्षा-उपेक्षा से रहित) भाव-स्वशुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य मेरा किंचित मात्र नहीं है। स्व-आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त सभी का विसर्जन कर मैं भगवान् बनूँ (आचार्य कनकनन्दी जी) राग-द्वेष, मोह, भेदभाव, ख्याति, पूजा-लाभ-प्रसिद्धि, वर्चस्व आदि को परीषह (उपसर्ग) मानकर उसे उत्साह, समता, निस्पृहता से जय करूँ। आत्म साधक बन एक उच्छ्वास में कर्म नाश कर सिद्ध पद प्राप्त करूँ।

9. लौकिक जन संसर्ग असंयम का कारणः-कुसंगति पाप को बढ़ाती है धर्म का विध्वंस करती है। दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन पुरुष भी दोष को प्राप्त करते हैं। दुर्जन की कम समय की संगति भी विस्तृत सद्गुण को नष्ट कर देती है। निर्दोष को सदोष बना देती है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र में भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में भी विशिष्ट भ्रष्ट हैं। अर्थात् अति भ्रष्ट हैं। योग्य पुरुष कुसंगति से डरते हैं। परन्तु क्षुद्र प्रकृति के मनुष्य दुर्जनों से इस रीति से मिलते-जुलते हैं मानो वे इनके कुटुम्ब के ही हैं।

समीक्षक-दीपिका शाह
गलियाकोट पुनर्वास कॉलोनी

ज्ञानी-ध्यानी कनक गुरु की करूँ वन्दना

-खुशी जैन सुपुत्री राजेश कुमार जैन

(चालः-कल हो ना हो....)

ज्ञानी-ध्यानी गुरु की मैं करूँ वन्दना।
तारणहारी गुरु की करूँ अर्चना।।

हर क्षण करे, आत्मा का ध्यान।
आत्मकथन, आत्मरमण।

हो...गुरु के पास जो आये, गुरु दर्श से खुश हो जाये।
कनक गुरु के काव्यों को पढ़कर नित ही गुरु गुण गायें।।

ऐसे गुरु का मेरा नमन
अभिनन्दन, अभिवन्दन।

हो...एकान्त में रहते गुरुवर, शोध-बोध करते गुरुवर
सत्यग्राही, स्वावलम्बी, ध्यान योगी गुरुवर।

सत्य शिवं सुन्दरं को ही धरे
उस पर चले।

हो माँ जिनवाणी के दुलारे, भोले कनक गुरु प्यारे
बाल स्वरूप मुस्कान युक्त अतीव हैं ये निराले।

गुरु चरणों में 'खुशी' का नमन
अभिनन्दन, चरणों में वंदन।

हो...ऐसे गुरु को पाकर, चरणों में शीश झुकाऊँ
गुरु आशीष से ही मैं तो गुरु सम बन जाऊँ।

ये निस्पृही गुरु, ये ज्ञानी गुरु
विज्ञानी गुरु, स्वाध्यायी गुरु।

पतितपावन जैनधर्म

स्वरूप प्राप्ति हेतु सर्वसाधना-अन्यथा सभी व्यर्थ...

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. ओडिसी (नृत्य सह)... 2. श्री रामचन्द्र कृपालु ... 3. सायोनारा... 4. दोहा छन्द... 5. राजास जी महाली... 6. जीना यहाँ मरना यहाँ... 7. जाने कहाँ गए वो दिन (शिवरञ्जनी)... 8. तुम ही मेरा उद्धार करो...)

एक ही मेरा लक्ष्य है... एक ही मेरा काम...
एक ही मेरा प्राप्य है... एक ही मेरा धाम ... आत्मन्... (ध्रुव)

इस हेतु ही करूँ ज्ञान... इस हेतु ही ध्यान...
इस हेतु ही करूँ तप... इस हेतु ही त्याग...

वह है मेरा मोक्ष लक्ष्य... वह ही प्राप्य व काम...
वह ही मेरा परम धाम... इस हेतु ज्ञान से ले त्याग...

इस हेतु ही आत्मश्रद्धा... तदनुकूल ही ज्ञान...
दोनों युक्त मेरी चर्या... अन्य सभी त्याग...

इस हेतु ही आत्मशुद्धि... सत्य साम्य शान्ति...
निस्पृह निराडम्बर वृत्ति... एकान्त मौन ध्यान...

ख्याति पूजा लाभ रिक्त... वर्चस्व रहित...
दीन-हीन-दम्भ त्याग... इच्छा-निदान रहित...

इह-पर लोक भोग रिक्त... राग द्वेष (मोह) रहित...
ईर्ष्या तृष्णा घृणा रिक्त... ढोंग पाखण्ड रहित...

धन जन मान इच्छा रिक्त... चिन्ता द्वन्द्व रहित...
संकल्प विकल्प रिक्त... पर-विभाव रहित...

नहीं तो तप व त्याग... व्यर्थ मनन ध्यान...
व्यर्थ है स्वाध्याय चिन्तन... व्यर्थ श्रमण धर्म...

अतः सभी आत्म हित हेतु... त्याग अनात्म हेतु...
सच्चिदानन्द स्वरूप... 'कनक' का निज रूप...

ग.पु. कॉ. सागवाड़ा, दि. 6/4/2020, रात्रि 10.42

संदर्भ-

लक्ष्मी का स्वभाव

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कंभते।
चैतन्य मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव दत्तेऽधताम्।
चापल्यं चपलेव चुंबति दवज्वालेव तृष्णा नय-
त्युल्लासं कुलयंगनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति।।(73) सिंदूर प्र.

लक्ष्मी नीच जनों की तरफ ही गमन करती है। जिस प्रकार नदी का बहाव नीचे की तरफ होता है वैसे ही लक्ष्मी का स्वभाव है। फिर लक्ष्मी क्या करती है? यह आत्मा के ज्ञान रूप विवेक को नाश कर डालती है तथा मानव को अचेतन कर देती है, जैसे निद्रा आ जाने पर विवेक (ज्ञान) नहीं रह जाता है। जिस प्रकार मानव मदिरा का पान कर नशे में डूब जाता है उसको धर्म और अधर्म का विवेक नहीं रह जाता है उसी प्रकार लक्ष्मी के घर में आने से मानव दारू (शराब) पिये हुए के समान धन मद में डूब जाता है अथवा मदोन्मत्त हो जाता है। यह लक्ष्मी मानव को धूंआ के समान अन्धा बना देती है। जैसे कि मेघों में बिजली चमकती है और नष्ट हो जाती है उसी प्रकार चंचल होती है। यह लक्ष्मी तृष्णा और लोभ कषाय की वृद्धि करती है जिस प्रकार की जंगल में लगी हुई अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है। लक्ष्मी अस्थिर चित्त होने से स्वेच्छा से विचरण करती है। जिस प्रकार एक वेश्या एक पति में स्थिर न होकर अन्य-अन्य पुरुषों के साथ अपनी इच्छा से भ्रमण करती रहती है उसी प्रकार यह लक्ष्मी किसी एक की नहीं होती है वरन् यत्र-तत्र भ्रमण करती रहती है। इसलिए इस लक्ष्मी के राग का त्याग कर चिरस्थायी मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे पुनः अंधे के समान आचरण न करना पड़े।

धन के दोष

दायादा स्पृह्यंति तस्कर गणा मुष्णाति भूमी भूजो।
गृह्णांति छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात्।
अंभः प्लावयति क्षितौ विनिहितः यक्षा हरन्ते हठात्।
दुर्वत्तास्तनया नियंति निधं धिग्बह्वाधीनं धनम्।।(74)

धन के दोषों को बताते हुए कहते हैं कि धन की बहुत से लोग इच्छा करते हैं। गोत्रीय जन पिता, पुत्र इत्यादि हैं वे भी धन की इच्छा करते हैं कि यह धन मुझको मिले। चोरों के समूह इस धन की इच्छा करते हुए चोरी कर ले जाते हैं फिर राजा लोग इस धन को मायाचारी छल करके छापा मारकर या दोषारोपण कर दुःख देकर ले जाते हैं। तथा एक क्षण में अग्नि जलाकर राख कर देती है और एक क्षण में पानी बहाकर नष्ट कर देता है अथवा पानी की बाढ़ आने पर धन बहा चला जाता है। जिस धन को तिजोरी में या भूमि में रखा जाता है उसको व्यंतरादि देव जबरन कर ले जाते हैं। दुराचारी पुत्र पौत्र से विनाश को प्राप्त हो जाता है। अतः जिस धन के पीछे इतने दोष उपस्थित हैं उस धन को धिक्कार है। चोर, राजा, अग्नि, पानी आदि से तो धन नष्ट होता ही है परन्तु पुत्र पौत्रादि के व्यसनी होने से धन के स्वामी को धन जाता हुआ देखकर बहुत दुःख होता है जिससे हाय-हाय कर कहता है कि मेरी संपत्ति को नष्ट किये देते हैं।

धन ही मोह मूर्च्छा का उत्पादक

नीचस्याऽपि चिरं चटूनि रचयंत्यायांति नीचैर्नतिम्।
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणात्कीर्त्तनम्।
निर्वेदं न विदंति किंचिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे।
कष्टं कि न मनस्विनोऽपि मनुजा कर्वुति वित्तार्थिनः।।(75)

चतुर मानव द्रव्य की इच्छा रखने वाला किन-किन कष्टों का सामना नहीं करता है, किन-किन कष्टों को सहन नहीं करता है? सभी दुःखों को सहन करता है, धनिक जो निर्गुण, दुराचारी, दया, क्षमादि गुण रहित हैं उनका धन का लोभी मानव नाना प्रकार के मीठे वचनों से चतुराईपूर्वक गुणगान व स्तवन करता है। नीच व निर्गुण मानवों को धन के कारण नमस्कार करता है। अकृतज्ञ ऐसे स्वामी का खेद न करता हुआ दास होकर सेवा चाकरी करता है अथवा झूठे बर्तन धोना, कपड़े धोना, घर का कार्य करना, हाथ पैरों का मर्दन करना, बोझा उठाना, ले जाना और आज्ञा में तत्पर रहना इत्यादि कार्यों को करता हुआ रंचमात्र भी खेद नहीं करता है। इस तरह यह धन नीच कर्म करवाता है और मोह को उत्साह देता है।

उत्प्रेक्षालंकार का प्रयोग करते हुए लक्ष्मी का स्वभाव कहते हैं

लक्ष्मीः सर्प्पति नीचमर्णवपयः संगादिवांभोजिनी,-
संसर्गादिव कंटकाकुलपदा न क्वपि धत्ते पदम्।।
चैतन्यं विषसन्निधेरिव नृणामुज्जासयत्यंजसा।
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्यं तदस्या फलम्।।(76)

लक्ष्मी नीच मनुष्यों की तरफ को जाती है। कैसे? उत्प्रेक्षते-समुद्र के पानी के संगम से नीचे स्थान की तरफ को गमन करती है। फिर लक्ष्मी किसी भी एक स्थान को स्वीकार नहीं करती है। किसके समान? कमलिनी के संयोग के समान। पैर में चुभे हुए काँटे के समान। जिस किसी के पैर में काँटा चुभा होता है उसको एक स्थान पर चैन नहीं पड़ता है। उसी प्रकार लक्ष्मी आत्मा के विवेक गुण का शीघ्र ही नाश कर डालती है। विष के सन्निधान होने के समान। लक्ष्मी का और विष का एक समुद्र स्थान है इसलिये धर्मात्मा विवेकीजनों को चाहिये कि वे इस लक्ष्मी का सुदपयोग जिनमंदिर, शास्त्रों के निर्माण कार्य, चतुर्विध संघ की रक्षा करने, सिद्ध क्षेत्र व तीर्थ क्षेत्रों के निर्माण और जीर्णोद्धार करने में व्यय कर सफल बनावें।

कथा

अगदेश में धारापुर नाम का एक विशाल नगर है उसमें सुन्दर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी मदनवल्लभा नाम की पट्टमहिषी थी। उसने दो पुत्रों को जन्म दिया जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र का नाम कीर्तिपाल और लघुपुत्र का नाम श्रीपाल था। राजा पर स्त्री को नहीं चाहता था स्वस्त्री में ही संतोष करता था। एक दिन कुलदेवता ने कहा कि हे राजन्! तुम्हारे ऊपर विपदा आने वाली है। यह सुनकर राजा ने कहा कि पूर्वोपार्जित कर्मों का विपाक फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा उसको कोई नहीं रोक सकता है। कहा भी है कि-

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणेषु धीरत्वम्।
तं भुवनत्रय तिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्।। (1)

जो सम्पदा के होने पर भी हर्षित नहीं होते हैं और लक्ष्मी के नाश होने पर

खेद नहीं करते हैं और संग्राम को पाकर भी जो अपनी धैर्यता को नहीं छोड़ते हैं वे मानव तीनों लोकों के तिलक होते हैं। ऐसे पुत्र को जन्म देने वाली माता धन्य होती है। ऐसी माता कोई बिरली ही होती है। अतः बाँधा हुआ कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकता है। इस प्रकार मन में विचार कर प्रधान को राज्य भार सौंपकर आप आपने परिवार सहित परदेश जाने को निकला। रास्ते में रात्रि को मुकाम किया वहाँ पर रात्रि में चोरों ने सब धन माल लूट लिया। अब राजा एक निर्धन अवस्था और असहाय रूप में अपने को अनुभव करता हुआ भी धैर्यता को नहीं छोड़ता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था। राजा विचार करता है कि अपने कर्म का उदय आया है उसका फल भोगना ही है। परदेश में पहुँचने के बाद पुण्यकर्म का उदय आया और राजा अपने देश की तरफ वापिस आकर अपने राज्य को प्रधान से वापिस लेकर सुखपूर्वक राज्य को भोग करने लगा। अन्त में राजपाट सब त्यागकर चारित्र धारण कर समाधिपूर्वक मरण कर राजा स्वर्ग गया। इस प्रकार लक्ष्मी के वैभव की कथा कही।

दान का उपदेश

चारित्रं चिनुते विनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिम्।
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम्।।
पुण्यं कंदलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमात्।
निर्वाणाश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनम्।। (77)

जो धन न्याय पूर्वक कमाया गया है उसको सुपात्र में देने से चारित्र की वृद्धि होती है, विनय गुण का प्रकाश होता है। मति, श्रुत जो सम्यग्ज्ञान है उनकी उन्नति करता है।

प्रशमभाव का पोषण करता है। तपश्चरण की वृद्धि करता है और आगम व शास्त्रों के पठन-पाठन में मन को प्रबल करता है। पुण्य रूपी वृक्ष की वृद्धि में यह दान खाद्यान्न की तरह वृद्धि करने वाला है। पापों का नाश कर देता है, स्वर्ग की संपदा को देता है और परंपरा से मोक्ष लक्ष्मी को देता है। सुपात्र के लिये दिये गये दान से सब वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

दान के गुण

दारिद्र्य न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालंबते।
नाऽकीर्ति र्न पराभवोऽभिलषते न व्यधिरास्कंदति।।
दैन्यं नाद्रियते द्रुनोति न दरः क्लिश्नंति नैवापदः।
पात्रे या वितरन्तयनर्थदलनं दानं निदानं श्रियाम्।। (78)

जो मानव सुपात्र में दान देता है उसके घर में दरिद्रता नहीं आती है। वह दुर्भाग्य को भी प्राप्त नहीं होता है। जो सुपात्र में दान देता है वह मानव अयश को प्राप्त नहीं होता है और पराभव उसकी इच्छा नहीं करता है। दाता के घर में व्याधियाँ दुःख नहीं देती हैं। बिना प्रयोजन जो दुःख के कारण होते हैं वे सब दाता को प्राप्त नहीं होते हैं।

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते।
प्रीति श्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगताऽऽलिंगति।।
श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गीयभोग स्थिति।
मुक्तिर्वांछति यः प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थं मर्थनिजम्।। (79)

जो मानव श्रद्धावान् भक्ति सहित कल्याण कारक न्यायपूर्वक कमाये गये धन को सत्पात्र में देते हैं, उनको लक्ष्मी चाहने लगती है अथवा उन्हें लक्ष्मी छोड़कर नहीं जाती है। बुद्धि भी उस दाता की खोज करती है, कीर्ति दाता का अवलोकन करती है। दाता से सब प्रेम करते हैं। दाताओं का शरीर दान के प्रभाव से निरोग रहता है। कल्याण की परम्परारूप अभ्युदय प्राप्त होता है। स्वर्ग के अभ्युदय को अनेक बार प्राप्त होता है फिर मोक्ष लक्ष्मी भी उसको चाहती है। अतः गृहस्थों को निरन्तर दान देते रहना चाहिये।

तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरूत्कंठिता श्रीः।
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्त्व ऋद्धिः।।
पाणौ प्राप्त त्रिदिवकमला कामुकी मुक्ति संप,-
त्सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः।।(80)

जो भव्य प्राणी अपने बहुत धन को सप्त क्षेत्रों में दान देता है उसके निकट

में रत्नत्रय रूप समाधि निवास करती है। कीर्ति दासी के समान हो जाती है। (श्रीः) (धन, धान्य, सोना, चाँदी) आदि सम्पदा है वह दाता से मिलने के लिये उत्साहित होती है। बुद्धि है वह स्नेहवान होती है। चक्रवर्ती की विभूति अपने आप ही आकर समाने स्थित हो जाती है। स्वर्गों में निवास करने वाली लक्ष्मी दाता के समक्ष स्वयं आ जाती है। मुक्ति रमा जिस प्रकार से पीड़ित स्त्री अपने पति के निकट जाने को उद्यत होती है उसी प्रकार दाता के सम्मुख आती है। यह सब सप्त क्षेत्रों में दिये गये दान की ही महिमा है।

तप का उपदेश

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल,-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमंत्राक्षरम्।।
यत्प्रत्यूहतमः समूह दिवसं यल्लब्धि लक्ष्मीलता-
मूलं तद्विविधं यथाविधि तपः कुर्वीत स्पृहः।। (81)

तप दो प्रकार का होता है एक अंतरंग तप और दूसरा बाह्य तप। अंतरंग व बाह्य तप के छः छः भेद हैं। जिन्होंने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है वे वीतस्पृह कहे जाते हैं। और जो निदान बंध रहित हैं वही इन दो प्रकार के तपों को करते हैं तपः पूर्व भव में अर्जित किये गये ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों का नाश करता है कर्मरूपी पर्वत को नाश करने में तप रूपी वज्र ही सहायक होता है। कर्म रूपी अग्नि प्रज्वलित होकर ही गुण रूपी वन को जलाती है उसके लिए पानी के समान शान्त करने वाला यह तप ही है। विषय विष इन्द्रियों के समूह को नाश करने के समान शान्त करने वाला यह तप ही है। विषय विष इन्द्रियों के समूह को नाश करने में यह तप मंत्राक्षर के समान है।

सर्प रूपी विषय विष की वेदना को शांत करने के लिये यह तप मंत्राक्षर के समान है। फिर यह तप विघ्न रूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के उदय के समान है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार व्याधियों का तप के द्वारा नाश हो जाता है। यह तप गुण रूपी लताओं की जड़ के समान है। इसलिए नाना प्रकार के तपों को अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए।

तप की महिमा

यस्माद्विघ्न परंपरा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते।
कामः शाम्यति दाम्यतींयद्रिगणः कल्याममुत्सर्पति।।
उन्मीलंति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं च य कर्मणाम्।
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्नकिम्।। (82)

क्या यह तप प्रशंसा का कारण नहीं है? अवश्य ही है। यह प्रशंसा का कथन करने वाला है। तप करने से सब प्रकार दुःखों का नाश हो जाता है, दुःखों की श्रेणियाँ भी नष्ट हो जाती हैं! तप के प्रभाव से देवों के समूह तपस्वी के भक्त बन जाते हैं। मदन राजा का दमन होता है जिससे पंचेन्द्रियों के विषय का निरोध हो जाता है अथवा दर्प नष्ट हो जाता है। तप से कल्याण तथा पुण्य का विस्तार होता है।

अनेक ऋद्धि प्राप्त होती है। तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण इन्द्र आदि की विभूतियाँ तप का ही फल है। तप से अष्ट कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठों कर्मों का नाश हो जाता है तथा मोक्ष रमा से मिलन स्वेच्छापूर्वक होता है। इसलिए सब प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर निदान बंध न करते हुए तपश्चरण करना ही भव्यों जीवों के लिए हितकर है।

कांतार न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं बिना।
दावाग्निं न यथेतरः शमियतुं शक्तो विनांभोधरम्।।
निष्णातः पवनं बिना निरसितुं नान्यो यथांभोधरम्।
कर्मोघं तपसा बिना किमपरं हुर्त्तं समर्थस्तथा।। (83)

जंगल को जलाने में अग्नि ही समर्थ है दूसरा नहीं और अग्नि को बुझाने में मेघों की वर्षा ही महत्व रखती है। मेघों का नाश करने में पवन ही समर्थ होता है पवन छोड़कर दूसरा नहीं। उसी प्रकार कर्म के समूह को नाश करने में तप ही सामर्थ्य रखता है तप के अभाव में दूसरा कोई सामर्थ्यवान नहीं हो सकता है। इसलिए अन्य सब कार्यों को छोड़कर हे भव्य जीवों! सम्यक्त्वाराधना करो।

संतोष स्थूलमूलः प्रशम परिकरः स्कंध बंध प्रपंचः।
पंचाक्षीरोधशाखः स्फुदभयदलः शील संपत्य प्रवालः।।
श्रद्धाम्भः पुरसेकाद्विपुल कुलबलैश्वर्य सौंदर्य भोगः।
स्वर्गादि प्राप्ति पुष्पः शिवसुख फलदः स्थात्तपः पादपोयम्।। (84)

तप रूपी वृक्ष ही मोक्ष सुख रूपी फल को देता है। फिर कैसा है? तप पादपः मूर्च्छा त्याग रूप मजबूत जिसकी जड़ है। क्षमा, दया, प्रशम, वात्सल्य, मार्दव आर्जवादि गुण ही परिवार है। आचारादि ग्यारह अंग चौदह पूर्व इत्यादि विस्तारपूर्वक रचना की गयी है वही पुष्ट महामूल है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना ही मोटी डालियाँ हैं। अत्यंत देदीप्यमान अभयदान ही जिसके पत्ते हैं, अथवा विनय, दया, क्षमा, संयम, शील और महाव्रतादि गुण ही जिसके पत्ते हैं और ब्रह्मचर्य ही जिसके कोमल नवीन पत्ते हैं। विस्तार को प्राप्त हुआ है जिसका कुल, बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य ही विस्तार को प्राप्त हुआ है ऐसे भोग हैं। फिर कैसा है? देवलोक नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, पाँच पुष्पोत्तर विमानों के वैभव को प्राप्त होना ही जिसके फूल हैं। इस प्रकार यह तप रूपी वृक्ष ही मोक्ष फल को देने वाला है।

नंदिषेण मुनि की कथा (निदान का कुफल)

नंदिषेण मुनि ने बारह हजार वर्ष तपस्या की और अंतिम अवस्था में निदान किया कि मैं अगले भव में अनेक स्त्रियों का स्वामी होऊँ। ऐसा निदान बंध कर अनशन तप कर अन्त में समाधि मरण करके देव लोक में गया और स्वर्ग का सुख भोगा। निदान के कारण वह समुद्रविजय का छोटा भाई वसुदेव हुआ और कामदेव पद को प्राप्त होकर अनेक स्त्रियों के साथ विवाह किया। उसने किए गए तप का फल भोगा और अन्त में शुभ भावों में मरण किया जिससे देवलोक में गया। अतः हे भव्य जीवों! तुम तपाराधना को निरंतर करो यही इस दुर्गंधमय सप्तधातुओं से बने शरीर का सार्थकपना है। तपकर्म करके कर्मों की निर्जरा करके सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर प्राप्त होने वाली दशा मोक्ष है जिसके पीछे जीव की कोई भी अवस्था शेष नहीं रह जाती है।

शुभ भावों का उपदेश

नीरागे तरुणी कटाक्षितमिव त्याग व्यापेत प्रभौ।
सेवाकष्टमिवोपरोपणामिवांभो जन्म नामश्मनि।।
विष्वग्वर्षमिवोषरक्षितितले दानार्हदर्चातपः।
स्वाध्यायाध्ययनादि निःफलमनुष्ठानं विना भावनाम्।। (85)

सम्यग्दर्शनादि भावों के बिना अथवा शुभ भावों के अभाव में चतुर्विध संघ को दान देना, अरहंत व सिद्ध भगवान् की पूजा-भक्ति करना, तपश्चरण करना, शास्त्र का अध्ययन करना आदि सब शुभ कार्य निष्फल होते हैं। किसके समान? विरागी पुरुष के समान। विरागी पुरुष को नव यौवन स्त्री कटाक्ष क्षेपण कर अपनी तरफ आकर्षित करना चाहती है तो उस पर उसके कटाक्षों का प्रभाव नहीं पड़ता। कटाक्ष की क्रिया निष्फल हो जाती है। फिर किसके समान? कृपण मालिक के समान जैसी किसी धनिक कृपण मालिक की धनार्थी जब सेवा सुश्रुषा भाव से करते हैं परन्तु वह कृपण एक नया पैसा भी उन्हें नहीं देता है जब सेवकों का सेवा चाकरी करना व्यर्थ ही हो जाता है इसी प्रकार भाव के बिना किए गए धार्मिक अनुष्ठान निरर्थक हो जाते हैं। किसके समान? पत्थर की लम्बी-चौड़ी शिला के ऊपर कमलवन लगाने की चेष्टा पुरुषार्थ करता है परन्तु कमल पत्थर पर कभी उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः उसका पुरुषार्थ करना निरर्थक ही रहा अथवा जैसा कि ऊषर भूमि में पानी की वर्षा का होना निष्फल होता है क्योंकि पानी के बसरने पर भी क्षार भूमि में पौधा उत्पन्न नहीं होता है और पत्थर पर भी बसरने पर भी पौधा उत्पन्न नहीं होता है तब पानी का बरसना निष्फल ही ठहरा। इस प्रकार शुभ भावों के अभाव के किए गये धार्मिक कार्य निष्फल हैं इसलिए भाव पूर्वक की गयी क्रिया ही फलीभूत होती है।

सर्व्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयाधित्सत्यघं मित्सति,
क्रोधं दित्सति दान शील तपसां साफल्यमादित्सति।।
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवांभोधेस्तटं लिप्सते,
मुक्ति स्त्री परिरिप्सते यदि जनस्तद्भावयेद्भावनम्।। (86)

यदि जीव सब वस्तुओं को जानने की इच्छा करता है अथवा पुण्य धर्म की इच्छा करता है या दया धर्म को धारण करने की इच्छा करता है अथवा पापों का नाश करने की इच्छा करता है, यदि क्रोध मान, माया और लोभ इन कषायों का नाश करने की भावना रखता है, यदि चार प्रकार का दान देने अथवा ब्रह्मचर्य पूर्वक तपश्चरण करने की इच्छा रखता है, यदि कल्याण के समूह को सुरक्षित रखना चाहता है, संसार रूपी समुद्र के किनारे को प्राप्त करने की इच्छा रखता है अथवा मुक्ति रूपी स्त्री के आलिंगन की इच्छा रखता है तो भावों में शुभ भावों की भावना करनी चाहिये। भाव के कहने से सम्यग्दर्शन पूर्वक जो भाव हैं उनकी मुख्यतया मोक्षमार्ग में है क्योंकि उसके बिना किये गये जप, तप, दान, पूजा संयमादि सफलता को प्राप्त नहीं होते हैं अपितु उनसे संसार की वृद्धि होने लग जाती है।

दानं पूजा शीलमुपवासो बहुविधमपि क्षपणमपि।
सम्यक्त्वयुक्तं मोक्षसुखं सम्यक्त्वं विना दीर्घ संसार।। (1)

चतुर्विध संघ व सप्त क्षेत्रों में दान देना, पंचपरमेष्ठी की पूजा करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, उपवासों को करना तथा और भी अनेकों शुभ कार्यों को करना, ये यदि सम्यग्दर्शन भाव से युक्त हैं तो ये सब कर्मों के संवर और निर्जरा का कारण हैं जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है और यदि ये ही अनुष्ठान मिथ्याभाव पूर्वक होते हैं तो संसार की वृद्धि कराने वाले होते हैं।

विवेक वन सारिणीं प्रशम शर्म संजीवनीम्।
भवार्णवमहातरींमदन दादमेघावलीं।।
चलाक्षमृगवागुरां गुरु कषाय शैलाशनिं।
विमुक्ति पथवेसरीं भजत भावनां किं परैः।। (87)

हे भव्य! शुभ भावों का सेवन कर! अन्य कष्टदायक अनुष्ठान जो शुभ भावना से रहित हैं उनसे क्या प्रयोजन? कैसे भावों का होना? विवेक-कृत्याकृत्य का ही जिसमें विचार रूप वन और उसको सिंचन करने वाली नहर के समान है। उपशम सुख को देने वाली संजीवनी और संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये महानौका के समान है।

पुनः कैसी है? कामदेव रूपी अग्नि (कामदेव के दर्प को) नाश करने में मेघों के समान हैं, चंचल इंद्रिय रूपी हरिणों को बंधन में डालने वाले जाल के समान है, महाविस्तारवाले कषाय रूपी पर्वत को भेदन करने वाले वज्र के समान ये शुभ भाव हैं। मोक्ष मार्ग में चलने के लिए घोड़ा या खच्चर के समान (जिस पर सामान रखकर ले लाया जाता है) शुभ भाव ही भार को लेकर चलते हैं इसलिए शुभ भावों को धारण करो। शुभ भावों को आचार्य ने गधे (खच्चर) या भारवाहक की उपमा देकर प्रतिबोध किया है।

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं।
क्रियाकांडं चण्डं रचितभवनौ सुप्त मसकृतं।।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं।
न चेत्वित्ते भास्तुषपवनवत्सर्वमफलम्।। (88)

बहुत न्याय पूर्वक कमाये हुए धन को सुपात्रों के लिये अनेक बार दिया और मात्र बड़ाई के लिये ही दिया किन्तु शुभ भाव नहीं हुए तब दान देना भी भाव के बिना निस्सार ही रहा। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का अनेक बार अध्ययन किया, 22 परीषहों को सहन किया परन्तु सम्यग्दर्शन रूप शुभ भाव नहीं हुए ये मात्र दुःख के ही कारण हुए। अतः उन्हें और पवन के दृष्टान्त के समान ही जानना चाहिये।

वैराग्य भावना का स्वरूप

यद सुभरजः पाथो दृप्तेंद्रिय द्विरदांकुशम्।
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनः कपि शृंखलं।।
विरति रमणी लीला वेश्म स्मरज्वरभेषजम्।
शिवपथरथस्तद्वैराग्यं विमृश्य भवाऽभयः।। (भवाऽभवः)।। (89)

हे मुने! उस वैराग्य का चिन्तन कर जिससे संसार के भय से मुक्त हो जावे। यह वैराग्य अशुभ भाव पाप कर्म रूपी धूली को धोने के लिये जल के समान है। मत्त इन्द्रिय रूपी हाथी को वैराग्य रूपी (संयमरूपी) अंकुश के लगने पर वे हाथी वश में हो जाते हैं। यह वैराग्य मदोन्मत्त मनरूपी हाथी को वश में

करने के लिये अंकुश के समान है अथवा बंदर के समान चंचल मन को बाँधने के लिये साँकल के समान है। मोक्ष रूपी रति के क्रीड़ा करने का स्थान वह वैराग्य ही है अथवा देश संयम व सकल संयम रूप चारित्र एवं विरति रूपी स्त्री का क्रीड़ा करने का घर है। पुनः कैसा है वैराग्यः कामदेव के मद ज्वर को नाश करने के लिये औषध के समान है। मोक्षमार्ग में चलने वालों के लिये वैराग्य रथ के समान है। उस वैराग्य का चिंतवन कर संसार के दुःखों से निर्भय हो आचार्य ने संसार में होने वाले भयों से मुक्त होने के लिए कहा है कि वैराग्य स्वीकार करो।

चंडानिलस्फुरितमब्दचयं दवार्चि
र्वृक्षवज्र तिमिर मंडलमर्क्कबिम्बम्।।
वज्रं महीघ्रनिवहं नयते यथांतम्
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समग्रम्।। (90)

जिस प्रकार प्रचण्ड वायु मेघों के समूह को उड़ाकर नष्ट कर देती है फिर दावाग्नि हरे-वृक्षों को नष्ट कर देती है। सूर्य उदय होकर अंधकार के समूह का नाश कर डालता है। जो पर्वत विशाल काय से खड़े हुए हैं उन पर्वतों के ऊपर जब बिजली पड़ जाती है तब बड़े-बड़े पर्वतों के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार वैराग्य की इतनी शक्ति है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को नष्ट कर देता है। इसलिये वैराग्य भावना का चिंतवन करो।

नमस्या देवानां चरण वर वस्या शुभ गुरो।
रतपस्यानिः सीम क्लमपद मुपास्या गुणवतां।।
निषद्यारण्ये स्यात् करणदम् विद्या च शिवदा।
विरागः क्रूरागः क्षपण निपुणोंऽतः स्फुरति चेत्।। (91)

यदि अन्तःकरण में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य स्फुरायमान है तो उसको देवों का स्वामीपना की प्राप्ति तो होती है परन्तु मोक्ष सुख की भी प्राप्ति होती है। जब वैराग्य युक्त मानव होता है तभी गुरुओं की सेवा चाकरी करने में तत्पर होता है, तपश्चरण करने के सन्मुख होता है जिससे मोक्ष सुख मिलता है। जो गुणों में श्रेष्ठ हैं ऐसे अरिहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों के गुणों में अनुराग और उनकी भक्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह

वैराग्य ही पाँचों इन्द्रियों के विषय की लम्पटता का निरोध करने में निपुण है। यदि मन में वैराग्य हो तो संसार जाल से प्राणी निकल सकता है। कैसा है वैराग्य? जो वैराग्य उस दुष्ट का नाश करने में चतुर है जिस राग ने जीवों को संसार भ्रमण जाल में फँसा रखा है जिससे कि गुरुओं का उपदेश मिलने पर भी प्राणी उस जाल से निकलने में समर्थ नहीं है।

वैराग्य के गुण

भोगान् कृष्ण भुजंग भोग विषमान् राज्यं रजः सन्निभम्।
बन्धुन् बंध निबंधनानि विषय ग्रामं विषाननोपमम्।।
भूतिं भूति सहोदरां तृणमिव स्त्रेणं विदित्वा त्यजं।
स्तेष्वा शक्तिमनविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान्।। (12)

संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय संबंधी विषय भोगों से जिस मानव का मन विरक्त हुआ है वही मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा सिद्धगति को प्राप्त करता है। क्या करता है? शब्द, रस, गंध, स्पर्श वर्णादि जो इन्द्रिय के विषय हैं उनको काले सर्प के समान दुःख के कारण जानकर उनसे आसक्ति का त्याग करता है। राज्य वैभव के स्वामित्वपना का त्याग उसी प्रकार कर देता है जैसे मानव पैर में लगी हुई धूल को वस्त्र से झाड़ कर दूर कर देता है अथवा पानी से धोकर साफ कर देता है। वह माता-पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि को बंधन में डालने वाले जानकर उनसे भी ममत्व छोड़ देता है। विषय सुखों को विष भोग के समान जानकर त्याग कर देता है। जिस प्रकार विष जिस भोजन में मिलाया गया है उसे कोई ग्रहण नहीं करता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय विषयों को विष मिश्रित जानकर त्याग देता है। वह ऋद्धियों के वैभव को जली हुई राख के समान जानकर छोड़ देता है जो स्त्रियों के समूह को भी पुराने जीर्ण घास के समान निस्सार जानकर छोड़ देता है अथवा स्त्रियों के प्रति मूर्च्छा भाव का त्याग कर देता है वह मानव निर्विकल्प निराकुल ऐसे मोक्ष मार्ग में रत होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

विद्युत् चोर की कथा (चोर से मुनि)

मगध प्रान्त पटना नगरी में सोमप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी

पटरानी का नाम सुशीला था। वह अनेक स्त्रियों में श्रेष्ठ थी। उसने अपनी कूख से पुत्र रत्न को जन्म दिया जिसका नाम विद्युत् कुमार था। विद्युत् कुमार माता-पिता की वृद्धावस्था में उत्पन्न हुआ था। कुमार पढ़ लिख कर सब विद्याओं में प्रवीण हो गया। राजा का अत्यन्त प्यारा पुत्र होने के कारण उसको पूर्ण स्वंतत्रता मिल चुकी थी जिससे वह नीच दुराचारी जनों की निरन्तर संगत करने लगा और चोरी की आदत पड़ जाने के कारण विद्युत् कुमार को अन्य दंड न देकर देश व घर से निकाल दिया था जिसके कारण वह पाँच सौ साथियों को लेकर यत्र तत्र चोरी करता फिरता था तथा उसी काल में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम चेलना था। चेलना रानी अपने गुणों में भारत में एक ही राजरानी थी। किसी विद्याधर ने राजा श्रेणिक महाराज से उस विद्याधर की पुत्री के विषय में चर्चा की कि वह राजकुमारी आपको चाहती है परन्तु उसका पिता भूमिगोचरी राजाओं को अपनी पुत्री नहीं देना चाहता है उसको आप शरण में ले लें तब अच्छा होगा। श्रेणिक महाराज ने कहा जो कि उस विद्याधर को जीत लेगा वह विशेष उच्च सम्मान को प्राप्त होगा। यह सुनकर जम्बूस्वामी ने जीतने का बीड़ा उठाया और सेनापति का बाना धारण कर सेना लेकर विजयार्ध की तरफ रवाना होकर विद्याधर राजा को जीतकर राजकुमारी सहित विद्याधर को लाकर राजपुर में राजा श्रेणिक के सामने खड़ा कर दिया। मार्ग में सुधर्माचार्य से भेंट हुई वहाँ जम्बू स्वामी ने उनके दर्शन कर यह नियम लिया कि मैं माता के दर्शन कर मुनि दीक्षा लूंगा। घर पहुंचकर माता से कहा कि हे माता! ''मैं कल जिन दीक्षा धारण करूँगा।'' यह सुनकर माता बोली बेटा! मैंने आपके लिये सुन्दर कन्या चुन ली है उसके साथ पाणिग्रहण कर कुछ दिन संसार का सुख भोगकर पीछे दीक्षा लेना। तब जम्बू स्वामी ने प्रत्युत्तर में कहा-किसकी शादी करना है? मैं तो कल दीक्षा लूँगा। अन्त में यही निश्चय हुआ कि पहले विवाह करो पीछे दीक्षा स्वीकार करो! यह सुनकर विवाह करने की स्वीकारता दे दी। रात्रि में चार सुन्दर कन्याओं के साथ शादी हो गयी। चारों नारी और माता बहुत प्रकार से समझा रही थीं कि विद्युत् चोर सेठ अरहदास के घर में अपने 500 साथियों सहित प्रवेश करता है। जम्बूस्वामी की माता घर के अन्दर जाती है जब विद्युत्चोर से भेंट हो जाती है तब वह उससे

बोली कि मेरा बेटा दीक्षा लेने जा रहा है यदि तू उसको रोक लेगा तो मैं जो तू चाहेगा उतना ही धन तुझे दूंगी। आज रात्रि के लिये मेरा भाई बनकर तू उसे समझा दे। यह सुनकर विद्युत् चोर कहता है यदि मैं जम्बूस्वामी को नहीं रोक सका तो मैं भी उसके साथ ही दीक्षा ले लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके जम्बूस्वामी के पास गया। श्रीमती बोली कि बेटा! यह तेरा मामा बहुत दिनों से परदेश गया था अब लौट कर आया है। यह सुन जम्बूस्वामी ने यथायोग्य विनय किया। विद्युत् चोर कहने लगा कि बेटा! यह क्या वार्तालाप चल रहा है? उसने जम्बूस्वामी को अनेक प्रकार से समझाया परन्तु जम्बूस्वामी ने एक नहीं सुनी और उत्तर में उन्होंने संसार की दशा का कथन किया तब विद्युत् चोर का और उनके साथियों का वैराग्य बढ़ता गया। प्रभात होते ही जम्बूस्वामी घर से निकले तो विद्युतादि चोर भी साथ ही चल दिये और सुधर्म स्वामी के पास सब ही दिगम्बर दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ साधु बन गये। जम्बूस्वामी दीक्षा लेकर संघ सहित विहार कर मथुरा उद्यान में स्थित हुए और क्षपक श्रेणि से आरूढ़ होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो कुछ दिन पश्चात् मुक्ति रमा के साथ पाणिग्रहण कर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। तदनंतर विद्युतादि मुनि वहीं चातुर्मास में रहे तब व्यंतर देवों ने संघ के ऊपर उपसर्ग किया जिसमें विद्युत् कुमार मुनि मरण कर सर्वार्थ सिद्धि गये शेष मुनि महाराज भी अपनी-अपनी भावना के अनुसार स्वर्गों में गये। आगे विद्युत् चोर एकभव को धारण कर मुक्ति को प्राप्त होगा। ऐसा जानकर हे भव्य जीवों! वैराग्य को स्वीकार करो।

मनुष्य जन्म पाने का फल

जिनेन्द्र पूजा गुरुपास्तिः सत्त्वानुकंपा शुभपात्र दानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि।। (93) (सिंदूर)

अठारह दोष रहित और अनंत चतुष्टय सहित वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी ऐसे जिनेन्द्र देव की पूजा करना, गुरुजनों की सेवा, वैयावृत्ति करना, प्राणी मात्र पर दया भाव रखना, किसी को दुःख नहीं देना, सुपात्र को दान देना, गुणवानों को देखकर हर्षित होना, गुणों को ग्रहण करना और सिद्धान्त शास्त्रों को एकाग्र चित्त से सुनना इन सब कार्यों को करना ही मनुष्य भव रूपी वृक्ष का फल है।

सातिशय पुण्यशाली निकट भव्य ही बनते ज्ञानी-वैरागी

(मुनि सकलव्रती बड़भागी भव भोगनतैं वैरागी)

(दीनहीन मोही कामी नहीं बनते ज्ञानी-वैरागी)

(चालः 1.गंगा तेरा पानी अमृत... 2.भातुकली...)

वैराग्य! तेरी अनन्त शक्ति, वचने अगोचर होय।
श्रद्धा प्रज्ञा सह निकट भव्य को, सच्चा अनुभव होय।। (स्थायी)

सातिशय पुण्यवान् निकट भव्य, (जब) आत्मा में विशुद्धभाव जगाये।
रागद्वेषमोह क्षीण करके वह, आत्मश्रद्धानज्ञान प्रगटाये।।
उससे उन्हें होता है स्वज्ञान, मैं हूँ निश्चय से शुद्धजीव।
अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, द्रव्यभाव नोकर्म रहित।। (1)

अनादिकालीन कर्म सम्बन्ध से, बना संसारी अशुद्धजीव।
चौरासी लक्षयोनियों में भ्रमा हूँ, पाया अनन्तानन्त दुःख।।
शरीर को मैं स्वस्वरूप माना, तन में 'अहंकार' 'ममकार' किया।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि को मेरी माना, भोग उपभोग में लीन रहा।। (2)

इस हेतु अनन्त जन्मा-मरा, पंचपाप सप्तव्यसन किया।
शत्रु मित्र भाई बन्धु कुटुम्ब हेतु, नानाविध पाप किया व दुःख सहा।।
इसका अनन्तवांभाग यदि मैं, आत्मकल्याण हेतु भी करता।
पूर्ण में ही मैं कर्मनाश कर, अक्षय अनन्त आनन्द पाता।। (3)

किन्तु रागद्वेषमोह की शक्ति से, पराभूत हो स्वयं को न जाना।
अनात्म वस्तु व विभाव के हेतु, संकल्प-विकल्प संक्लेश किया।।
अभी मैं महान् पुण्य उदय से, सच्चे देवशास्त्र गुरु के कारण।
स्ववैभव व पर-विभाव को जाना, जिससे हो! वैराग्य तुझे पाया।। (4)

ऐसा ज्ञान-वैराग्य युक्त पुण्यात्मा, संसार शरीर भोग से हो विरक्त।
राजा महाराजा चक्री के वैभव को, अनात्म व विभाव मान करे त्याग।।
निर्ग्रन्थ श्रमण समताधारी बन, ध्यान-अध्ययन में होते लीन।
एकान्त शान्त मौन निस्पृह होकर, आत्मोपलब्धि हेतु आत्म लवलीन।। (5)

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व, धन जन मान सम्मान शून्य।
संकल्प-विकल्प संक्लेश-द्वन्द्व परे, आत्मविशुद्धि आत्मशान्ति में लीन।।
इससे वे अष्टकर्मों को नष्ट कर, बनते शुद्ध-बुद्ध व परमानन्द।
अनन्तानन्त इन्द्र चक्री से भी अधिक, पाते आध्यात्मिक सुख वैभव।। (6)
अतः ज्ञानी वैरागी निर्ग्रन्थ श्रमण, इन्द्र चक्री से भी पूज्यमहान्।
दीनहीन मोही कामी न बनते वैरागी, शुद्ध बनने हेतु 'कनक' बना श्रमण।।
अन्तर विषय वासना वरते, बाहर लोक लाजमय भारी।
यातें परम दिगम्बर वेश धरे न सके दीन संसारी।। (7)
जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धर करन विविध विध देहदाह।
आतम अनात्म के ज्ञानहीन, जेजे करनी तन करन छीन।।

ग.पु.कॉ. 16-4-2020 प्रातः 9.14

(यह कविता दिनेशचन्द्र शाह के कारण बनी।)

संदर्भ-

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो, णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो।। (20) द्वा.अ.

मैं अकेला हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान-दर्शनरूप लक्षण से युक्त हूँ इसलिए शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है-ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार संयमी साधु को सदा विचार करते रहना चाहिए।

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो, णियकज्जवसेण वट्टंति।। (21) आ. कुन्दकुन्द

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बंधुजनों-इष्ट जनों का समूह जीव से संबंध रखनेवाला नहीं है। ये सब अपने कार्य के वश साथ रहते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि, मदो वि मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि, संसारमहण्णवे बुड्ढं।। (22)

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव के प्रति शोक करता है परंतु संसाररूपी महासागर में डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नहीं करता।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।

णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं।। (23)

यह जो शारीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान दर्शन ही मेरे हैं। इस प्रकार अन्यत्व भावना की चिंतन करो।

पंचविहे संसारे, जाइजरामरणरोगभयपउरे।

जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं।। (24)

जिन भगवान् के द्वारा प्रणीत मार्ग की प्रतीति को नहीं करता हुआ जीव, चिरकाल से जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पाँच प्रकार से संसार में परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पाँच प्रकार का संसार कहलाते हैं।

सव्वे वि पोग्गला खलु, एगे भुत्तुज्झिया हि जीवेण।

असयं अणंतखुत्तो, पुग्गलपरियट्टसंसारे।। (25)

पुद्गलपरिवर्तन (द्रव्यपरिवर्तन) रूप संसार में इस जीव ने अकेले ही समस्त पुद्गलों को अनंत बार भोगकर छोड़ दिया है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते, कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।

उग्गाहणेण बहुसो, परिभमिदो खेत्तसंसारे।। (26)

समस्त लोकरूपी क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओं के द्वारा इस जीव ने क्षेत्र संसार में अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ-क्षेत्रपरिवर्तन के स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन की अपेक्षा दो भेद हैं। समस्त लोकाकाश में क्रम से उत्पन्न हो लेने से जितना समय लगता है वह स्वक्षेत्रपरिवर्तन है और क्रम से जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक धारण करने में जितना समय लगता है उतना परक्षेत्रपरिवर्तन है। इस गाथा में दोनों प्रकार के क्षेत्रपरिवर्तनों की चर्चा हो रही है।

अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।

जादो मुदो य बहुसो, परिभमिदो कालसंसारे।। (27)

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की समस्त समयावलियों में

उत्पन्न हुआ है तथा मरा है। इस तरह इसने काल संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया है।

णिरयाउजहण्णादिसु, जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु, बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।। (28)

मिथ्यात्व के आश्रय से इस जीवने नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक की भवस्थिति को धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ-नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में जघन्य से लेकर उत्कृष्ट आयु तक को क्रम से प्राप्त कर लेने में जितना समय लगता है उतने समय को भवपरिवर्तन कहते हैं। नरक गति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की तथा उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की है। मनुष्य और तिर्यंच गति की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त स्थिति तीन पल्य की है। तथा देवगति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की ओर उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की है। परंतु मिथ्यादृष्टि जीव की उत्पत्ति देवगति में इकतीस सागर की आयु से युक्त उपरिम ग्रैवेयक तक ही होती है। इसलिए देवगति में भवस्थिति की अंतिम मर्यादा ग्रैवेयक तक ही बतलायी गयी है।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ, अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमिदो पुण भावसंसारे।। (29)

इस जीवने मिथ्यात्व के वश समस्त कर्मप्रकृतियों की सब स्थितियों, सब अनुभागबंधस्थानों और सब प्रदेशबंध स्थानों को प्राप्त कर बार-बार भाव संसार में परिभ्रमण किया है।

भावार्थ-ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध से लेकर उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के योग्य समस्त कषायाध्यवसायस्थान, समस्त अनुभागाध्यवसायस्थान और समस्त योगस्थानों को प्राप्त कर लेना भावसंसार है। ये पाँचों परिवर्तन ही पाँच प्रकार के संसार हैं। इन संसारों में जीव का परिभ्रमण मिथ्यात्व के कारण होता है।

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे।। (30)

जो जीव पुत्र तथा स्त्री के निमित्त पापबुद्धि से धन कमाता है और दयादान का परित्याग करता है वह संसार में भ्रमण करता है।

मम पुत्तं मम भज्जा, मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि दीहसंसारे।। (31)

जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है इस प्रकार की तीव्र आकांक्षा से धर्मबुद्धि को छोड़ता है वह पीछे दीर्घ संसार में पड़ता है।

मिच्छोदयेण जीवो, णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं, मण्णंतो भमदि संसारे।। (32)

मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेंद्र भगवान् के द्वारा कथित धर्म की निंदा करता हुआ तथा कुलिंग और कुतीर्थ को मानता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

हंतूण जीवरासिं, महुमंसं सेविऊण सुरयाणं।
परदव्वपरकलत्तं, गहिऊण य भमदि संसारे।। (33)

जीवराशि का घात कर, मधु मांस और मदिरा का सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहण कर यह जीव संसार में भ्रमण करता है।

जत्तेण कुणइ पावं, विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहियो, तेण दु परिपडदि संसारे।। (34)

मोहरूपी अंधकार से सहित जीव विषयों के निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसार में पड़ता है।

णिच्चिदरधादुसत्तय, तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो, चौद्दस मणुए सदसहस्सा।। (35)

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकार के जीवों में प्रत्येक की सात सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिक की दस लाख, विकलेंद्रियों की छह लाख, देव, नारकी तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में प्रत्येक की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं। इनमें संसारी जीव भ्रमण करता है।

संजोगविप्पजोगं, लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं, होदि दु माणं तहावमाणं च।। (36)

संसार में जीवों को संयोग वियोग, लाभ अलाभ, सुख दुःख तथा मान अपमान प्राप्त होते हैं।

कम्मणिमित्तं जीवो, हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो, णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को।। (37)

कर्मों के निमित्त से यह जीव संसाररूपी भयानक वन में भ्रमण करता है, किंतु निश्चय नय से जीव कर्मों से रहित है इसलिए उसका संसार भी नहीं है।

भावार्थ-जीव के संसारी और मुक्त भेद व्यवहार नय से बनते हैं, निश्चय नय से नहीं बनते, क्योंकि निश्चय नय से जीव और कर्म दोनों भिन्न भिन्न द्रव्य हैं।

संसारमदिक्कंतो, जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो।
संसारदुहक्कंतो, जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो।। (38)

संसार से छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिए और संसार के दुःखों से आक्रांत जीव छोड़नेयोग्य हैं ऐसा चिंतन करना चाहिए।

जीवादिपयट्ठाणं, समवाओ सो णिरुच्चए लोगो।
तिविहो हवेइ लोगो, अहमज्झिमउड्ढभेएण।। (39)

जीव आदि पदार्थों का जो समूह है वह लोक कहा जाता है। अधोलोक, मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का होता है।

णिरया हवंति हेट्ठा, मज्झे दीवंबुरासयो संखा।
सग्गो तिसट्ठिभेओ, एत्तो उड्ढो हवे मोक्खो।। (40)

नीचे नरक है, मध्यमें असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं ऊपर त्रेसठ भेदों से युक्त स्वर्ग हैं और इनके ऊपर मोक्ष है।

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाउण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोहो, अच्चंतं दुल्लहं होदि।। (83)

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिंता बोधि है, यह बोधि अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को बोधि कहते हैं, इसकी दुर्लभता का विचार करना सो बोधिदुर्लभभावना है।

कम्मुदयजपज्जायां, हेयं खाओवसमियणाणं तु।

सगदव्वमुवादेयं, णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं।। (84)

कर्मोदय से होनेवाली पर्याय होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है।

मूलुत्तरपयदीओ, मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।

परदव्वं सगदव्वं, अप्पा इदि णिच्छयणएण।। (85)

मिथ्यात्व को आदि लेकर असंख्यात लोकप्रमाण जो कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनय से कहा जाता है।

भावार्थ-ज्ञायक स्वभाव से युक्त आत्मा स्वद्रव्य है और उसके साथ लगे हुए जो नोकर्म द्रव्यकर्म तथा भावकर्म हैं वे सब परद्रव्य हैं ऐसा निश्चयनय से जानना चाहिए।

एवं जायदि णाणं, हेयमुवादेय णिच्चये णत्थि।

चिंतिज्जइ मुणि बोहिं, संसारविरमणट्ठे य।। (86)

इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्य का चिंतन करने से हेय और उपादेय का ज्ञान हो जाता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनय में हेय और उपादेय का विकल्प नहीं है। मुनि को संसार का विराम करने के लिए बोधि का विचार करना चाहिए।

बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं।

आलोयणं समाहिं, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं।। (87)

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना, और समाधि हैं इसलिए इन अनुप्रेक्षाओं की निरंतर भावना करनी चाहिए।

ज्ञान-वैराग्य सम्वृद्धि हेतु वर्णन है पाप-पुण्य-मोक्ष तक

(पाप को जानकर त्याग करो, पुण्य को जानकर पुण्य फल से अनासक्त रहो व पुण्य-पाप परे मोक्ष प्राप्त करो)

(चालः-आत्मशक्ति...)

ज्ञान-वैराग्य सम्वृद्धि हेतु होता है पाप-पुण्य-मोक्ष का वर्णन।

निगोदिया से सिद्ध तक चौरासीलाखयोनियों का भी वर्णन।।

इस हेतु ही वर्णन है षट् द्रव्य, सप्ततत्व, नवपदार्थ भी।
मार्गणा गुणस्थान से ले श्रावकधर्म, मुनिधर्म भी।। (1)
पंचपाप व सप्तव्यसन, पंचअणुव्रत से पंचमहाव्रत भी।
दुष्टदुर्जन व क्रूर हिंसक से ले पंचपरमेष्ठी तक भी।।
युद्ध, महायुद्ध, हत्या, बलात्कार, अन्याय, अत्याचार तक भी।
ज्ञान ध्यान व तप-त्याग, दया दान, सेवा परोपकार भी।। (2)
बिन जानन ते दोष-गुणन को कैसे तजिये गहिए।
''हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ'' उसे ही सम्यग्ज्ञान कहिए।
अनादिकाल से कर्म आबद्ध जीव नहीं मानते हैं सत्य-असत्य।
आत्म-अनात्म व पुण्य-पाप-मोक्ष, मोह से मोहित हो जीव।। (3)
सुदपरिचिदाणुभुदा सेव्वासि कामभोगबन्ध कहा।
एयत्तसुबलंभो णवरि ण सुलह विहत्तस्स।। (स.सार)
शुभ अशुभ बंध के फल मंझार, रति अरति करे निज पद विसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आप को कष्टदान।। (छ.ढा.)
रोके न चाह जिन शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुकज्ञान, सो दुःख दायक अज्ञान जान।।
इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचारित्त।
ते सब मिथ्या चारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथलाग।।
जो ख्यातिलाभपूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन।।
इन सब का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान से होता है सम्यक्त्व।
जिससे होता है सम्यग्ज्ञान जिस से होता सम्यग्चारित्र।।
रत्नत्रय है स्वशुद्धात्मा स्वरूप, उस का आचरण है मोक्षमार्ग।
उस की पूर्णता है मोक्षस्वरूप, इससे विपरीत संसार मार्ग।। (4)

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्म-परिज्ञानभिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं, कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।। (216) पु.सि.

येनांऽशेन सुदृष्टिस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं नाऽस्ति।
येनांऽशेन तु राग स्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (212)
येनांऽशेन तु ज्ञानं, तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं नास्ति।
येनांऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (213)
येनांऽशेन चारित्रं, तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (214)

स्वशुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त पर द्रव्य व विभाव।
पर मानकर पर जानकर उस में रागद्वेष मोह आदि त्यजनीय।।
पाप तो सर्वथा त्यजनीय है पंचपाप सप्त व्यसन चार कषाय।
इसके कुफल संसार के समस्त दुःख ऐसा करके परिज्ञान।। (5)
इसी से होते हैं अपायविचय विपाकविचय धर्मध्यान व अनुप्रेक्षा।
जिससे होते ज्ञान-वैराग्य संसार शरीर भोगों से विरागता।।
आदिनाथ को निलांजना की मृत्यु से नेमिनाथ को पशुबलि से।
युद्ध के अनन्तर हजारों राजारानियों को वैराग्य होता विनाश से।। (6)
इस से विपरीत विवाह उत्सव, भोगोपभोग, सांसारिक-वैभव से।
वैराग्य के विपरीत होती ईर्ष्यातृष्णाघृणा से ले निदान भी।।
भोगभूमिज व स्वर्गलोक में अतएव नहीं होते वैराग्य व त्याग।
दुःखमा सुखमा में होता ज्ञान वैराग्य दुःख-सुख भाव काम से।। (7)
इस कारण प्रथमानुयोगादि में पाप व पापिओं का वर्णन विशेष।
पाप से निवृत्त हो पुण्य भाव से साधना से प्राप्त करना है मोक्ष।।
यथा पाप त्यजनीय है तथाहि पुण्यफल रूपी भोगोपभोग से विरक्त।
पुण्यफल में जो होता है आसक्त उसे भी न होता है ज्ञान-वैराग्य।। (8)
पुण्य-पाप-फलमाहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।।
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।

तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।। (9) (छ. 4 ढ़ा)

अन्यथा केवल रूढ़ि परम्परा दिखावा या ख्याति पूजा लाभ हेतु।
करते जो बाह्य धर्म आचरण वह न बनता है मोक्ष के हेतु।।
पाप को जानो पाप को त्याग पुण्य करो केवल मोक्ष हेतु।
यह है धर्म का सार स्वरूप 'कनकसूरी' पाले धर्म मोक्ष हेतु।। (10)

ग.पु.कॉ. 23-4-2020 मध्याह्न 3.01

जइ जिणमयं पवज्जइ ता वा ववहार णिच्छाए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

यदि जिन धर्म का प्रचार-प्रसार, प्रवर्तन करना है एवं आत्म उद्धार करना है तो केवल एकांत व्यवहार के पक्षपाती मत बनो इसी प्रकार केवल एकांत निश्चय के भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तब संसार से उत्तीर्ण होने के रूप जो व्यवहार तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और जिसके कारण आत्मोपलब्धि रूप निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि निश्चय को नहीं मानेंगे तो व्यवहार धर्म के माध्यम से जिस परम तत्त्व को प्राप्त करना है उस परम तत्त्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहार धर्म के द्वारा किस तत्त्व को प्राप्त करेंगे?

समयसार में गुप्त रहस्य को उद्घाटित करने वाले, कुन्दकुन्द साहित्य रूपी सागर में अवगाहन करने वाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक संत अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में कहते हैः-

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। (1) निश्चय मोक्षमार्ग (2) व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है जिसे प्राप्त करना है जो कार्य स्वरूप है। द्वितीय व्यवहार मोक्षमार्ग साधन स्वरूप है। जिसके द्वारा साध्य रूप निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। समर्थ कारण से कार्य होता है अर्थात् साधन से साध्य-सिद्धि होती है इस न्यायानुसार व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग की उपलब्धि होती है। व्यवहार मोक्षमार्ग के बिना निश्चय मोक्षमार्ग त्रिकाल में अनुपलब्ध ही रहेगा।

पंडित शिरोमणि, चतुरानुयोग पारंगत, निश्चय व्यवहारज्ञ, आर्ष परम्परा संरक्षक, संस्कृत के महान् ग्रन्थ धर्मामृतादि अनेक मौलिक कृति के रचियता आचार्य कल्प आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है-

व्यवहार पराचीनः निश्चयं यः चिकीर्षति।

बीजादि बिना मूढः सः शस्यानि सिसृक्षति।।

व्यवहार से विमुख होकर जो निश्चय को चाहते हैं वे मूढ हैं जैसे कि एक मूढ़ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है अर्थात् जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

देवसेन आचार्य नयचक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं-

जह इच्छह उत्तरिंदु अज्झाण महोवहिं सुलीलाए।

तो णादुं कुणह मइं णय चक्के दुणय तिमिर मत्तण्डे।।

यदि अज्ञान रूपी महासमुद्र को लीला से तरने की इच्छा है तो नयचक्र को जानने के लिये मति को नयचक्र में प्रवेश कराओ। दुर्नय रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यक्नय सूर्य के समान है।

जीव का स्वरूप

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्श-गंध रस वर्णैः।

गुण पर्यय समवेतः, समाहितः समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः।। (9) पु.सि.

पुरुष अर्थात् आत्मा त्रिकाल में अस्तित्ववान् है अर्थात् आत्मा शाश्वतिक है। अनादिकाल से था, अभी है और आगे भी रहेगा। इसलिये आत्मा अजर-अमर एवं अविनाशी है। वह आत्मा ज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञान स्वरूप आत्मा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है। शीतादि आठ स्पर्श दो प्रकार के गन्ध पाँच प्रकार के रस तथा श्वेतादि पाँच प्रकार के वर्ण से रहित होने के कारण अमूर्तिक/अरूपी है। पुनः वह चैतन्य आत्मा ज्ञान आदि गुण तथा सिद्धत्व आदि पर्यायों में समवाय है। वह चैतन्य पुरुष उत्पाद, व्यय ध्रौव्य से युक्त है।

प्रश्नः-रूप रहित आत्मा में उत्पाद, व्यय ध्रौव्य कैसे संभव होता है?

उत्तरः-''सद्द्रव्य लक्षणं, उत्पादं व्ययं ध्रौव्यं युक्तं सत्, गुणपर्ययवद् द्रव्यम्''

अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है और वह सत् उत्पाद, व्यय ध्रौव्य से युक्त है। पुनः वह द्रव्य (सत्) गुण पर्यायों से युक्त है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र में द्रव्य का लक्षण कहा है। इसलिये आत्मा एक अमूर्तिक द्रव्य होने के कारण उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सम्भव है। गुणों के विकारों को पर्याय कहते हैं। वह पर्याय दो प्रकार का है-स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय। अगुरुलघु गुण का विकार स्वभाव अर्थ पर्याय है। वह स्वभाव अर्थ पर्याय षट्वृद्धि-हानि रूप से बाहर प्रकार का है। यथा (1) अनन्त भाग वृद्धि (2) असंख्यात भागवृद्धि (3) संख्यात भाग वृद्धि (4) संख्यात गुण वृद्धि (5) असंख्यात गुण वृद्धि (6) अनन्त गुण वृद्धि (7) अनन्त भाग वृद्धि (8) असंख्यात भाग हानि (9) संख्यात भाग हानि (10) संख्यात गुण हानि (11) असंख्यात गुण हानि (12) अनन्त गुण हानि।

जो द्रव्य होता है वह त्रैकालिक अविनाशी होने के कारण हानि वृद्धि से रहित है। परन्तु यहाँ जो हानि, वृद्धि कही गई है वह अगुरुलघु गुण का विकार है। यदि हानि वृद्धि नहीं होती तो अगुरुलघु गुण का अभाव हो जाता। अगुरुलघु गुण के अभाव से द्रव्य लौह के एक पिण्ड के समान भारी हो जायेगा। अथवा आक की रुई के समान हल्का हो जायेगा। इससे द्रव्य का शुद्ध स्वभाव का अभाव हो जायेगा। अथवा आक की रुई के समान हल्का हो जायेगा। इससे द्रव्य का शुद्ध स्वभाव का अभाव हो जायेगा। इसलिये शुद्ध स्वभाव की सिद्धि के लिये षट्गुणी-वृद्धि हानि कहा गया है। इसका वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक होने के कारण पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि ग्रन्थ में अवलोकनीय है। पर्यायार्थिकनय से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परस्पर अभिन्न है। क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों द्रव्यमय ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्य एवं लक्षण में भेदनय अपेक्षा से जानना चाहिये। कहा भी है-

जिस प्रकार धातु से रहित साँचा केवल आकार से जिस प्रकार दिखाई देता है उसी प्रकार आठों कर्म तथा शरीर से रहित अमूर्तिक आत्मा केवलज्ञान रूपी आकार से सहित है अर्थात् सिद्ध भगवान् का आकार अमूर्तिक तथा चैतन्यमय है।

समीक्षाः-कोई-कोई दार्शनिक एवं वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह जीव एक पृथक् द्रव्य नहीं है। कुछ मानते हैं कि रासायनिक मिश्रण/रासायनिक परिवर्तन से जीव की सृष्टि हुई है-जैसे डार्विन आदि वैज्ञानिक और चार्वाक आदि दार्शनिक,

चार्वाक का मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के सम्मिश्रण से जीव की सृष्टि होती है। जैसे-चावल, गुड़ आदि के मिश्रण से मद्य में मादकता की सृष्टि होती है। परन्तु उपरोक्त धारणा कपोल कल्पित एवं सत्य-तथ्य से रहित है क्योंकि जीव अमूर्तिक, चेतन द्रव्य होने से मूर्तिक अचेतना द्रव्यों से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जीव द्रव्य का वर्णन प्रवचनसार में कुन्दकुन्ददेव ने निम्न प्रकार से किया है।

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणावेओगमओ।

पोग्गलदव्वमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।।

द्रव्य जीव और अजीव ऐसे दो भेद रूप हैं और उसमें चेतन और उपयोगमयी जीव है और पुद्गल आदि अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जोहि जीविदो पुव्वं।

सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।

जो चार प्राणों से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है और प्राण पुद्गल द्रव्यों में निष्पन्न है।

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।

सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा।।

जीवादि के ''भाव'' हैं। जीव के गुण चेतना तथा उपयोग हैं और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यञ्चरूप अनेक हैं।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगेविसेसिदो पहू कत्ता।

भोत्ता य देहमत्तो ण हि ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्मसंयुक्त है।

जीव स्वयं कर्त्ता और भोक्ता

परिणममाणो नित्यं, ज्ञान विवर्तैरनादि सन्तत्या।

परिणामानां तेषां, स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।। (10)

कर्मकृत परिणाम के वश से यह आत्मा निश्चित रूप में, नित्य पर्यायान्तर को

प्राप्त करता हुआ कर्त्ता होता है। वही आत्मा शुभ एवं अशुभ फल को भोगता है। वह आत्मा ज्ञान पर्याय से अनादिकाल से संयुक्त होकर कर्मकृत परिणामों को भोगता है।

प्रश्नः-अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्म को कैसे बांधता है तथा ज्ञान के समवाय के पहले जीव ज्ञानी रहता है या अज्ञानी रहता है?

उत्तरः-कषायवान जीव् कर्म योग्य पुद्गल को बाँधता है तथा जीव अनादिकाल से कषाय तथा कर्म से युक्त होने के कारण वस्तुतः आत्मा अनादिकाल से व्यवहार नय से अमूर्तिक नहीं है मूर्तिक है। कर्म एवं जीव का सम्बन्ध अनादि सम्बन्ध है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा भी है-

जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण में पाषाण तथा सुवर्ण पहले से ही मिला हुआ होता है उसी प्रकार जीव एवं कर्म का परस्पर सम्बन्ध अनादिकाल से है। इस कर्म को प्रकृति, शील, स्वभाव आदि नाम से जाना जाता है।

प्रश्नः-जीव तथा कर्म के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार होती है?

उत्तरः-मैं हूँ (मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ) इस प्रकार अनुभव से आत्मा की सिद्धि होती है। शुद्ध आत्मा-स्वरूप रागादि भाव से रहित होने पर भी संसारी जीव में रागादि परिणमन दिखाई देता है और यह रागादि परिणमन कर्म के बिना सम्भव नहीं है। इसके साथ-साथ संसार में एक दरिद्र है तो एक धनवान् है, एक ज्ञानी है तो एक अज्ञानी, एक सुखी है तो एक दुःखी है ऐसे विचित्र परिणामों से कर्म के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

दो विकल्प उत्पन्न होते हैं-जीव ज्ञानी है अथवा अज्ञानी है। यदि जीव ज्ञानवान् है तब ज्ञान समूह या ज्ञान को प्राप्त करना व्यर्थ है क्योंकि पहले ही जीव ज्ञानवान् है। यदि अज्ञानी है तब प्रश्न होता है कि क्या अज्ञान के समूह से जीव अज्ञानी है? यदि अज्ञान गुण समूह से जीव अज्ञानी है तब जीव के अज्ञान गुण समूह व्यर्थ हैं क्योंकि पहले से जीव अज्ञानी है। यदि स्वभाव से ही जीव अज्ञानी है तब स्वभाव से ही वह ज्ञानी हो सकता है क्योंकि पहले से ही प्रकाशवान् है परन्तु मेघ पटल के कारण सूर्य या सूर्य किरणें छिप जाती हैं और मेघ पटल विघटित होने पर सूर्य तथा सूर्य किरणें प्रकट हो जाती हैं। उसी प्रकार निश्चय से कार्माच्छादन से रहित अखण्ड प्रतिभासात्मक केवलज्ञान आदि से सहित जीव है परन्तु व्यवहार नय से अनादि कर्म संतति से

आवृत्त जीव अज्ञानी बनता है। जिस प्रकार मेघ पटल विघटित होने पर सूर्य दिखाई देता है। उसी प्रकार कर्ममल से रहित जीव ज्ञानी हो जाता है। कर्मपटल रहित होने के कारण जीव ज्ञानी नहीं होता है परन्तु वह पहले से ही ज्ञानी ही रहता है परन्तु कर्म के कारण ज्ञान आच्छादित रहता है क्योंकि चेतना या ज्ञान का स्वभाव है, स्वलक्षण है। ज्ञान अन्यत्र से आत्मा में नहीं आता है। चेतना तीन प्रकार की है-1.ज्ञान चेतना 2.कर्म चेतना 3.कर्म फल चेतना। सिद्धों की ज्ञान चेतना होती है। इसलिये समस्त दशा में आत्मा का ज्ञान गुण रहता ही है। अन्य में नहीं। अतएव देह सहित जीव कर्म, नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य को अग्नि में संतप्त लौह पिण्ड जिस प्रकार जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार जीव कर्म को ग्रहण करता है। इसलिये जीव कर्त्ता एवं भोक्ता बनता है। इसे विभिन्न नयों से सम्बन्धित करते हैं अर्थात् नयों की दृष्टि से समझाते हैं।

1. शुद्ध द्रव्यार्थिक नययह आत्म कर्त्ता है।
2. पर्यायार्थिकनय से शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का कर्त्ता है।
3. शुद्ध निश्चयनय से स्व शुद्ध स्वरूप निश्चय रत्नत्रय का कर्त्ता है।
4. अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा भाव कर्म का कर्त्ता है।
5. अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार नय से द्रव्य कर्म नोकर्म का कर्त्ता है।
6. उपचरितासद्भूत-व्यवहार नय से घट पटादि का कर्त्ता है।

इसलिये विभाव रूप मिथ्यात्व, राग, द्वेष, कषाय, पुण्य रूप गुणों का अनादि परम्परा से आश्रय होने के कारण जीव उसका कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है।

पुग्गल कम्मीदीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धाभावाणं।। (8)

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

ववाहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।(9)

आत्मा व्यवहार से सुख दुःखरूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

जयसेनाचार्य ने टीका में इस विषय पर बल दिया है कि यदि द्रव्यकर्म के उदय से भी जीव भावकर्म रूप से परिणमन नहीं करेगा तब प्राचीन द्रव्यकर्म उदय में

आकर नष्ट हो जायेंगे तथा नवीन द्रव्य कर्म का बन्ध नहीं होगा जिसके कारण जीव को मोक्ष हो जायेगा।

इसलिए मुमुक्षु को सर्व प्रयत्न से भावकर्म (वैभाविक भाव) नहीं करना चाहिये। योगीन्दु देव ने कहा भी है-

भुंजतु विणिय कम्म-फलु जो तहिं राउण जाइ।

सोणवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ।।(80)

अपने बाँधे हुए कर्मों के फल को भोगता हुआ भी उस फल के भोगने में जो जीव राग-द्वेष को नहीं प्राप्त होता वह फिर कर्म को नहीं बाँधता। जिस कर्म बंधाभाव परिणाम से पहले बाँधे हुए कर्म भी नाश हो जाते हैं।

पुरुषार्थ सिद्धि का स्वरूप

सर्व विवर्त्तोत्तीर्ण, यदा स चैतन्यमचलमाप्नोतिः,

भवति तदा कृतकृत्य, सम्यक् पुरुषार्थ-सिद्धिमापन्नः।।(11)

जब वह आत्मा सर्व विकार रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह सर्व कर्म रहित कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कैसा आत्मा उस सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त करता है? सम्यक् शुभ पुरुषार्थ से सिद्धि को प्राप्त करता है।

कैसा चैतन्य समस्त विकारों से परिभ्रमण से उत्तीर्ण होता है? समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पंच परिवर्तन रूप अथवा देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य रूप गतियों से रहित समस्त क्लेश समूह से उत्तीर्ण मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा वह कृतकृत्य शुद्ध चैतन्य होता है यह इसका भावार्थ है। चौरासी लक्ष विभाव, द्रव्य-व्यंजन-पर्याय, मति आदि विभावगुण-पर्याय इनका आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है। वही कृतकृत्यपना है। विभाव-गुण एवं विभाव-पर्यायों से युक्त कृतकृत्यपना नहीं है।

18 वें नम्बर श्लोक में जो कहा गया है कि जो पहले मुनि धर्म का उपेदश न देकर के गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है वह दण्डनीय हैं। उसका कारण यह है कि जिसके कारण से मुमुक्षु शिष्य उपासक रूपी अपदस्थ गृहस्थ धर्म में प्रवृत्त हो जाता है जिसके कारण से दुर्बुद्धि गुरु के द्वारा शिष्य वंचित हो जाता है, ठगा जाता है।

पहले अति उत्साहित होकर जब शिष्य गुरु के पास आकर धर्म श्रवण एवं ग्रहण करना चाहता है तब गुरु को पहले उत्साह के अनुसार उसे उत्कृष्ट मार्ग मुनि मार्ग का उपदेश देना चाहिये परन्तु इसके विपरीत श्रावक धर्म का कथन करने से वह उत्साहमान् भी शिष्य निश्चय धर्म रूप मुनि धर्म को न जानकर व्यवहार रूप श्रावक धर्म को अंगीकार कर लेता है। व्यवहार कथन से निश्चय अकथन से व्यवहार ही निश्चय ऐसा जानकर शिष्य व्यवहार का ही आचरण करता है। अतः उपदेश दाता गुरु शिष्य को संसार सागर में ही रुला देता हैं। अतः मुनि धर्म को पहले प्रकाशन करना चाहिए उसके बाद श्रावक धर्म का कथन करना चाहिये।

उपदेश ग्रहण करने वाले पात्र का कर्त्तव्य

एवं सम्यग्दर्शन बोध-चारित्र त्रयात्मको नित्यम्।
तस्याऽपि मोक्षमार्गो, भवति निषेव्यो यथाशक्ति।। (20)

आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है। अतः मोक्षमार्ग तथा मोक्ष भी रत्नत्रयात्मक है। इसलिए मोक्ष के लिए रत्नत्रय की आराधना यथाशक्ति करनी चाहिए। परन्तु गुरुओं को निश्चय मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करना चाहिए। इसलिए गुरु को क्रम कथन को यथाशक्ति उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति अक्रम कथन से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का निषेध हो जाता है क्योंकि आत्मा सदैव रत्नत्रयात्मक है।

समीक्षाः-मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनंत अनंतशिष्यों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनन्त ज्ञान को प्राप्त करके पूर्ण रूप प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे व्यतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।। (3)

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है ऐसे धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया हैं। आचार्य

उमास्वामी ने भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताया है कि-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।। (1) (तत्त्वार्थ सूत्र)

Right belief (right) knowledge (right) conduct, these (together constitute) the path of liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक (रत्नत्रयः) मोक्ष का मार्ग है।

"Self-reverence, self knowledge and self control
These three alone lead life a savereign power."

आध्यात्मिक दर्शन के समर्थ प्रचार प्रसारक कुन्दकुन्दस्वामी आध्यात्मिक जगत् की अद्वितीय कृति समयसार में भी विमुक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं:-

जीवादि सद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं ऐसो दु मोक्खपहो।। (62)

सम्यग्दर्शनः-

जीवादि सद्दहणं सम्मतं=जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।

जीवादि सद्दहणं सम्मतं=जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञानः-

तेसिमधिगमो णाणं=तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं।

तेसिमधिगमो णाणं=उन्हीं जीवादि पदार्थों का संशय-उभयकोटिज्ञान, विमोह विपरीत एक कोटिज्ञान, विभ्रम-अनिश्चित ज्ञान, इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है। जान लिया जाता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक् चारित्रः-

रागादि परिहरणं चरणं=तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चारित्रं।

रागादि परिहरणं चरणं और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक् चरित्र कहलाता है।

व्यवहार मोक्षमार्गः-

एसो दु मोक्खपहो इत्येष व्यवहार मोक्षमार्गः।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

निश्चय-मोक्षमार्गः-

भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्ध-आत्मा से पृथक् अन्य में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। और जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादि रूप विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यग्चरित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्षमार्ग हुआ। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं-

सम्मंद्दसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छायदो तत्तियमऽओ णियो अप्पा।। (39) द्रव्यसंग्रह

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चरित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उसको मोक्ष का कारण जानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणत आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार होता है? इसका प्रतिउत्तर देते हुये आचार्य श्री ने कहा है-

रयणत्तयंण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।

तम्हा तत्तियमइयो होदि दु मोक्खस्स कारणं आदा।।

The three jewels (i.e. perfect knowledge and perfect conduct) do not exist in any other in substance, excepting the soul, Therefore, the soul surely is the cause of liberation.

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष कारण है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने यह भी भेदाभेदात्मक निश्चयव्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुये कहा है।

दंसण णाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणां णिच्चं।

ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

साधु को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझाकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिये। अपने उपयोग में लाना चाहिए। किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनों एक शुद्धात्मा स्वरूप ही हैं। उससे भिन्न नहीं है ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों होते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता

तत्रादौ सम्यक्त्वं, समुपाश्रयणीयमखिल प्रयत्नेन।

तस्मिन्सत्येव यतो, भवति ज्ञानं चारित्रं च।। (2)

उस धर्म स्वरूप कथन में सर्वप्रथम समग्रता से अत्यन्त यत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन की सेवा करनी चाहिए अर्थात् उसका सेवन करना चाहिए। उस सम्यक्त्व के होते हुए स्वयमेव आत्मा में जिसके कारण सम्यक् ज्ञान होता है और ज्ञान से चारित्र होता है जो कि समस्त पापों से रहित होता है।

समीक्षाः-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मार्ग ही मोक्षमार्ग है। तीनों की पूर्णता से तत्क्षण साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे-

(1) अनेक बिन्दुओं के सम्यक् संयोग से रेखा बनती हैं परन्तु एक बिन्दु से या सम्यक् रूप में असंयोजित अनेक बिन्दुओं से भी रेखा नहीं बनती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र रूपी तीन बिन्दुओं से मोक्षमार्ग रूपी रेखा बनती है।

(2) 100 संख्या के लिये एक तथा दो बिन्दुओं की सम्यक् समष्टी चाहिये। तीन अंक अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से या कोई भी दो संयोग से भी 100 संख्या

नहीं बन सकती है। इसी प्रकार 100 संख्या रूप मोक्षमार्ग के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के लिये तीनों अंको की सम्यक् संयोजना चाहिये।

बिना एक अंक स्वतन्त्र रूप से एक शून्य या दो शून्य मिलकर भी कोई विशिष्ट इकाई को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। एक अंक भी बिना दो शून्य के संयोग से भी 100 संख्या नहीं बन सकती। उसी प्रकार सम्यक् दर्शन बिना ज्ञान, चारित्र, मोक्ष मार्ग के लिए अकिंचित्कर है।

उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, रहित सम्यग्दर्शन पूर्ण मोक्षमार्ग बनाने के लिए असमर्थ है। जैसे 100 संख्या के लिए प्रथम संख्या एक होने पर भी एक ही सौ नहीं है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सम्यज्ञान भी पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है। जब 10 के आगे एक शून्य का संयोग होता है तब 100 संख्या की पूर्णता होती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्चारित्र का संयोग होता है। तब पूर्ण मोक्षमार्ग बनता है।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्व भाव उवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियणादी।। (705) मूलाचार

जिन वचनों की श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है उससे ज्ञान होता है अर्थात् उस सम्यक्त्व से ज्ञान की शुद्धि होती है। अतः सम्यक्त्व से ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान से भेद प्रभेद सहित पर्यायों सहित सर्व द्रव्यों के पदार्थों का और अस्तिकायों का बोध होता है।

शंकाः-सम्यग्दर्शन का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं है तो फिर तत्पूर्वक ज्ञान कैसे हुआ?

समाधानः-ऐसा दोष आप नहीं दे सकते हैं क्योंकि ज्ञान के विपरीत अनध्यवसाय और अकिंचित्कर आदि स्वरूप सम्यक्त्व से दूर किये जाते हैं।

पुनः पदार्थों के ज्ञानी मनुष्य श्रेय-पुण्य अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय-पाप अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय-पाप अर्थात् कर्म बन्ध के कारण अच्छी तरह से जान लेते हैं। उसी को और कहते हैं।

सेयासेय विदण्हू उद्धददुस्सील सीलवं होदि।
सील फलेणब्भुदयं ततो पुण लहदि णिव्वाणं।।

श्रेय और अश्रेय के दाता दुःशील का नाश करके शीलवान् होते हैं पुनः उस शील के फल से अभ्युदय तथा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रेय और उसके कारणों के तथा अश्रेय और उसके कारणों के वेत्ता मुनि दुःशील पाप क्रिया से निवृत्त होकर चरित्र से समन्वित होते हुये अठारह हजार शील के आधार हो जाते हैं। उसके प्रसाद से स्वर्गादि सुखों का अनुभव रूप निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये सभी पूर्व ग्रन्थों में चरित्र का महात्म्य कहा गया है।

समन्तभद्र स्वामी ने भी इसी सिद्धान्त को उजागर किया है-

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानः।
राग द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

जब मोह रूपी अन्धकार विध्वंस हो जाता है तब सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बाद राग-द्वेष को निवारण करने के लिए साधु के आचारणरूप सम्यक्चारित्र को स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जब तक सम्यक् चारित्र का अवलम्बन नहीं लिया जाता तब तक राग द्वेष की निवृत्ति नहीं होती है। बिना राग-द्वेष की निवृत्ति के वीतरागता नहीं आती है। बिना वीतरागता केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। बिना केवलज्ञान प्राप्त किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मतं।
सम्मताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।। आ. कुन्दकुन्द

ज्ञान मनुष्य का सार है। सम्यग्दर्शन भी सारभूत है। क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान, सम्यग्ज्ञान रूप परिणमन हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से चारित्र, सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण और स्वरूप

जीवाऽजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेश-विविक्तमात्मरूपंतत्।। (22)

जीव अजीव तत्त्वों का श्रद्धान सदैव करना चाहिये। पृथ्वीकायिक आदि जीव धर्मास्तिकाय आदि अजीव हैं। ऐसे जीव अजीव तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा,

मोक्ष का श्रद्धान अर्थात् रुचि करने योग्य हैं। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है वह आत्मस्वरूप विपरीत अभिनिवेश से रहित है। विपरीत, एकान्त आदि मिथ्यात्व से रहित होने से सम्यक्त्व विपरीत अभिनिवेश से विविक्त कहा गया है।

सम्यग्दर्शन के अंगों में:-

(1) निःशंकित अंग का स्वरूप

सकलमनेकांतात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या।। (23)

उस सम्यक्त्व के अष्टांग में निशंकित्व का निरूपण यहाँ कर रहे हैं। भव्य जीवों को सत्य तत्त्व के ऊपर शंका करना कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ शंका का अर्थ संदेह है। निशंक अर्थात् निस्संदेहत्व है। उपयुक्त तत्त्वों का वर्णन अखिलज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ के द्वारा देखा हुआ है, प्रतिपादित किया गया है। सर्वज्ञ इन तत्त्वों को अनेकान्तत्मक देखा है और सप्तभंगी से प्रतिपादित किया है। इसलिये अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप में कभी भी शंका नहीं करनी चाहिये। यह वस्तु स्वरूप सत्य है या असत्य है ऐसा संदेह नहीं करना चाहिये। ''नान्याथावादिनो जिनाः'' अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होने के कारण उनके द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व तथा पदार्थ सत्य ही है। प्रत्यक्ष से दृश्यमान वस्तु से लेकर आकाश तक सम्पूर्ण समूह नित्य, अनित्य, गौण मुख्य रूप से अनेकान्त रूप सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है। मूल, अग्र, पोर, बीज, कन्द, शाखा, जल आदि जीव प्रत्येक साधारण अनन्तकाय संख्यात् (असंख्यात अनन्त) ऐसे सर्वज्ञ देव ने कहा है कि जो सत्य ही है। इस प्रकार विचार करके संदेह को दूर करके निशंकत्व होता है। निश्चय से सम्यक् दृष्टि सप्तभय रहित मिथ्यात्वादि सत्तावन आस्रव रहित होता है यह स्वतः सिद्ध है। इसलिये निशंक होकर के प्रवर्तन करता है। ग्रन्थ विस्तार भय से उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

(2) निःकांक्षित अंग का लक्षण

इहजन्मनि विभवादीनमुत्रचक्रित्व-केशवत्वादीन्।
एकान्तवाद-दूषित-परसमयानपि न चाऽऽकांक्षेत्।। (24)

सम्यग्दृष्टि जीव इस जन्म में धन सम्पत्ति आदि की तथा परलोक में चक्रवर्ती, अर्द्धचक्री आदि की पदवी की भी आकांक्षा नहीं करता है। इस लोक में तद्भव में धन, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थों को तथा परभव में धर्म के प्रभाव से चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, कामदेव आदि की पदवी भी नहीं चाहता। यह व्यवहार से है। निश्चय से वह एकान्तवाद से दूषित मिथ्याधर्म को नहीं चाहता है। एकान्तवाद से मिथ्यात्व आग्रह से दूषित परसमय-मिथ्यामत-मिथ्याशास्त्र को वह नहीं चाहता है। सम्यग्दृष्टि को जाति, लाभ आदि अष्ट मद भी नहीं होते हैं। मद उत्पत्ति से आकांक्षा भी होती है। इसलिए सम्यक्दृष्टिकोण निःकांक्षित रूप द्वितीय अंग होता है।

परिग्रह त्याग की भावनाएँ

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च। (8) मोक्ष.शा.

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में क्रम से, राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के स्पर्श आदि मनोज्ञ, अमनोज्ञ (इष्टानिष्ट) विषयों में राग-द्वेष का त्याग करना अर्थात् इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष का त्याग करना आकिंचन्य (परिग्रह त्याग) व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

हिंसादि पाँच पापों के विषय में करने योग्य विचार

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्। (9)

The destructive of dangerous (and) censurable (character of the 5 faults) injury, etc. in this (as also) in the next world (ought to be) meditated upon.

हिंसादिक पाँच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है।

अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधनों का नाशक अपाय है, या भय का नाम अपाय है। अभ्युदय (स्वर्गादि इहालौकिक सम्पदा) और निःश्रेयस (मोक्ष) की क्रिया एवं साधनों के नाशक अनर्थ को उपाय कहते हैं। अथवा इहलोक भय, परलोक भय, मरण भय, वेदना भय, अगुप्ति भय, अनरक्षक भय, अकस्मात् भय इन सात प्रकार के भय को अपाय कहते हैं।

गर्ह्य निन्दनीय को अवद्य कहते हैं। ऐसा चिंतवन करना चाहिए कि हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है, सतत अनुबद्ध वैर वाला होता है। इस लोक में वध (मरण) बन्धन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मरकर परलोक में अशुभ गति में जाता है और लोक में भी निन्दनीय होता है। अतः हिंसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता है। असत्यवादी इस लोक में जिह्वाच्छेद आदि के दण्ड को भोगता है। जिसके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे उसके वैरी हो जाते हैं अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं। मरकर अशुभ गति में जाता है और निन्दनीय भी होता है। अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है। परधन के ग्रहण करने में आसक्ति चित्त वाला चोर सर्वजनों के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरंतर भयभीत रहता है। इस लोक में अभिघात (मारपीट), वध, बन्धन, हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्वहरण आदि दण्ड भोगता है (प्राप्त करता है) और मरकर परलोक में अशुभ गति में जाता है, अतः चोरी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है तथा अब्रह्मचारी (कुशीलसेवी) मानव मदोन्मत हाथी के समान हथिनी से ठगाया हुआ, हथिनी के वशीभूत हुआ हाथी मारण-ताड़न-बन्धन-छेदन आदि अनेक दुःखों को भोगता है। उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध-बंधनादि को भोगता है। मोहाभिभूत होने के कारण कार्य (करने योग्य), अकार्य (नहीं करने योग्य) के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नहीं करता है। परस्त्री का आलिंगन तथा उसके संग में रति करने वाले मानव के सर्व लोग वैरी बन जाते हैं, परस्त्रीगामी इस लोक में लिंगच्छेदन, वध, बंधन, क्लेश, सर्वस्वहरणादि के दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा मरकर परलोक में अशुभ गति में जाते हैं और यहाँ निन्दनीय होते हैं। अतः अब्रह्म से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है, आत्महित कारक है तथा परिग्रहवान् पुरुष माँसखण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी की तरह अन्य पक्षियों के द्वारा झपटा जाता है, चोर आदि के द्वारा अभिभवनीय (तिरस्कृत) होता है, उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और विनाशकृत अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। जैसे ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती है, उसी प्रकार परिग्रह से तृप्ति नहीं होती। लोभकषाय से अभिभूत होने से कार्य, अकार्य से अनभिज्ञ हो जाता है। परिग्रहवान् मानव मरकर परलोक में नरक, तिर्यंचादि अशुभ गति में जाता है। 'यह लोभी है-कंजूस है' इत्यादि रूप से निन्दनीय होता है। अतः परिग्रह का त्याग करना ही

श्रेयस्कर है। ये हिंसादि पाप, अपाय और अवद्य के कारण हैं, ऐसी निरंतर भावना भानी चाहिये।

दुःखमेव वा। (10)

One must also mediate, that the five faults, injury etc. are pain personified, as they themselves are the veritable wombs of pain.

अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिये।

दुःख के कारण होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह दुःख स्वरूप है। क्योंकि हिंसादिक पाप से इहलोक में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक आदि दुःख मिलते हैं और परलोक में भी नरक-तिर्यंच आदि दुर्गति में जीव को अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि हिंसादिक पाप असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण है और असाता वेदनीय दुःख का कारण है इसलिए दुःख के कारण या दुःख के कारण के कारण जो हिंसादिक है उनमें दुःख का उपचार है।

जिस समय जीव हिंसादि पाप करता है उस समय में उसका भाव दूषित होने के कारण जो कर्मास्रव होता है वह कर्मास्रव पाप प्रकृति रूप में परिणमन कर लेता है। यह पाप ही उस पापी को अनेक प्रकार का दुःख देता है। पाप प्रवृत्ति के समय जो दूषित भाव होता है उससे मानसिक-तनाव, मानसिक उद्वेग, चिंता, भय आदि उत्पन्न होते हैं जिसके कारण उसे तत्काल ही मानसिक कष्ट एवं यातनायें मिलती हैं जिससे विभिन्न मानसिक रोग के साथ-साथ शारीरिक रोग होता है। जैसे-ब्लेड प्रेशर बढ़ना, शिर दर्द, कैन्सर, टी.बी., हृदय गति रुकना (हार्ट फेल), उन्माद, पागलपन आदि रोग होते हैं। इतना ही नहीं इस लोक में ही अपमान, प्रताड़ना, जेल जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा का ह्रास, अविश्वास, शत्रुता, कलह यहाँ तक की प्राणदण्ड आदि कष्ट मिलते है। जो हिंसा करता है उसके फलस्वरूप इस जन्म में उसकी हिंसा हो सकती है, पर जन्म में अकाल मरण, रोग आदि यातनाएँ सहन करनी पड़ती है।

झूठ बोलने से दूसरों का विश्वास झूठ बोलने वाले पर से उठ जाता है, जिह्वा छेद आदि दण्ड मिलता है। केवल एक बार झूठ बोलने पर राजा वसु का स्फटिकमय सिंहासन फट गया। वह नीचे गिरा तथा पृथ्वी भी फट गई और वह पृथ्वी में समावेश

होकर नरक में गया। मिथ्या बोलने वाला परभव में गूँगा (मूक) होता है, मुँह में घाव होता है और मुँह से दुर्गन्ध आती है।

चोरी करने वाला इस जन्म में अनेक शारीरिक दण्ड को पाता है। उस पर कोई विश्वास नहीं करता है। राजा सरकारादि उसके धन अपहरण करके जेल में दण्ड देते है, यहाँ तक कभी-कभी प्राणदण्ड मिलता है। परभव में भिखारी बनता है एवं उसका भी धन अपहरण अन्य के द्वारा किया जाता है।

मैथुन सेवन में शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कष्ट होता है क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार एक बार संभोग से जो वीर्य क्षय होता है उतना वीर्य 42 दिन के भोजन से तैयार होता है। इससे सुजाक, मस्तिष्क दुर्बलता, शारीरिक शक्ति का ह्रास, स्मरण शक्ति का ह्रास, रोग प्रतिरोधक शक्ति की कमी आदि अनेक विपत्तियाँ आ घेरती है। वर्तमान में जो एड्स रोग ने विश्व में आतंक फैलाया है उस महारोग की उत्पत्ति एवं वृद्धि अब्रह्मचर्य से ही हुई है। अब्रह्मचर्य से ही जनसंख्या की वृद्धि होती है और इसकी वृद्धि से खाद्याभाव, आवास का अभाव, प्रदूषण में वृद्धि, भूखमरी, समुचित शिक्षा-दीक्षा का अभाव आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अब्रह्मचारी-अति कामुक व्यक्ति हिताहित विवेक से रहित होकर परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि कार्य भी करता है। जिससे उसे अपमान, दण्ड, सामाजिक अप्रतिष्ठा आदि अनेक समस्याएँ आ घेरती हैं। कभी-कभी कुशील सेवन से प्राणदण्ड तक मिलता है।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने काम भोग से उत्पन्न दुःख का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्, काम कः सेवते सुधीः।। (17)

आरम्भ में सन्ताप के कारण प्राप्त होने पर अतृप्ति के करने वाले तथा अंत में जो बड़ी कठिनाई से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोग को कौन विद्वान्-समझदार-आधिक्य व आसक्ति के साथ सेवन करेगा?

किमपीदं विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूयं मनोभवे-भवे नैव-चेतयते।।

अहो! यह विषयमयी विष कैसा विषम विष है कि जिसे बलात् खाकर यह मनुष्य, भव-भव में नहीं चेत पाता है।

जैन धर्म में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील को जैसे पाप माना है वैसे परिग्रह को भी माना है। पाप का अर्थ है-पतन। जिसके कारण जीव पतित होता है उसे पाप कहते हैं। सचित्त एवं अचित्त परिग्रह के कारण जीव अनेक कष्टों को उठाता है तथा अनेक पापों को करता है। परिग्रह संचय के कारण ही समाज में धनी-गरीब, शोषक, शोषित, मालिक, मजदूर आदि विपरीत विषम परिस्थिति से युक्त व्यक्ति का निर्माण होता है। जिसके पास परिग्रह रहता है वह अधिक लोभी, अधिक शोषक, गर्वी बन जाता है। क्योंकि परिग्रह के कारण उसे धनमद हो जाता है। इसे ही कबीरदास ने कहा है-

कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वे पावे बौराय नर, वे खाये बौराय।।

कनक (धन-सम्पत्ति) कनक (धतूरा, विषाक्त फल) से भी सौ गुनी मादक गुणयुक्त है। क्योंकि कनक (धतूरा) को खाने पर जीव नशायुक्त (पगले) हो जाते हैं परन्तु कनक (धन-सम्पत्ति) को प्राप्त करते ही जीव मदयुक्त हो जाता है।

धन-सम्पत्ति (परिग्रह) सर्वथा, सर्वदा दुःखदायी है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है-

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरानिव सर्पिषा।। (13)

जैसे कोई ज्वर वाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़कर अपने को स्वस्थ्य मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य कठिनाई से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसे धन आदि को से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

अर्थस्योपार्जने दुःखपर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्।।

धन अर्जित करने में दुःख उसकी रक्षा करने में दुःख उसके जाने में दुःख, इस तरह हर स्थिति में दुःख के कारण रूप धन को धिक्कार हो।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।

न तु कामसुखैः पुमानहो, बलवत्ता खलु कापि कर्मणः।।

यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या बलवत्ता है।

निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च

सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।। (11)

प्राणी मात्र में मैत्री, गुणाधिकारों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणावृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भावना करनी चाहिए।

(1) मैत्री–दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा मैत्री भाव है। स्वकीय काय, वचन, मन, कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा दूसरे को दुःख न होने देने की अभिलाषा, मित्र का धर्म अथवा कर्त्तव्य मैत्री है।

(2) प्रमोद–मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अंतर्भक्ति और राग प्रमोद है। मुख की प्रसन्नता, नयनों का आह्लाद, रोमांच का उद्भव, स्तुति, निरंतर सद्गुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अंतरंग की भक्ति और राग तथा विशेष रीति से जो मोद (प्रसन्नता) होता है उसे प्रमोद कहते हैं।

(3) कारुण्य–दीनों के प्रति अनुग्रह भाव कारुण्य है। शारीरिक और मानसिक दुःख से दुःखी, दीन (अनाथ) प्राणियों के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करुणा है और करुणा का भाव या कर्म कारुण्य कहलाता है।

(4) माध्यस्थ–राग-द्वेषपूर्वक पक्षपात का अभाव माध्यस्थ है। राग और द्वेष से किसी के पक्ष में पड़ना पक्षपात है। उस राग-द्वेष के अभाव से मध्य में रहना मध्यस्थ है तथा मध्यस्थ का भाव या कर्म माध्यस्थ भाव है।

(5) सत्त्व–अनादि कर्मबंधन के वश से जो दुःखी होते हैं, वे सत्त्व हैं। अनादिकालीन अष्टविध कर्मबंध संतान से तीव्र दुःख की कारणभूत चारों गतियों में जो दुःख उठाते हैं, वे सत्त्व कहलाते हैं।

(6) गुणाधिक-सम्यग्ज्ञानादि गुणों से प्रकृष्ट को गुणाधिक कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र आदि गुण हैं, वे गुण जिनके अधिक हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं।

(7) क्लिश्यमान-असाता वेदनीय कर्म के उदय से संतप्त क्लिश्यमान है। असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो शारीरिक और मानसिक दुःखों (आधि-व्याधि) से संतप्त हैं, वे क्लिश्यमान हैं।

(8) अविनेय-तत्त्वार्थोपदेश के श्रवण-ग्रहण के द्वारा असम्पादित गुण वाला अविनेय है। न विनेय अविनेय है। अर्थात् विपरीत वृत्ति वाले अविनेय हैं।

(9) विनेय-तत्त्वार्थ का उपदेश श्रवण करने और उसे ग्रहण करने के जो पात्र होते हैं, उन्हें विनेय कहते हैं।

इस सत्त्वादि में मैत्री आदि भावना यथाक्रम भानी चाहिये। जैसे-'मैं सब जीवों के प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है।' इत्यादि प्रकार से जीवों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिये। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रादि गुणाधिकों के प्रति वन्दना, स्तुति, वैयावृत्तिकरणादि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिये। मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधिज्ञान से युक्त विषय तृष्णा रूपी अग्नि के द्वारा दह्यमान मानस वाले, हिताहित से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, कृपण, बालवृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणा भाव रूपी भावना भानी चाहिये। ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत, विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति प्राणियों में माध्यस्थ भावना रखनी चाहिये। ऐसा समझ लेना चाहिए कि ऐसे जीवों में वक्ता के हितोपदेश की सफलता नहीं हो सकती। इस प्रकार भावना भाने वालों के अहिंसादि व्रत परिपूर्ण होते हैं।

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्। (12)

For संवेग Samvega, the apprehension of the miseries of the world and वैराग्य Vairagya, non attachment to sense pleasures (we

should meditate upon) the nature of the world and of our physical body.

संवेग और वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिए।

अपने स्वरूप में होना (रहना) स्वभाव है। अर्थात् स्वकीय असाधारण कर्म में स्थिर होना स्वभाव कहा जाता है। जगत् और काय जगत्काय, जगत्काय का स्वभाव जगत्काय स्वभाव।

विविध प्रकार की वेदना से अभिव्याप्य (आकारभूत) शरीर से भीरूता, संवेदन संवेग कहलाता है।

राग के कारणों का अभाव होने से, विषयों से विरक्त होना वैराग्य है। चारित्र मोह के उदय का अभाव होने पर वा होने वाले चारित्र मोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना विराग है, ऐसा जानना चाहिये। विराग का भाव या कर्म वैराग्य कहलाता है। संवेग और वैराग्य, संवेगवैराग्य। संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभाव का विचार करना चाहिये। तद्यथा-जगत्स्वभाव, आदिमान् और अनादिमान् परिणाम वाले द्रव्यों का समुदाय ही संसार है, जो तालवृक्ष के आकार वाला है, अनादिनिधन है। इस संसार में ये जीवात्माएँ देव, नारकी, मानव और तिर्यंच स्वरूप चारों गतियों में अनेक प्रकार के दुःखों को भोग-भोगकर परिभ्रमण कर रही है। इसमें कोई भी वस्तु नियत वा स्थिर नहीं है। जीवन जल बुदबुद के समान चपल है, भोग-सम्पदा विद्युत् और मेघ के समान क्षणभंगुर है, इस प्रकार जगत् के स्वभाव का विचार करना चाहिये। शरीर अनित्य है, दुःख का हेतु है, निस्सार है और अशुचि है इत्यादि भावना शरीर का विचार है। इस प्रकार शरीर और संसार की भावना भाने वाले के संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ-परिग्रह में दोष दृष्टिगोचर होने से आरम्भ एवं परिग्रह से विरति होना धर्म है और धर्म से धर्म में, धार्मिकों में, धर्मश्रवण में और धार्मिक-दर्शन में बहुमान होता है (आदर भाव होता है), उनके प्रति मानसिक आह्लाद होता है। उत्तरोत्तर गुणों में की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) में श्रद्धा और वैराग्य होता है। यही संसार शरीर-भोगोपभोग वस्तु से निर्वेद होता है तथा भावना भाने वाला मानव अच्छी तरह से व्रतों का पालन करता है।

हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। (13)

By (प्रमत्तयोग) Passional vibrations, (प्राणव्यपरोपणं) the hurting of the vitalities, (is) (हिंसा) injury.

प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है।

अनवगृहीत प्रचार विशेष को प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों के प्रचार विशेष का निश्चय न करके जो प्रवृत्ति होती है वा बिना विचार जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रमत्त है। जैसे सुरा (मदिरा) पीने वाला मदोन्मत होकर कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य को नहीं जानता है उसी प्रकार प्रमत्त वाला जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान को नहीं जानने वाला अविद्वान् (मूर्ख प्राणी) कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणों में व्यापार करता है, उनमें स्थित रहता है परन्तु सामान्यता अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता है। अतः मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है। (इसमें 'मदोन्मत्त इव' अर्थ गर्भित) है। अथवा पन्द्रह प्रमाद से परिणत होने से भी प्रमत्त कहलाता है। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादों से जो परिणत (युक्त) होता है वह प्रमत्त कहलाता हैं।

काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। प्रमत्त-प्रमाद परिणत व्यक्ति के योग को प्रमत्त योग कहते हैं। 'प्रमत्तयोगात्' यह हेतु अर्थ में पंचमी है अतः प्रमत्तयोग के कारण प्राणों का व्याघात करना हिंसा है, इसमें प्रमत्तयोग कारण है (भाव हिंसा है) और प्राण का व्याघात कार्य (द्रव्य हिंसा) है। 'व्यपरोपण' का अर्थ वियोग करना है। व्यपरोपणं, वियोगकरण ये एकार्थवाची हैं, प्राणों का लक्षण पंचम अध्याय में कहा है, उन प्राणों का व्यपरोपण प्राणव्यपरोपण है। प्राणों का व्याघात प्राणपूर्वक होता है अतः प्राण का ग्रहण किया गया है। प्राणों के वियोगपूर्वक ही प्राणी का वियोग होता है, क्योंकि स्वतः प्राणी निरवयव है, अतः उसके वियोग का अभाव है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में हिंसा का व्यापक स्वरूप का अनूठा वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

हिंसा का व्यापक स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।। (42)

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है; असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोध करने के लिये कहे गये हैं।

हिंसा का लक्षण

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।। (43)

निश्चय करके कषाय सहित योगों से द्रव्य और भावरूप प्राणों का जो नष्ट करना है वह निश्चित रूप से हिंसा होती है।

अहिंसा और हिंसा का लक्षण

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवात्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। (44)

निश्चय करके रागादिक भावों का उदय में नहीं आना अहिंसा कहलाती है, इसी प्रकार एवं उन्हीं रागादिक भावों की उत्पत्ति का होना हिंसा है इस प्रकार जिनागम का अर्थात् जैन सिद्धांत का सारभूत रहस्य है।

वीतरागी को हिंसा नहीं लगती

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।

न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।। (45)

योग्य आचरण वाले अर्थात् यत्नाचार-पूर्वक सावधानी से कार्य करने वाले सज्जन पुरुष को रागादि रूप परिणामों के उदय हुए बिना प्राणों का घात होने मात्र से कभी निश्चय करके हिंसा नहीं लगती है।

सरागी को बिना प्राण घात के भी हिंसा लगती है

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।

म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।। (46)

रागादिकों के वश में प्रवर्तित प्रमाद अवस्था में जीव मर जाय अथवा नहीं मरे, नियम से हिंसा आगे दौड़ती है।

इसमें हेतु

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु।। (47)

क्योंकि आत्मा कषाय सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने आप को मार डालता है, पीछे दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा नहीं हो।

प्रमादयोग में नियम से हिंसा होती है

हिंसायामविरणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यं।। (48)

हिंसा में विरक्त न होना तथा हिंसा में परिणमन करना हिंसा कहलाती है इसलिये प्रमाद योग में नियम से प्राणों का घात होता हैं।

हिंसा के निमित्तों को हटाना चाहिये

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।। (49)

निश्चय करके आत्मा के सूक्ष्म भी हिंसा जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी नहीं होती है तो भी परिणामों की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतनों-हिंसा के निमित्त कारणों का त्याग करना चाहिये।

असत्य का लक्षण

असदभिधानमनृतम्। (14)

Falsehood (is) to speak harmful words (through प्रमत्त योग Pramattyoga, passional vibrations).

असत् बोलना अनृत है।

इस सूत्र में 'सत्' का प्रतिषेधक 'असत्' शब्द नहीं है अपितु 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है, अतः 'न सत्-असत्' का अप्रशस्त अर्थ होता है, शून्य वा तुच्छाभाव नहीं।

असत्-अप्रशस्त अर्थ का अभिधान-कथन, अप्रशस्त अर्थ को कहने वाला वचन असत् अभिधान है।

'ऋत' शब्द सत्यार्थ में है। 'ऋत' यह पद सत्यार्थ में जानना चाहिए अर्थात् ऋतं सत्य और अनृत-असत्य है। विद्यमान पदार्थों के अस्तित्व में कोई विघ्न उत्पन्न न करने के कारण 'सत्सु साधु सत्यम्' यह व्युत्पत्ति भी सत्य की हो सकती है (यानी समीचीन श्रेष्ठ पुरुषों में जो साधु वचन बोला जाता है, वह सत्य कहा जाता है)। 'न ऋत अनृतं' जो ऋत वचन नहीं है, वह अनृत वचन-असत्य वचन कहा जाता है।

अतः मिथ्या शब्द से विद्यमान का लोप तथा अविद्यमान के उद्भावन करने वाले जो अभिधान (कथन) हैं वे ही अनृत (असत्य) होंगे। जैसे-आत्मा नाम पदार्थ नहीं है, परलोक नहीं है, श्यामतण्डुल बराबर आत्मा है, अँगूठे की पौर बराबर आत्मा है; आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय है; इत्यादि वचन ही मिथ्या (विपरीत) होने से अनृत कहे जायेंगे, किन्तु जो विद्यमान (सत्) अर्थ को भी कहकर परप्राणी की पीड़ा करने वाले अप्रशस्त वचन हैं वे अनृत नहीं होंगे। क्योंकि मिथ्यानृत में मिथ्या का अर्थ विपरीत है और परप्राणी-पीड़ाकारी वचन विपरीत नहीं है।

अतः परपीड़ाकारी अप्रशस्त वचन हैं, वे असत्य कोटि में नहीं आयेंगे। 'असत्' कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची वचन हैं, वे असत्य कोटि में नहीं आयेंगे। 'असत्' कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची वचन हैं, वे सभी अनृत (असत्य) कोटि में आ जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणी पीड़ाकारी हैं वे सभी अनृत (असत्य) ही है; ऐसा जाना जाता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है-

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः।। (91) पु.सि.

जो कुछ प्रमाद कषाय के योग से स्व को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप वचन कहने में आता है उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिये उसके भेद चार हैं।

प्रथम भेद

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्धयते वस्तु।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।। (92)

जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध करने में आता है वह प्रथम असत्य है जैसे 'यहाँ देवदत्त नहीं है।'

दूसरा भेद

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।

उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।। (93)

निश्चय से जिस वचन में उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अविद्यमान होने पर भी वस्तु का स्वरूप प्रगट करने में आवे वह दूसरा असत्य है। जैसे यहाँ घड़ा है।

तीसरा भेद

वस्तु सदपि स्वरूपात पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।

अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरितियथाऽश्वः।। (94)

और जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहने में आता है उसे यह तीसरा असत्य जानो। जैसे बैल को घोड़ा है ऐसा कहना।

चौथा भेद

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपयत्।

सामान्येन त्रेधा ममिदमनृतं तुरीयं तु।। (95)

और यह चौथा असत्य सामान्य रूप से गर्हित, पाप सहित और अप्रिय इस तरह तीन प्रकार माना गया है।

गर्हित का स्वरूप

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।। (96)

दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला कठोर मिथ्या-श्रद्धानवाला और प्रलापरूप तथा और भी शास्त्रविरुद्ध वचन है वह सभी निन्द्यवचन कहा गया है।

अवद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।

तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते।। (97)

जो छेदना, भेदना, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं वे सब पाप युक्त वचन हैं क्योंकि यह प्राणी-हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन करते हैं।

अप्रिय असत्य का स्वरूप

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।। (98)

जो वचन दूसरे जीव को अप्रीतिकारक भयकारक खेदकारक वैर शोक तथा कलहकारक हो और जो अन्य जो भी सन्तापकारक हो वह सर्व ही अप्रिय जानना चाहिये।

असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।

अनृतवचनेपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।। (99)

चूँकि इन सभी वचनों में प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है इसलिये असत्य वचन में भी हिंसा निश्चित रूप से आती है।

प्रमादसहित योग हिंसा का कारण

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्।। (100)

समस्त झूठ वचनों का प्रमाद सहित योग हेतु निर्दिष्ट करने में आया होने से हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का कहना झूठ नहीं है।

इसके त्याग का प्रकार

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।

ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु।। (101)

जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र सावद्यवचन छोड़ने में असमर्थ हैं वे भी बाकी के सभी असत्य भाषण का निरंतर त्याग करें।

स्तेय-चोरी का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम्। (15)

Theft (is) to take anything which is not given, (through Pramattayoga).

बिना दी गई वस्तु का लेना स्तेय है।

आदान शब्द का अर्थ ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तु का लेना अदत्तादान है और यही स्तेय-चोरी कहलाता है। सूत्र में जो 'अदत्त' पद का ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना संभव है वहीं स्तेय का व्यवहार होता है।

शंका-स्तेय का उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षु के ग्राम, नगरादिक में भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर बिना दी गई वस्तु का ग्रहण प्राप्त होता है?

समाधान-यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि वे गली, कूचा और दरवाजा आदि सबके लिए खुले हैं। यह भिक्षु जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजा आदि में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले नहीं है, अथवा, 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है जिसमें यह अर्थ होता है कि प्रमत्त के योग के बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना स्तेय है।

गली, कूचा आदि में प्रवेश करने वाले भिक्षु के प्रमत्तयोग तो है नहीं इसलिए वैसा करते हुए स्तेय दोष नहीं लगता। इस सब कथन का यह अभिप्राय कि बाह्य वस्तु ली जाय न ली जाय किन्तु जहाँ क्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी चोरी का लक्षण निम्न प्रकार किया गया हैं-

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।

तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।। (102)

जो प्रमाद के योग से बिना दिये हुए परिग्रह का ग्रहण करना है वह चोरी जानना चाहिये और वही हिंसा का कारण होने से हिंसा है।

धनादि ब्राह्यप्राण है

अर्थानाम् य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसा।

हरति य तस्य प्राणान् यो जस्य जनो हरत्यर्थान्।। (103)

जितने भी धन, धान्य आदि पदार्थ हैं ये पुरुषों के ब्राह्यप्राण हैं। जो पुरुष जिसके धन, धान्य आदि पदार्थों को हरण करता है वह उसके प्राणों का नाश करता है।

हिंसा और चोरी में अव्याप्ति नहीं है

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।

ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः।। (104)

हिंसा की और चोरी की अव्याप्ति नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार किये गये द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमादयोग अच्छी तरह घटता है इसलिये हिंसा वहाँ होती ही है।

चोरी छोड़ने का उपदेश

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं।

तैरपि समस्तपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यं।। (106)

जो पुरुष कूपजल आदि के हरण करने की निवृत्ति को करने के लिये असमर्थ हैं उन पुरुषों के द्वारा भी दूसरा समस्त बिना दिया हुआ द्रव्य सदा छोड़ देना चाहिये।

जैनधर्म की परम विशेषता-पतित भी बनते भगवान्!

(1 गुणस्थान से 14 गुणस्थान व सिद्ध)

सम्पूर्ण दोष मुक्त होने के उपाय-अन्त्योदय से सर्वोदय।

(सम्पूर्ण दोषमुक्त होने के लक्षण है- अनन्तज्ञानदर्शन सुख वीर्य)

(व्यवहार-कानून-सामाजिक से ले प्रायश्चित्त ग्रन्थ)

(वर्णित निर्दोषी नहीं पूर्णतः अरिहन्त-सिद्ध सम निर्दोषी)

(चालः-आत्मशक्ति...)

अठारह दोष रहित होने पर ही जीव होते सम्पूर्ण निर्दोष।

चार घातिया कर्म नाश होने पर, नाश होते हैं अठारह दोष।।

इस के पूर्व कोई भी जीव नहीं हो सकते सम्पूर्ण निर्दोष।
भले स्थूल रूप में इसके पूर्व उनमें नहीं मानवीय दोष।।(1)।।
अठारह दोष वे होते हैं-जन्म, जरा, तृष्णा, क्षुधा व विस्मय।
अरति, खेद व रोग, शोक, मद, भय, निद्रा, चिन्ता व स्वेद।।
राग, द्वेष, मोह और मरण ये दोष नहीं होते अरिहन्त को।
सिद्ध भगवान् तो इन से भी परे नाश करते अघाती कर्म को।।(2)
इनसे अतिरिक्त अन्य सभी जीव न होते पूर्णतः निर्दोष।
मिथ्यादृष्टि तो सभी दोषों से युक्त होते हैं पूर्णतः विशेषतः।।
अनादि अनन्तकाल से अनन्त कर्मों के कारण अनन्त दोष युक्त है जीव।
जिस के कारण सभी दोष मुक्त होने हेतु चाहिए अनन्त पुरुषार्थ।।(3)
अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ व मोह नाश से क्षायिक सुदृष्टि।
तथापि वे अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन व नो कषाय दोष से न मुक्ति।
ये सभी दोष होते क्षायिक सम्यकत्वी में भी भले वे हो दो कल्याण युक्त।
तीर्थंकर तक में ये दोष रहते हैं जब तक वे न होते अणुव्रतयुक्त।।(4)
क्षायिक सम्यग्दृष्टि जब बनते हैं अणुव्रतधारी निःशल्यश्रावक।
तब उन के अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ रूपी दोष होते निवारण।।
जब वे बनते हैं महाव्रतधारी तब उनके प्रत्याख्यान क्रोधादि दोष होते दूर।
वे होते हैं साधु, उपाध्याय, आचार्य व गणधर देव, ऋद्धिधर।।(5)।।
संज्वलन क्रोधमान माया लोभ व नो कषाय रूपी दोषक्षय।
क्षपकश्रेणी आरोहण से बारहवाँ गुणस्थान तक में होते क्षय।।
उपशम सम्यग्दृष्टि यदि करते हैं उपशम श्रेणी आरोहण।
उनके उक्त दोष ग्यारहवाँ गुणस्थान तक होते उपशम नहीं क्षय।।(6)।।
बारहवाँ गुणस्थान अतएव है क्षीणमोह गुणस्थान आगम वर्णित।
तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है ज्ञान दर्शन अन्तराय जब होते नष्ट।।
यह अवस्था ही केवली अवस्था है यहाँ से न होते अठारह दोष।
शेष अघाती नाश से जीव बनते हैं सिद्ध परमात्मा रूपी शुद्ध।।(7)।।
ऐसे जीव ही अनन्तकाल तक रहेंगे शुद्ध बुद्ध आनन्द।

यह अवस्था ही हर जीव की परम अवस्था हैं ''सव्वेसुद्धाहुसुद्धणया''।।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा जीव बन सकते हैं निर्दोष।
अंजनचोर विद्युत्चोर भी निरंजन बने, सिंह भी क्रमशः बने वीर भगवान्।।(8)।।
इस प्रक्रिया से अनन्त जीव दोष क्षय से बने हैं सिद्ध।
सिद्ध स्वरूप ही जीवों का निजस्वरूप दोष नहीं है आत्मस्वरूप।।
यह जैन धर्म की परमविशेषता है अन्यत्र दुर्लभ यह सिद्धान्त।
निगोद से व प्रथम गुणस्थान से जीव गुणस्थान वृद्धि से बने अरिहंत-सिद्ध।।(9)।।
यह ही परमक्रम विकास सिद्धान्त है यह ही परमसाम्यवाद।
यह ही परमधर्म है जो जीवों को प्राप्त कराये परम सुख।।
व्यवहार, कानून, समाज से ले प्रायश्चित ग्रन्थ वर्णित निर्दोष।
नहीं होता हैं परम निर्दोष यथा अष्टादशदोष मुक्त आप्त भगवन्त।।(10)।।
ये सब वर्णन करणानुयोग उक्त आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञेय।
यथायोग्य निर्दोष भी ज्ञेय व्यवहार से ले प्रायश्चित्त ग्रन्थ युक्त/(उत्तम)
यह सब जानकर परम निर्दोष बनने हेतु पुरुषार्थ करो हे! भव्य।
ऐसे भव्य ही निर्दोष पूर्ण बनकर पाते हैं परमात्म पद।।(11)।।
इस हेतु ही धर्म पालनीय जो अन्त्योदय से सर्वोदय प्रद।
अन्यथा धर्म कुधर्म है ''कनकसूरी'' का लक्ष्य सर्वोदय पद।।(12)

ग.पु.कॉ. 23-04-2020 रात्रि 9.51 व 12.59 व 3.06 प्रातः 7.28

मांस भक्षी मृगध्वज बना तद्भव में भगवान्

(आराधना कथा कोष)

सीमन्धर अयोध्या के राजा थे। उनको रानी का नाम जिनसेना था। इनके एक मृगध्वज नाम का पुत्र था। यह माँस का बड़ा लोलुपी था। इसे बिना मांस खाये एक दिन भी चैन न पड़ता था। यहाँ एक राजकीय भैंसा था। वह बुलाने से पास चला आता, लौट जाने को कहने से चला जाता और लोगों के पाँवों मे लोटने लगता। एक दिन यह भैंसा एक तालाब में क्रीड़ा कर रहा था। इतने में राजकुमार मृगध्वज, मंत्री और सेठ के लड़कों को साथ लिए यहाँ आया।

इस भैंसे के पाँवों को देखकर मृगध्वज के मन में न जाने क्या धुन समाई सो इसने अपने नौकर से कहा - देखो, आज इस भैंसे का पिछला पाँव काट कर इसका मांस खाने को पकाना। इतना कहकर मृगध्वज चल दिया। नौकर उसके कहे अनुसार भैंसे का पाँव काट कर ले गया। उसका मांस पका। उसे खाकर राजकुमार और उसके साथी बड़े प्रसन्न हुए।

इधर बेचारा भैंसा बड़े दुःख के साथ लँगड़ाता हुआ राजा के सामने जाकर गिर पड़ा। राजा ने देखा कि उसकी मौत आ लगी है। इसलिए उस समय उसने विशेष पूछ-पाछ न कर, कि किसने उसकी ऐसी दशा की है, दयाबुद्धि से उसे संन्यास देकर नमस्कार मन्त्र सुनाया। सच है, संसार में बहुत से ऐसे भी गुणवान् परोपकारी हैं, जो चन्द्रमा, सूर्य, कल्पवृक्ष, पानी आदि उपकारक वस्तुओं से भी कहीं बढ़कर हैं। भैंसा मरकर नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से स्वर्ग में जाकर देव हुआ। सच हैं, जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश किया पवित्र धर्म जीवों का वास्तव में हित करने वाला है।

इसके बाद राजा ने इस बात का पता लगाया कि भैंस की यह दशा किसने की! उन्हें जब यह नीच काम अपने और मंत्री तथा सेठ के पुत्रों का जान पड़ा तब तो उनके गुस्से का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने उसी समय तीनों को मरवा डालने के लिये मंत्री को आज्ञा की। इस राजाज्ञा की सूचना उन तीनों को भी लग गई। तब उन्होंने त्वरित मुनिदत्त के पास जाकर उनसे जिन दिक्षा ले ली। इनमें मृगध्वज महामुनि बड़े तपस्वी हुए। उन्होंने कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर संसार द्वारा वे पूज्य हुए। सच है, जिनधर्म का प्रभाव ही कुछ ऐसा अचिन्त्य है जो महापापी से पापी भी उसे धारण कर त्रिलोक-पूज्य हो जाता है और ठीक भी है, धर्म से और उत्तम है ही क्या?

पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्यगुणनिर्जराः।(45)

सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधिविसंयोक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक,

उपशांतमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती तब तक आस्रव और बंध की परम्परा चलती ही रहती है। यह बंध की परम्परा मिथ्यादृष्टि के अनादि से है। उसकी जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि केवल आस्रव और बंध तत्त्व का कर्त्ता है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव के ज्ञान एवं दर्शन में परिवर्तन हो जाता है। जिस अंश में दर्शन-ज्ञान-चारित्र में सम्यक् भाव है उतने अंश में संवर, निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र आत्मा का स्वभाव है।

पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है-

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।(212)
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।।
येनांशेन रागस्तेनांशेस्य बन्धनं भवति।।(213)
येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।(214)

जिस अंश में आत्मा के सम्यग्दर्शन है उस अंश में अर्थात् उस सम्यग्दर्शन द्वारा इस आत्मा के कर्मबंध नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन कर्मबंध का कारण नहीं है और जिस अंशे से रागभाव हैं सकषाय परिणाम उस अंश में कर्मबंध होता है। जिस अंश में आत्मा के सम्यक् ज्ञान है उस अंशेन इस आत्मा के कर्मबंध नहीं है और जिस अंश से इसके राग है उस अंश से इसके कर्मबंध होता है। जिस अंश से चरित्र हैं उस अंश से इस आत्मा के कर्मबंध नहीं है और जिस अंश से इसके राग भाव है उस अंश से इसके कर्मबंध होता है।

पात्र की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा और उसके द्रव्य प्रमाण और काल प्रमाण का वर्णन गोम्मट्टसार में निम्न प्रकार किया है-

सम्मत्तुप्पत्तीये-सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते।।(66)

खवगे य खीणमोहे-जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति।।(67)

सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनंतानुबंधी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाले 8-9-10वें गुणस्थानवर्ती जीव क्षीण, मोह, सयोग केवली और अयोग केवली दोनों प्रकार के जिन इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी अधिक-अधिक होती जाती है और उसका काल इसके विपरीत है। क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है।

सम्यग्दृष्टि (अविरत) - जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे-जैसे ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है, या विष मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एक देश वेग कम होने पर चेतना आती हैं अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है - उसी प्रकार अनंतकाय आदि एकेन्द्रियों में बार-बार जन्म-मरण परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत त्रस पर्याय मिलती है। कभी मुनिराज कथित जिन धर्म को सुनता है तथा कदाचित् प्रतिबंधी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है। जैसे-कतक फूल के सम्पर्क से जल का कीचड़ बैठ जाता है और जल निर्मल बन जाता है उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अति मलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रथम सम्यक्त्व आदि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दशों स्थान क्रमशः असंख्येय गुणी निर्जरा वाले हैं। सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करण लब्धि को प्राप्त करके उसके अधःप्रवृत्तकरण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टि के जो कर्मों

की निर्जरा होती है वह पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्व दशा में होने वाली या पाई जाने वाली निर्जरा से असंख्यात गुणा अधिक हुआ करती है।

यह कथन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड की अपेक्षा है। इसी से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा होती है उस निर्जरा को यहाँ पर इकाई रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा निर्जरा के स्थान दश है और गोम्मट्टसार की अपेक्षा निर्जरा के स्थान ग्यारह है परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में जो अंतिम स्थान 'जिन' है उसे सयोगी जिन एवं अयोगी जिन रूप में विभक्त करने से तत्त्वार्थसूत्र में भी ग्यारह स्थान हो जाते हैं।

श्रावक (पंचम गुणस्थान) अवस्था प्राप्त होने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह असंयत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यात गुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी अधिक-अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है तथा इस निर्जरा का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा-संख्यातगुणा हीन-हीन होता गया है अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है उससे संख्यात गुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा करता है। इसी प्रकार आगे के विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यतगुणे हीन-हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी अधिक-अधिक होती जाती है तात्पर्य यह है कि, जैसे-जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक-अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उस स्थानों में गुण श्रेणी निर्जरा कही जाती हैं।

निर्ग्रंथ-साधुओं के भेद

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः। (46)

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रथ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रथ हैं।

(1) पुलाक- अपरिपूर्ण व्रत वाले और उत्तरगुण से रहित पुलाक होते हैं। जिनके मन में उत्तरगुणों के पालन करने की भावना नहीं हैं, मूलगुणों की भी कभी-कभी विराधना करते है अर्थात् मूलगुणों का भी परिपूर्ण पालन नहीं करते हैं, वे बिना पके वा जिसमें पूर्ण शुद्धि नहीं हुई है, उस पुलाक धान्य के समान व्रतों की शुद्धि न होने से पुलाक इस नाम को धारण करते हैं, अर्थात् पुलाक कहलाते हैं।

(2) बकुश- जो निर्ग्रंथ यद्यपि मूलगुणों का अखण्ड रूप से (निर्दोषता से) पालन करते हैं, परन्तु शरीर और उपकरणों की सजावट में जिनका चित्त लगा है, यश और ऋद्धियों की जो कामना करते हैं, साता और गौरव से युक्त हैं, परिवार के ममत्व से जिनकी चित्तवृत्ति निवृत्त नहीं हुई है और छेद से जिनका चित्त शबल अर्थात् चित्रित है, क्योंकि बकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है।

(3) कुशील- प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के भेद से कुशील मुनि दो प्रकार के हैं। यहाँ कुशील का अर्थ व्यभिचार नहीं हैं। परिग्रह की भावना सहित (अंतरंग में कमण्डलु आदि परिग्रह की अभिलाषा बनी रहती है) मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करने वाले प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं।

ग्रीष्मकाल में उष्णता के कारण जंघाप्रक्षालन आदि का सेवन की इच्छा होने से जिनके संज्वलन कषाय जगती है और अन्य कषायें वश में हो चुकी हैं, वे कषाय कुशील कहलाते हैं।

(4) निर्ग्रन्थ- जैसे पानी में खींची गई रेखा शीघ्र ही विलीन हो जाती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अत्यन्त अनभिव्यक्त (नहीं के समान) हैं तथा जिनको अंतर्मुहूर्त के भीतर ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होने वाली हैं उन्हें निर्ग्रंथ कहते हैं, अर्थात् वे निर्ग्रंथ हैं। वा जिनके अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह नष्ट हो चुके हैं, वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं।

(5) स्नातक- घातियाँ कर्म के नाशक केवलज्ञानी स्नातक हैं। ज्ञानावरणीय घातिया कर्मों के नाश हो जाने से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रकट हुई हैं, जो योग सहित हैं, सम्पूर्ण शीलों के स्वामी हैं, वा शैल-पर्वत के समान

अचल अड़ोल अकम्प हैं, लब्धास्पद (कृतकृत्य) हैं वे सयोगकेवली स्नातक कहलाते हैं।

ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

दृष्टि रूप सामान्य की अपेक्षा सभी निर्ग्रंथ हैं; भूषा, वेष और आयुध से रहित निर्ग्रंथ रूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन के कारण पुलाक आदि सभी मुनियों में निर्ग्रंथता समान है, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि हैं और भूषा, वेष, आयुध से रहित हैं, अतः इनमें निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग सकारण है।

चारित्र गुणों की उत्तरोत्तर प्रकर्षता बनाने के लिए पुलाकादि का उपदेश है, अर्थात् चारित्र गुण का क्रम विकास और क्रम प्रकर्ष दिखाने के लिए इन पुलाकादि भेदों की चर्चा की है।

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयतश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः।(47)

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से इन निर्ग्रंथों का व्याख्यान करना चाहिये।

(1) संयम- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों को धारण करते हैं अर्थात् इनके दो संयम होते हैं। कषाय कुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रंथ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है।

(2) श्रुत की दृष्टि से- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षरदशपूर्व के धारी होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रंथ उत्कृष्ट चौदह पूर्व के धारी होते हैं। जघन्य से पुलाक का श्रुत आचारवस्तु के ज्ञान तक सीमित है। बकुश, कुशील और निर्ग्रंथों का जघन्य श्रुत आठ प्रवचनमातृकाओं (पाँच समिति और तीन गुप्ति) के ज्ञान तक है। स्नातक केवली है, अतः श्रुतातीत है।

(4) प्रतिसेवना- पाँच मूलगुण (अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत) तथा रात्रि भोजन त्याग रूप षष्ठ व्रत में से किसी की पर के दबाव से प्रतिसेवना (विराधना) करने वाला पुलाक मुनि होता है, अर्थात् पुलाक मुनि के पर के दबाव से पाँच महाव्रत और

रात्रि भोजन त्याग व्रत की विराधना हो जाती है। वह प्रतिसेवना है। बकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं- उपकरण बकुश और शरीर बकुश। उपकरणों (पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र) में जिनका चित्त आसक्त है, जो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिग्रह से युक्त हैं, जो सुंदर बहुविशेष रूप से अलंकृत उपकरणों के आकांक्षी हैं तथा जो उन उपकरणों का संस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण स्वच्छ, सुंदर दिखते रहे ऐसा उनका संस्कार किया करते हैं, ऐसे मुनि उपकरण बकुश कहलाते हैं। शरीर संस्कारसेवी (शरीर को स्वच्छ वा सुसज्जित रखने में तत्पर) भिक्षु शरीर बकुश कहलाता हैं। जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करने वाला है, परन्तु उत्तरगुणों की कभी-कभी विराधना करता है, वह प्रतिसेवना कुशील है। कषाय कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक के कभी भी व्रतों की विराधना नहीं होती, अतः ये प्रतिसेवना से रहित हैं।

(4) तीर्थ- सभी तीर्थंकरों के तीर्थं में पुलाक आदि मुनि होते हैं।

(5) लिंग- लिंग दो प्रकार का है- द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा ये पाँचों ही निर्ग्रंथलिंगी होते हैं, परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य हैं, अर्थात् भाव की अपेक्षा पाँचों ही प्रकार के मुनि भावलिंगी सम्यग्दृष्टि निष्प्रमादी हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुलाक आदि भेद हैं।

(6) लेश्या- पुलाक मुनि के उत्तर की तीन (पीत, पद्म और शुक्ल) लेश्या होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि वाले के उत्तर की चार (नील, पीत, पद्म, शुक्ल) लेश्या होती है। सूक्ष्मसाम्पराय, निर्ग्रंथ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगशैल को प्रतिपन्न (अयोग केवली) लेश्या रहित होते हैं। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान के ऊपर शुभ तीन लेश्या ही कही हैं, फिर चार लेश्या मानना ठीक नहीं है, क्योंकि भावलिंगी मुनि छठे आदि गुणस्थान में होते हैं, परन्तु छहों लेश्याओं का बकुश के जो वर्णन किया है, वह आर्त्तध्यान की अपेक्षा वर्णन किया है, कार्य में कारण का उपचार किया है।

(7) उपपाद-पुलाक का उत्कृष्ट रूप से उपपाद सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों तक है, अर्थात् पुलाक अठारह सागर की स्थिति वाले 12वें

स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट रूप से आरण और अच्युत कल्प में 22 सागर की उत्कृष्ट स्थिति में उपपाद होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रंथ, सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर की स्थिति में उत्पन्न होते हैं। पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ, इन सभी का जघन्य रूप से सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की आयु सहित देवों में उपपाद होता है। स्नातक के तो उसी भव से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

(8) स्थान-कषाय के निमित्त से असंख्यात-संयम स्थान होते हैं। उनमें कषाय कुशील और पुलाक के सर्वजघन्य लब्धि स्थान होते हैं। वे दोनों आगे एक साथ असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त होते हैं। उसके आगे पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है, अर्थात् संयमलब्धि की अधिक विशुद्धि होने से पुलाक भाव वाले मुनि नहीं रहते। उसके आगे कषाय कुशील असंख्यात संयम स्थानों को अकेला ही प्राप्त होता है। उसके आगे कषाय कुशील प्रतिसेवना कुशील और बकुश एक साथ असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त होते हैं, उसके आगे बकुश रूप परिणामों की व्युच्छित्ति हो जाती है। उसके आगे भी असंख्येय संयम स्थान (परिणामों की विशुद्धि) को प्राप्त होकर कषाय मन्द हो जाने से प्रतिसेवना कुशील रूप परिणामों की व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे असंख्यात संयम स्थानों के बीत जाने पर कषाय कुशील परिणामों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसके आगे अकषाय स्थान को प्राप्त होकर निर्ग्रंथ हो जाता है। वह निर्ग्रंथ भी असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त कर व्युच्छिन्न हो जाता है। उसके बाद निर्ग्रंथ (12वें गुणस्थानवर्ती) तक स्नातक (सयोग केवली और अयोग केवली) एक स्थान को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इसके संयम स्थान एक ही होता है क्योंकि कषायों के अभाव में संयम स्थान नहीं होते। इस प्रकार इनके संयम लब्धि अनंतगुणी होती है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। (1)

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

मोक्षशास्त्र में नवमें अध्याय तक जीव तत्त्व से लेकर संवर तत्त्व पर्यंत वर्णन हुआ है। अवशेष मोक्षतत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। मोक्ष का अर्थ- मुक्त होना, स्वतंत्र होना, शुद्ध होना, बंधनों से रहित होना, पूर्ण स्वावलम्बी होना है।

जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। योग्य अंतरंग-बहिरंग कारणों को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यग्ज्ञानी होकर सम्यग्चारित्र को धारण करता है। पहले बहिरंग परिग्रहों को त्याग करके मुनि चारित्र को स्वीकार करता है। ऐसे ही निर्ग्रंथ तपोधन धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को लेकर क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मोहनीय कर्म को नाश करके पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान आदि को प्राप्त करता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-

पूर्वोक्त विधि के साथ परम तपोविशेष के द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है और अप्रशस्त अशुभ अनुभाग कृश होकर विलीन हो जाता है। कोई वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थान में सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ करता है तथा सात प्रकृतियों का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करना प्रारंभ करता है। कोई असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियों का उपशम करना प्रारंभ करता है, पुनः अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम करके उपशमश्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरण-उपशमक व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामों में पापकर्मों के प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मों के अनुभाग को बढ़ाते हुए, अनिवृत्ति बादर साम्पराय उपशमक गुणस्थान में पहुँच जाता है। वहाँ नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छहनोकषाय पुंवेद, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध, दो मान, दो माया, दो लाभ, क्रोध-मान-संज्वलन नामकर्म प्रकृतियों का क्रमशः उपशम करता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के प्रथम समय में अर्थात् नौवें गुणस्थान के अंत भाग में माया संज्वलन का उपशम कर देता है तथा संज्वलन लोभ को कृश कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। पुनः उपशांत कषाय के प्रथम समय में लोभ संज्वलन

का उपशम कर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशांत कषाय कहलाता है। इस गुणस्थान में यदि आयु का क्षय हो जाय तो मरण हो सकता है अथवा पुनः कषायों की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है।

पुनः वही साधक या दूसरा कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए पूर्व के समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षायिक श्रेणी में आरूढ़ होकर पूर्वकथित लक्षण वाले अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति रूप तीन करणों के द्वारा अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान माया और लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को उखाड़कर छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर पुरुषवेद को क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन और माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादरकृष्टि विभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादर साम्परायक क्षपक गुणस्थान में पहुँच जाता है। तदनन्तर लोभ संज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर सूक्ष्म साम्परायक नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। सूक्ष्म साम्पराय अवस्था का अंतर्मुहूर्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीण कषाय (वा क्षपक मोह) नामक गुणस्थान को प्राप्त कर मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह क्षपक उस गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अंत समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एवं केवलदर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनंतदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त कर कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यमान मूर्ति केवली हो जाता है। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में मोहक्षय की प्रक्रिया एवं केवलज्ञान प्राप्त करने का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामल भायणदुय समचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं।।(72)

जिस निर्ग्रंथ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण कषाय नाम का बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है। जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकारों का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों भेदों का सर्वथा बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बारहवें गुणस्थान वाला माना जाता है इसलिए आगम में इसका नाम क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ 'छद्मस्थ' शब्द अन्त्य दीपक है और 'वीतराग' शब्द नाम, स्थापना और द्रव्यरूप वीतराग की निवृत्ति के लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

(सर्वज्ञ भगवान् का स्वरूप)

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो।।(63)
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवलि हु जोगेण।
जुत्तोति सजोगजिण, अणाइणिहणारिसेउत्तो।।(64)

जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह (उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवल लब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग, तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है।

बारहवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन घाती कर्म और अघाती कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने से अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य तथा नव केवल

लब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है, उस अरिहंत परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धेहत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।(2)

मोक्ष Liberation (is) the freedom from all Karmic matter, owing to the non existence of the cause of bondage and to the shedding (of all the Karmas)

बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित (संचित) कर्मों का विनाश हो जाता है।

प्रश्न- कर्मबंध संतान जब अनादि है तो उसका अंत नहीं होना चाहिए?

क्योंकि जो अनादि होता है उसका अंत नहीं होता तथा दृष्ट विपरीत (प्रत्यक्ष से विपरीत) की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है।

उत्तर- अनादि होने से अंत नहीं होता ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अंतिम बीज के जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबंध के कारणों को भस्म कर देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता, अर्थात् भवांकुर नष्ट हो जाता है। यही मोक्ष है, इस दृष्ट विषय का लोप नहीं कर सकते।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।

''बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।''

कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्म का कर्म अवस्था रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबंध के प्रत्यनीक (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप) कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्वपर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिये कृत्स्न कर्मक्षय की मुक्ति कहना युक्त ही है।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।(50)
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इन्दियरहिंद अव्वाबाहं सुहमणंतं।।(51) (पंचास्तिकाय)

कर्मों के आवरण में प्राप्त संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक विकल्प रूप भाव है वह अनादिकाल से मोह के उदय के वश राग-द्वेष रूप परिणमता हुआ अशुद्ध हो रहा है यही भाव है। अब इस भाव से मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगम की भाषा से काल आदि लब्धि को प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम रूप स्वसंवेदन ज्ञान को पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम होने पर फिर उनका क्षयोपशम होने पर सराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब अरिहन्त आदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्मा के आश्रित धर्मध्यान को पाकर आगम में कहे हुए क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत्त संयत पर्यंत चार गुणस्थानों के मध्य में से किसी भी एक गुणस्थान में दर्शनमोह को क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर मुनि अवस्था में अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदि से भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव करता है। फिर राग-द्वेष रूप चारित्र मोह के उदय के अभाव होने पर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र को प्राप्त कर लेता है जो चारित्र

के मोह के नाश करने में समर्थ है। इस वीतराग चारित्र के द्वारा मोहकर्म का क्षय कर देता है- मोह के क्षय के पीछे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त काल ठहरकर दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता है। इस ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों को एक साथ इस गुणस्थान के अन्त में जड़-मूल से दूरकर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय स्वरूप भाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स।।(152)

इस प्रकार वास्तव में इन (पूर्वोक्त) भावयुक्त (भाव मोक्ष वाले) भगवान् केवली को जिन्हें स्वरूप तृप्तपने के कारण कर्मविपाक कृत सुख, दुःख रूप विक्रिया नष्ट हो गई है उन्हें आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनंत ज्ञानदर्शन से सम्पूर्ण शुद्धज्ञान चेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्य द्रव्य के संयोग से रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्ति रूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है ऐसा आत्मा का स्वरूप (आत्मा की निज दशा) पूर्वसंचित कर्मों की शक्ति का शातन (क्षीणता) अथवा उनका पतन (नाश) देखकर, निर्जरा के हेतुरूप से वर्णन किया जाता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो।।(153)

वास्तव में केवली भगवान् को, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा का कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्म संतति कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही आयुकर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्घात विधान से आयुकर्म के जितनी होती है- आयुकर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव (सिद्धगति) के लिए भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) है वह द्रव्यमोक्ष है।

ज्ञानावरणी-दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्मों के क्षय से अरहंत केवली बनते हैं। तीर्थंकर केवली समोवशरण की विभूति के साथ उपदेश करके भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हैं और सामान्य केवली गंध

कुटी में विराजमान होकर भव्य जीवों को उपदेश देते हैं, तीर्थंकर केवली नियम से जघन्य रूप से नौ वर्ष एवं उत्कृष्ट रूप से अंतर्मुहूर्त अधिक 8 वर्ष कम, एक पूर्व कोटी वर्ष तक उपदेश करते हैं। अंत में समवशरण या गंधकुटी का विसर्जन होता है-दिव्यध्वनि का भी (उपदेश देना) संकोच हो जाता है और केवली योग निरोध करते हैं। जो मुनीश्वर 6 महीना आयु शेष रहते केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके नाम गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे केवली समुद्घात भी करते हैं। अंत में ''अ इ उ ऋ लृ'' इन पाँच लघु अक्षर के उच्चारण काल प्रमाण अयोगी गुणस्थान (14 वें) में जीव रहता है। उपान्त (द्विचरम, अंतिम समय के पहले 1 समय) समय में 72 प्रकृतियों का एवं अंतिम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके जीव सिद्ध, बुद्ध-नित्य निरंजन बन जाता है।

सीलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि।।(65) गो. सार

जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते है।

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।(68)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित है, अनंतसुखरूपी अमृत के अनुभव करने वाले शांतिमय है, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित है, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं - जिनको कोई कार्य करना बाकी न रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

औपशमिकादिभव्यत्वानां च।(3)

औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है।

भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावों की अनिवृत्ति के लिए है। पारिणामिक भावों में जीवत्व भाव की मोक्ष में अनिवृत्ति के लिए भव्यत्व भाव का ग्रहण किया गया है। अतः पारिणामिक भावों में भव्यत्व तथा औपशमिकादि भावों का अभाव भी मोक्ष में हो जाता है।

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के अभाव से, कर्म से जायमान औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में सविस्तार से किया गया है। केवल इन भावों का ही अभाव नहीं होता है इसके साथ भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है। भव्यत्व भाव को आगम में कुछ स्थान में पारिणामिक भी कहा है। आगमानुसार पारिणामिक भाव का अभाव नहीं होता है। क्योंकि पारिणामिक भाव उसे कहते हैं जो कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय की अपेक्षा नहीं रखता हो। तब प्रश्न होता है कि भव्यत्व, पारिणामिक भाव होकर मोक्ष में क्यों नहीं रहता है? तब इसका उत्तर वीरसेन स्वामी ने धवला में आगमोक्त व तार्किक शैली से किया है। उनका तर्क यह है कि भव्यत्व भाव पूर्ण शुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है कथञ्चित् कर्मजनित है और कथञ्चित् कर्म निरपेक्ष है। भव्य उसे कहते हैं जो भावी भगवान् है अथवा जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को धारण करने की योग्यता रखता है। मिथ्यात्वादि कर्म के उदय से जीव सम्यग्रत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर पाता है इसलिये अभव्यत्व भाव कर्म सापेक्ष है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम के निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है इस अपेक्षा से भव्यत्व भाव भी कर्म सापेक्ष है। सिद्ध अवस्था में सम्पूर्ण कर्म का अभाव होने से, तथा भव्य और अभव्यत्व की शक्ति या व्यक्ति की योग्यता के अभाव से सिद्ध जीव भव्य, अभव्य व्यपदेश से रहित होते हैं।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।(4)

Otherwise there remain सम्यक्त्व perfect right belief ज्ञान perfect right knowledge दर्शन perfect conatian and सिद्धत्व the state of having accomplished all.

केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता।

कर्मबंधन से रहित होने के बाद जीव के सम्पूर्ण वैभाविक भाव नष्ट हो जाते है क्योंकि वैभाविक भाव के निमित्तभूत कारणों का अभाव हो जाता है। वैभाविक भाव के नष्ट होने पर स्वाभाविक भाव नष्ट नहीं होते परन्तु स्वाभाविक भाव पूर्ण शुद्ध रूप में प्रगट हो जाते हैं। तत्त्वार्थसार में कहा भी है-

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः।।(37)
वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः।
मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः।।(38)
आयुः कर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः।
नामकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः।।(39)
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरवलाघवाः।
अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः।।(40)

ये सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान से सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्म का क्षय होने से केवलदर्शन से सहित होते हैं, वेदनीय कर्म का क्षय होने से अव्यबाधत्व गुण को प्राप्त होते हैं, मोहनीय कर्म का विनाश होने से अविनाशी सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, आयुकर्म का विच्छेद होने से अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नामकर्म का उच्छेद होने से सूक्ष्मत्व गुण को प्राप्त हैं, गोत्रकर्म का विनाश होने से सदा अगुरुलघु गुण से सहित होते हैं और अन्तराय का नाश होने से अनंत वीर्य को प्राप्त होते हैं।

सिद्धों की अन्य विशेषता -

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निःक्रियाः।।(43)

वे सिद्ध भगवान् तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में सदा उपयुक्त रहते हैं तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्था को प्राप्त हैं। हेतु का अभाव होने से वे निःक्रिया-क्रिया से रहित हैं।

सिद्धों के सुख का वर्णन

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।

अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः।।(45) (तत्त्वार्थसार)

सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परम ऋषियों ने कहा हैं।

शरीर रहित सिद्धों के सुख किस प्रकार हो सकता है?

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः।

कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं श्रृणु।। (46)

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।

विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च।। (47)

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।

दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते।। (48)

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियथार्थजम्।

कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्।। (49)

यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीर रहित एवं अष्टकर्मों को नष्ट करने वाले मुक्त जीव के सुख कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है, सुनो। इस लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थों में सुख शब्द कहा जाता है। अग्नि सुख रूप है, वायु सुख रूप है, यहाँ विषय अर्थ में सुख शब्द कहा जाता है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है कि मैं सुखी हूँ यहाँ वेदना के अभाव में सुख शब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्य कर्म के उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख होता है। यहाँ विपाक-कर्मोदय में सुख शब्द का प्रयोग है और कर्मजन्य क्लेश से छुटकारा मिलने से मोक्ष में उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थ में सुख का प्रयोग है।

रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं है

असमग्रं भावतयो, रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न बंधनोपायः।। (211)

अपरिपूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना/परिपालन से जो कर्मबंध होता

है वह कर्मबंध रत्नत्रय से न होकर उसके विपक्षभूत राग द्वेष से होता है। अपरिपूर्ण रत्नत्रय से कर्मबंध होता है। जितने अंश में रत्नत्रय है उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं होता है और उतने अंश मोक्ष के उपाय हैं। जितने अंश में रत्नत्रय का अभाव है और राग-द्वेष का सद्भाव है उतने अंश में कर्मबंध होता है जो मोक्ष के लिये कारण नहीं है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं है असर्वदेश कर्मबंध के लिये कारण होता है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं होता है।

बंध का कारण

योगात्प्रदेश-बंध स्थिति-बंधो भवति तु कषायात्।
दर्शन बोध-चारित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च।। (215)

मन-वचन-काय योग से प्रदेश बंध होता है। क्रोधादि कषाय से स्थिति बंध होता है। योग से प्रकृति, प्रदेश बंध जीव करता है। स्थिति अनुभाग बंध कषाय से जीव करता है। कहा भी है-

परिणाम अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। स्थिति, काल की अवधारणा को अर्थात् मर्यादा को स्थिति कहते हैं। इस अर्थात् शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणु समूह के संचय को प्रदेश कहते हैं।

योग तथा कषायों के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट भेद से बंध में भी विचित्रता जाननी चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र ना योग रूप है ना कषाय रूप हैं। योग तथा कषाय स्वरूप भिन्न हैं तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप भिन्न है। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में योग तथा कषाय नहीं होता है इसलिए रत्नत्रय से कर्मबंध नहीं होता है।

रत्नत्रय से बंध क्यों नहीं होता?

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्म-परिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं, कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।। (216)

दर्शन बोध, चारित्र से कर्मबंध नहीं होता है ऐसा कहा गया है। यह किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न करने पर दर्शन आदि का स्वरूप बता रहे हैं।

आत्मा की विनिश्चिति/प्रतीति/श्रद्धा सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् आत्मा के

निश्चय स्वभाव का दर्शन सम्यक्त्व होता है। आत्मा का समग्रता से परिज्ञान/चिन्तन/बोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में ही स्थिर हो जाना, उसमें रमण करना चारित्र है। ये तीनों आत्मा के स्वभाव होने के कारण इससे कर्मबंध किस प्रकार होगा? अर्थात् यह आत्मा का स्वभाव होने से स्वभाव में बंध नहीं होता है किन्तु विभाव में बंध होता है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों का बंधक नहीं

सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां, तीर्थंकराऽऽहार-कर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये, न नयविदां सोऽपि दोषाय।। (217)

शास्त्र में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर का बंधन सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ सिद्धान्त शास्त्र में वर्णन है कि अरिहन्त के लिये कारणभूत तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का बंध, आहारक नाम कर्म उदय के निमित्त आहारक शरीर प्रकृति का बंध, सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। परन्तु यह बंध नय को जानने वालों के लिए दोषकारक नहीं हैं।

रत्नत्रय पुण्य बंध में उदासीन

सति सम्यक्त्व चारित्रे, तीर्थंकराऽऽहार-बंधकौ भवतः।
योग कषायौ नाऽसति, तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।। (218)

सम्यक्त्व चारित्र के होते हुए आहारक शरीर का बंध होता है। सम्यक्त्व चारित्र के बिना तीर्थंकर आहारक शरीर का बंध नहीं होता है। जहाँ पर योग कषाय नहीं होता है वहाँ भी दोनों का बंध नहीं होता है। पुनः दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हुए पूर्वोक्त तीर्थंकर आहारक कर्मबन्ध के लिए रत्नत्रय उदासीन है। इसके लिए मुख्य कारण शुभ योग, शुभ राग, शुभोपयोग है। यदि योग एवं कषाय नहीं है तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र से तीर्थंकर आहारक का कर्मबन्ध नहीं होगा।

फिर सम्यक्त्व को देवायु का कारण क्यों कहा गया है?

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृति सत्प्रकृतिबंधः।
सकल जन सुप्रसिद्धो, रत्नत्रय-धारिणां मुनिवराणाम्।। (219)

यहाँ प्रश्न हो रहा है कि रत्नत्रय धारी मुनीश्वरों के देवायु आदि पुण्य प्रकृति का बंध होता है। पूर्व में कहा गया है कि रत्नत्रय से बंध नहीं होता है परन्तु सर्वजन प्रसिद्ध (शास्त्र प्रसिद्ध) है कि कहे हुए देवायु आदि (देवायु, तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर, साता वेदनीय) पुण्य-प्रकृति का बंध रत्नत्रय धारी मुनीश्वरों को होता है।

उत्तर

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नाऽन्यस्य।
आश्रवति यत्तु पुण्यं, शुभोपयोगोऽयमपराधः।। (220)

वीतराग रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण होता अन्य देवायु आदि का कारण नहीं होता है। जहाँ पर रत्नत्रय से देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध होता है वहाँ शुभपयोग का मिश्रण होना इसका कारण है अन्यथा रत्नत्रय मोक्ष के लिये ही कारण बनता है।

समीक्षाः-घी जले हुए घाव को सही करता है, भरता है, परन्तु वही घी जब अग्नि के सम्पर्क से गरम हो जाता है तो वह गरम घी जलाने लगता है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान होता है कि गरमी घी में जो अग्नि के सम्पर्क से उष्णता का मिश्रण हुआ है वही उष्णता जलाती है न कि घी जलाता है। उसी प्रकार जिस अंश में रत्नत्रय में शुभोपयोग है उस अंश से पुण्य बंध होता है और जिस अंश में रत्नत्रय है उससे अबन्ध, अनास्रव, निर्जरा मोक्ष होता है। इसका ही ग्रन्थकर्ता आगे वर्णन कर रहे हैं।

भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य होते

एकस्मिन् समवाया दत्यन्त-विरुद्ध कार्ययोरपि हि।
इह ददाति घृतमिति, यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः।। (221)

उपर्युक्त (श्लोक-220) विषय को यहाँ पर दृष्टान्त के माध्यम से कथन कर रहे हैं। एक वस्तु में समवाय से मिश्रण होने से अत्यन्त विरुद्ध शुभ-अशुभ रूप जो कार्य है वह भी एक साथ समवाय हो जाते है। इस का उदाहरण यह है कि जिस प्रकार लोक में ''घी जलता है'' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी (कर्म बन्ध में) रूढ़ि को मानना चाहिए।

रत्नत्रयधारी मोक्षलाभ करता

सम्यक्त्व चारित्र, बोध लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।

मुख्योपचार रूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।। (222)

मुख्य/निश्चय और उपचार/व्यवहार रूप से यह सम्यक्त्व चारित्र ज्ञान लक्षण मोक्षमार्ग से परमोत्कृष्ट स्थान स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

समीक्षाः-उपरोक्त नानाविध उदाहरण एवं कथन प्रणालियों से यह सिद्ध होता है कि रत्नत्रय परस्पर विरोधी या घातक नहीं है परन्तु परस्पर अनुपूरक परिपूरक तथा सहकारी हैं। क्योंकि सम्यक् दर्शन से ज्ञान में सम्यक्पना आता है सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान से चारित्र में सम्यक्त्वपना आता है तथा चारित्र दृढ़ एवं उत्तरोत्तर विशुद्ध होता है। सम्यक् दर्शन तो प्रासाद (भवन) के लिए नींव के समान आधारशिला है। बिना सम्यग्दर्शन के रत्नत्रय रूप प्रासाद नहीं टिक सकता है। नींव के बिना प्रासाद नहीं टिकने पर भी नींव ही प्रासाद नहीं है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना रत्नत्रय रूप महल नहीं टिकने पर भी सम्यग्दर्शन ही रत्नत्रय नहीं है।

सम्यग्ज्ञान दो कमरे के बीच स्थित देहली के ऊपर रखे हुए दीपक के सदृश है। जैसे वह दीपक दोनों कमरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को प्रकाशित करता है। प्रकाश से हिताहित का परिज्ञान होते हुए भी प्रकाश स्वयं हित वस्तु को ग्रहण कर अहित वस्तु का परिहार नहीं कर सकता है। श्रद्धा से मानकर ज्ञान से जानकर एवं आचरण से माने हुए जाने हुए कार्य का सम्पादन होता है। अर्थात् विश्वसनीय एवं ज्ञात लक्ष्य बिन्दु को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल पुरुषार्थ के माध्यम से लक्ष्य बिन्दु तक पहुँचकर लक्ष्य की पूर्ति कर लेते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने चारित्र पाहुड़ में कहा भी है-

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं।

णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चरित्रं।। (3) (चारित्र पाहुड़)

जो जानता है वह ज्ञान जो देखता है वह दर्शन है, ज्ञान एवं दर्शन समापन्न या समायोग में चारित्र होता है।

एएतिण्णि विभावा हंवति जीवस्य अक्खयामेया।

तिण्हि वि सोहणत्थे जिण भणियं दुवियं चारित्तं।। (4) (चारित्र पाहुड़)

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप तीन भाव जीव के अक्षय अनन्त, स्वभाव स्वरूप है। इन तीनों की विशुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार एवं निश्चय दो प्रकार चारित्र कहे हैं।

सम्मत्त चरण शुद्धा संजम चरणस्स जइ व सुप्रसिद्धा।

णाणी अमूढ़ दिठ्ठी अचिरे पावंति निव्वाणं।। (3) (चारित्रप्राभृत)

सम्यक्त्व सम्बन्धी सम्पूर्ण दोषों से रहित सम्यक्त्व गुण से अलंकृत जो होता है वह सम्यक् चारित्र से विशुद्ध होता है। वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र चतुर्थ गुण स्थान में होता है।

चरणानुयोग के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होने पर भी अष्ट-मद, शंकादि अष्ट दोष, षट् अनायतन आदि का त्याग एवं निशंक आदि अष्ट अंग, संवेगादि अष्ट गुणादि सहित होना ही इस गुणस्थान सम्बन्धी चारित्र है। इसको ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। सम्यक्त्वाचरण सहित जो महामुनीश्वरों का महाव्रतादि रूप संयमाचरण से अत्यन्त प्रकृष्ट रूप से सर्वलोक सुप्रसिद्ध है। ऐसे महान् चारित्र साधक निर्वाण को स्वल्प काल में ही प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर चारित्र मुख्य होने पर भी सम्यग्दर्शन की समग्रता को कहा गया है।

सीलं रक्खताणं दंसण-सुद्धाण दिढ चरित्ताणं।

अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं।। (12) (शील पाहुड़)

जो शील के संरक्षक है दर्शन से विशुद्ध हैं दृढ़ चारित्रनिष्ठ हैं विषय वासना से विरक्त चित्त वाला है उसके लिये निर्वाण ध्रुव सुनिश्चित है।

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। (20) (शील पाहुड़)

शील, विषय कषाय का परम शत्रु है अर्थात् शील पालने से शील के प्रभाव से विषय कषाय रूप शत्रु विध्वंस हो जाते हैं। शील मोक्ष महल के लिये सोपान स्वरूप है।

निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्गः-मोक्ष कार्य एक होने के कारण उसके कारण भी रत्नत्रयात्मक एक ही है। परन्तु पात्र की अपेक्षा रत्नत्रय व्यवहार और निश्चय

भेद से दो प्रकार के हैं। एक निचली भूमिका में स्थित साधक अपेक्षा भेदात्मक रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है। उपरितन भूमिका स्थित साधक अपेक्षा निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग है। निरतिशय सप्तम गुणस्थान या श्रेणी आरूढ से पहले-पहले गुणस्थान तक भेदात्मक या व्यवहार रत्नत्रय है। सातिशय सप्तम गुणस्थान या श्रेणी आरोहण के समय महामुनियों को निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय होता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग के निश्चय एवं व्यवहार अपेक्षा से दो भेद हैं।

निश्यच व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्ग द्विधा स्थितः।

तत्राद्यः साध्यरूप स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं।। (2) (तत्वार्थसार)

निश्चय एवं व्यवहार रूप से दो प्रकार के मोक्षमार्ग हैं। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य स्वरूप है एवं व्यवहार मोक्षमार्ग साधन स्वरूप है। साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। समर्थ साधन ही परिवर्तित होकर साध्य रूप हो जाता है। जैसे-बीज साधन तो वृक्ष साध्य है। बिना बीज वृक्ष सम्भव नहीं है उसी प्रकार बिना व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग संभव नहीं है इसलिये व्यवहार मोक्षमार्ग कारण है और निश्चय मोक्षमार्ग कार्य है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिव मग सो दुविध विचारो।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो।।(1)।।

सम्मदंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छयदो तत्तिय मइओ णिओ अप्पा।। (39) (द्रव्य संग्रह)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो। तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निजात्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो।

श्री वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जो छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ हैं इनका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और व्रत आदि का आचरण करना इत्यादि विकल्प जो हैं सो तो व्यवहार मोक्षमार्ग है। और जो अपने निरंजन शुद्ध आत्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्र परिणति रूप है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा धातु पाषाण के विषय में अग्नि के सदृश जो

साधक है तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण के स्थानापन्न निर्विकार जो निज आत्मा है उसके स्वरूप की प्राप्ति रूप जो साध्य हैं उस स्वरूप से निश्चय मोक्षमार्ग है।

भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्गः साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चय मोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गयो साध्यसाधक भावो ज्ञातव्यः सुवर्ण, सुवर्ण पाषाणवत् इति। (परमात्म प्रकाश)

भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग साधक होता है। अभेदरत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग साध्य होता है। सुवर्ण और सुवर्ण पाषाण के समान साध्य साधक भाव है। जैसे सुवर्ण पाषाण ही अग्नि आदि से तपते-तपते विशुद्ध होते-होते शुद्ध सुवर्ण रूप से परिणत हो जाता है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय ही आध्यात्मिक साधना से शुद्ध होते अभेदरत्नत्रयात्मक रूप परिणत कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि बिना सुवर्ण पाषाण से शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि असम्भव है। व्यवहार रत्नत्रय या शुभोपयोग से पापकर्मों का संवर होता है। सातिशय पुण्यकर्म का आस्रव होता है तथा आस्रव से भी अनंत गुणित कर्म निर्जरा होती है इसलिये शुभ परिणामात्मक भेद रत्नत्रय भी संसार विच्छेद के लिये कारण होता है। जैनागम के प्रसिद्ध सिद्धान्त शास्त्र जयधवला में कलिकाल सर्वज्ञ तार्किक चूड़ामणि आचार्य वीरसेन स्वामी इस सिद्धान्त को सिद्ध करते हुए जय धवला के प्रथम चरण में ही कहते हैं-

''सुह-सुह परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववजीदो''

शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

शंकाः-आध्यात्मिक शास्त्र में तो व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है इसलिये व्यवहार नयाश्रित व्यवहारचरित्र अभूतार्थ है इसलिए व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग के लिये अभूतार्थ हैं क्योंकि कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

व्यवहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिद्ठी हवदि जीवो।। (समयसार)

व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ हैं क्योंकि वह समता को अपनाकर एकत्व

को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनता को देखने वाला होता है।

समाधानः-ठीक है। आपका कहना भी नय सापेक्ष से यथार्थ है परन्तु व्यवहारनय एवं व्यवहार नयाश्रित व्यवहार रत्नत्रय किसके लिये कब अभूतार्थ है वह भी अनेकांत के प्रकाश से जान लेना चाहिये। इस गाथा की टीका करते हुए आध्यात्मिक ग्रन्थियों को सुलझाने वाले जयसेनाचार्य कहते हैं कि-

''व्यवहारो अभूदत्थो भूदत्थोदेसिदो'' व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है, इसे दो प्रकार का कहा गया है। केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नहीं, किन्तु सुद्धणओ भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा में आये हुए 'दु' शब्द से प्रकट होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल भी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतक फल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है। उसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान रूप भेद भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादि रूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (संयत) मनुष्य होता है वह तो अभेद लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयरूप का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।

भूतार्थनय का आश्रय करने वाला सामान्य जीव नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि से लेकर निरतिशय सप्तम गुणस्थान तक निश्चयनय को जानते हुए भी मानते हुए भी निश्चयनय से प्रतिपादित भावानुकूल वह परिणमन/आचरण नहीं कर सकता है। निश्चयनय से प्रतिपादित भावानुकूल श्रेणी आरोहण करने वाले महामुनीश्वर ही परिणमन कर सकते हैं। इसीलिये निश्चयनय द्वारा प्रतिपादित अभेदरत्नत्रय प्राथमिक साधकों के लिये श्रद्धान का विषय होने पर भी आचरण का विषय नहीं है। परन्तु व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित व्यवहार रत्नत्रय प्राथमिक साधकों के लिए आचरण करने योग्य है तथा प्रयोजनवान है। परन्तु श्रेणी आरोहण करने वाले मुनीश्वरों के लिए व्यवहार रत्नत्रय प्रयोजनीय नहीं है। समयसार में कहा भी है-

किन्तु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भलार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान् हो ऐसा नहीं हैं। किन्तु उन्हीं निर्विकल्प-समाधिरतों में किन्हीं-किन्हीं को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय-कषाय दुर्ध्यान को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् होता है। जैसे किसी को शुद्ध सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह, चौदहवानी का सोना भी ग्राह्य हो जाता है ऐसा कहते हैंः-

सुद्धो सुद्धोदेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।। (समयसार)

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुए पुरुषों के द्वारा अङ्गीकार करने योग्य हैं। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थिर है उनके लिए व्यवहार नय की कार्यकारी है।

(सुद्धो सुद्धादेसो) शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है (णादव्वो परम भावदरसीहिं) वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान् होता है। (व्यवहार देसिदो) किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहारनय है वह पुनः पन्द्रह, चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिए प्रयोजनवान् है। (जे दु) जो लोग अपर में (ठिद्धाभावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग में जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा जो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेदरत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित हैं।

मोक्षमार्ग में व्यवहारनय तथा व्यवहार रत्नत्रय अभूतार्थ नहीं।

ण च ववहारणओ चप्पलो, तत्तो <u>ववहाराणुसारिसिस्साणां पउत्तिदंसणादो।</u> जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वोत्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण....

यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो

व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिए ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने...

यदि कहा जाय कि पुण्यकर्म के बाँधने के इच्छुक देश-व्रतियों को मंगल करना युक्त है किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्यबन्ध के कारणभूत कामों को जैसे देशव्रती श्रावक करते हैं वैसे ही मुनि भी करते हैं मुनि के लिए एकान्त से निषेध नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये यह कहा जा रहा है उसी प्रकार उनके सरागसंयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है। क्योंकि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबंधन का कारण है।

यदि कहा जाय के मुनियों सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ, सो भी बात नहीं है। क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्ति गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सरागसंयम गुण श्रेणी निर्जरा का कारण है क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी होती है। अतः सरागसंयम में मुनियों की प्रवृत्ति का होना योगय है सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये क्योंकि अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है, इसलिये सरागसंयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

सव्वत्थ विसयववहारस्स अप्पमाणपुरस्सस्तप्पसंगादो। ण च अप्पमाणपुरस्सरो ववहारो सच्चत्तमल्लियइ। ण च एवं, बाहविवज्जियसव्ववहारणं सच्चत्तुवलंभादो।

आदि विषय व्यवहार को अप्रमाणपुस्सत्व का प्रसंग प्राप्त होता है और अप्रमाणपूर्वक होने वाला व्यवहार सत्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सभी व्यवहार अप्रमाणपूर्वक होने से असत्य मान लिये जाय, सो भी बात नहीं है। क्योंकि जो व्यवहार बाधारहित होते हैं उन सबमें सत्यता पाई जाती हैं।

यहाँ शिष्य शंका करता है कि आश्चर्य भगवान्! ध्यान तो मोक्ष का मार्गभूत है

अर्थात् मोक्ष का कारण है जो मोक्ष को चाहने वाला पुरुष उसको पुण्यबन्ध के कारण होने से व्रत में त्यागने योग्य अर्थात् व्रतों से पुण्य का बंध होता है, और पुण्यबंध संसार का कारण है इसलिये मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है और अपने तप श्रुत और व्रतों को ध्यान से पूर्णता के कारण कहे, सो यह आपका कथन कैसे घटता है? (सिद्ध होता है) अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि केवल व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नहीं है किन्तु पाप बंध का कारण जो हिंसा आदि भेदों के धारक अव्रत हैं वे भी त्यागने योग्य हैं। सो ही पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि हिंसा आदि अव्रतों से पाप का बंध होता है और अहिंसादि व्रतों से पुण्य का बंध होता है तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनों के नाश से होता है, इस कारण मोक्ष को चाहने वाला पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे।

विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतों का धारक होकर निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परमपद को प्राप्त होकर तदन्तर एक देशव्रतों का भी त्याग कर देता है। वह भी उन्हीं श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है कि ''मोक्ष को चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परमपद को पावे और उस आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों को भी त्याग करे।''

इस पूर्वकथन में विशेष यह है कि मन-वचन और काय की गुप्तिरूप और निज शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्प ध्यान है उसमें व्यवहार रूप जो एक देशव्रत है उनका त्याग किया जाता है और जो सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ की निवृत्ति रूप निश्चय व्रत हैं उनका स्वीकार ही किया गया है और त्याग नहीं किया गया है। प्रसिद्ध जो अहिंसादि महाव्रत हैं वे एकदेश व्रत कैसे हो सकते हैं? ऐसी शंका करो तो समाधान उत्तर यह है कि अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात (मारने) से निवृति (रहितता) है, तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य का त्याग है तो भी सत्यवचन में प्रवृत्ति है और अचौर्य महाव्रत में यद्यपि नहीं दिये हुए पदार्थ के ग्रहण करने का त्याग है तो भी दिये गये पदार्थों में ग्रहण करने में प्रवृत्ति हैं, इत्यादि एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पाँचों महाव्रत हैं। इन एकदेश रूप व्रतों का मन, वचन और काय की गुप्तिस्वरूप जो

विकल्परहित ध्यान है उसके समय में त्याग है और समस्त शुभ तथा अशुभ की निवृत्ति रूप जो निश्चयव्रत है उसका त्याग नहीं है।

प्रश्न–त्याग शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर–जैसे हिंसा आदि रूप पाँच अव्रतों में रहितपना है उसी प्रकार जो अहिंसा आदि पंचमहाव्रत रूप एक देशव्रत हैं उनमें रहितपना है। यही त्याग शब्द का अर्थ है।

इन एकदेश व्रतों का त्याग किस कारण से होता है? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि मन-वचन और काय इन तीनों की गुप्त रूप जो अवस्था है उसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप जो विकल्प है उसका स्वयं ही अवकाश नहीं है, अर्थात् मन, वचन और काय की गुप्तिरूप ध्यान में कोई प्रकार का भी विकल्प नहीं होता और अहिंसादिमहाव्रत विकल्परूप हैं इसलिये वे त्रिगुप्तिरूप ध्यान में रह सकते हैं और जो दीक्षा के पश्चात् दो घटिका (घड़ी) प्रमाणकाल में ही भरत चक्रवर्ती मोक्ष पधारे है उन्होंने भी जिनदीक्षा को ग्रहण करके, क्षणमात्र (थोड़े समय तक) विषय और कषायों की रहितातारूप जो व्रत का परिणाम है उसको करके तत्पश्चात् शुद्धोपयोग रूप जो रत्नत्रय उस स्वरूप जो निश्चय नाम का धारक और वीतराग सामायिक नाम का धारक निर्विकल्प ध्यान है उसमें स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। परन्तु श्री भरत जी के थोड़े समय व्रत परिणाम रहा इस कारण लोग भरतजी के व्रत परिणाम को नहीं जानते हैं।

अब उसे श्री भरतजी की दीक्षा के विधान का कथन करते है। श्री वीर वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समवशरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया 'हे भगवन्! श्री भरत चक्रवर्ती के जिन दीक्षा को ग्रहण करने के पीछे कितने काल में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ?' इस पर श्री गौतम स्वामी गणधर देव ने उत्तर दिया कि हे श्रेणिक राजन्! बंध के कारण भूत जो केश (बाल) हैं उनको पाँच मुष्टियों से उखाड़कर तोड़ते हुए अर्थात् पंचमुष्टि लोंच करने के अनन्तर ही श्री भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

परमात्मा की मोक्षावस्था

नित्यमपि निरूपलेपः, स्वरूप समवस्थितो निरूपघातः।
गगनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशदतमः।। (223)

समस्त पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त करने वाला परम पुरुष परम पद रूप सिद्ध पद में स्फुरायमान होता है। वह परम पुरुष सदा कर्मादि लेप से रहित, स्वस्थ रूप में स्थित, समस्त घात प्रतिघात बाधाओं से रहित गगन के समान लेप से रहित चिज्ज्योति रूप से सिद्ध पद में अतिशय रूप से स्फुरायमान होता है।

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे, परमात्मा सकल-विषय विरतात्मा।
परमानन्द-निमग्नो, ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। (224)

परमपद स्वरूप प्रकृष्ट सिद्ध पद में वह परम पुरुष/परमात्मा/शुद्धात्मा कृतकार्य होकर, सकल विषय से विरक्त होकर परमानंद में अर्थात् अनन्त सुख में लीन रहता है। वह परमात्मा पूर्णतया ज्ञानधन स्वरूप होकर मुक्त अवस्था में विराजमान होता है।

अरहंत भगवान् का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।(50)

चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनंत दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उसका ध्यान करना चाहिये।

अनंत-ज्ञान, अनंत दर्शन अनंत सुख, अनंत वीर्य, अनंत विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षयिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग आदि प्रगट हुए अनंत गुण स्वरूप होने से जिन्होंने यहीं पर सिद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्यबिंब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा संपूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने ज्ञान में ही संपूर्ण प्रमेय रहने के कारण प्रतिभासित होने से जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं। संपूर्ण आमय अर्थात् रोगों के दूर हो जाने के कारण जो निरामय है, संपूर्ण पापरूपी अंजन के समूह के नष्ट

हो जाने से जो निरंजन है और दोषों की कलाएँ अर्थात् संपूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्फल है, ऐसे उन अरिहंतों को नमस्कार हो।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो।। (51)

नष्ट हो गया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश का जानने देखने वाला, पुरुष के आकार का धारक और लोक के शिखर पर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इस कारण तुम उसका ध्यान करो।

अन्याकाराप्ति हेतु र्न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः।
प्रागात्मोपात्तदेह, प्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः।
क्षुतृष्णाश्वासकास, ज्वरमरणजरानिष्ट योग प्रमोहः
व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता।।(6)

जिस मनुष्य शरीर से यह जीव मुक्त होता है वह उस जीव का अंतिम शरीर कहलाता है। उसी को चरम शरीर कहते हैं। मुक्त होने पर इस जीव का आकार चरम शरीर के आकार से भिन्न आकार नहीं हो सकता, न तो वह समस्त लोक में व्यापक हो सकता है और न वटवृक्ष के बीज के समान अणुमात्र ही हो सकता है। क्योंकि वहाँ आकार बदलने का कोई कारण नहीं है। किंतु अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ आकार कम होने का कारण है, और वह यह है कि संसार परिभ्रमण में इस जीव का आकार कर्मों के उदय से बदलता था। अब कर्मों के नष्ट हो जाने से आकार बदलने वाला कोई कारण नहीं रहा, तथा उसका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम रहता है। क्योंकि शरीर के जिन-जिन भागों में आत्मा के प्रदेश नहीं है उतना परिमाण घट जाता है। शरीर के भीतर, पेट, नाक, कान आदि भाग ऐसे हैं जिनमें पोले भाग में आत्मा के प्रदेश नही हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं कि अन्य ऐसे कारण हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त जीव का परिमाण अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ कम है। यह कमी आकार की अपेक्षा से नहीं है लेकिन घन फल की अपेक्षा से है तथा मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के समान अत्यंत दैदीप्यमान रहता है।

एव शब्द निश्चयवाचक है और हि शब्द स्पष्टता सूचित करने के लिए है, इससे सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के आकार है उनका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम है। मुक्त जीव का यह आकार और यह परिमाण निश्चित है, स्पष्ट है। इसके सिवाय अन्य कोई आकार तथा अन्य कोई परिमाण हो नहीं सकता। इसके सिवाय मुक्त अवस्था में वह शुद्ध आत्मा अमूर्तिक रहता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द रूप पुद्गल परिणति को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति जिसके न हो उसको अमूर्ति कहते हैं। सिद्धों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, रूप मूर्ति नहीं है। इसलिये वे अमूर्ति स्वरूप हैं। अथवा अमूर्ति भी पाठ हैं जिनके रूप रसादि स्वरूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते हैं तथा अमूर्ति भी पाठ हैं जिनके रूप रसादि स्वरूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते हैं तथा जिनके ऐसी मूर्ति न हो उनको अमूर्त कहते हैं। उन सिद्ध परमेष्ठी की परिणति रूप, रस, गंध स्पर्श स्वरूप नहीं है इनसे सर्वथा रहित है इसलिए वे अमूर्त हैं।

इसके सिवाय वे भगवान् क्षुधा, तृषा, श्वास, कास, दमा, ज्वर, मरण, जरा (बुढ़ापा) अनिष्ट योग, मोह अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ऐसे संसार के परिभ्रमण को उन सिद्ध भगवान् ने नाश कर दिया है। अथवा कर्मों के नाश होने से वह संसार अपने आप नष्ट हो गया है। उस संसार के नष्ट होने से सिद्धों को अनंत सुख की प्राप्ति हो गई है, उस सुख का परिमाण भला कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। सिद्धों का सुख अनंत है उनका परिणाम कभी किसी से नहीं हो सकता।

सिद्धों का सुख

आत्मोपादान सिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतवाधं विशालं।
वृद्धिह्रासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वंदभावम्।।
अन्यद्रव्यानपेक्षं, निरुपममितं, शाश्वतं सर्वकालं।
उत्कृष्टानन्तसारं, परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्यजातम्।।(7)

भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के जो सुख होता है वह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अन्य किसी प्रकृति आदि से उत्पन्न नहीं होता इसलिये वह सुख अनित्य

नहीं होता वह सुख स्वयं अतिशय युक्त होता है। समस्त बाधाओं से रहित होता है। अत्यंत विशाल वा विस्तीर्ण होता है। आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कभी घटता है न बढ़ता है। वृद्धि और ह्रास दोनों से रहित हो सांसारिक सुख विषय से उत्पन्न नहीं होता किन्तु सब प्रकार के विषयों से रहित स्वाभाविक होता है। सुख का प्रतिद्वंदी दुःख है। उन दुःखों-से मिला हुआ है। परंतु सिद्धों का सुख सदा सुख रूप ही रहता है, जीवों का सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है तथा पुष्पमाला चंदन, भोजन आदि ब्राह्य सामग्री से उत्पन्न होता है परंतु सिद्धों का सुख उपमा रहित है, अनंत है। विनाश रहित है इसीलिये वह सदा बना रहता है। वह सुख परम सुख कहलाता है अर्थात् इन्द्रादिक के सुख से भी अत्यंत अतिशय युक्त वा बढ़कर है। जिन सिद्धों का लक्षण वा उनके गुण पहले निरूपण कर चुके हैं और जो लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं, ऐसे सिद्धों का अनंत सुख ऊपर लिखे अनुसार होता है। अभिप्राय यह है कि सिद्धों का सुख संसारी जीवों के सुखों से अत्यंत विलक्षण है। सिद्धों का सुख वास्तविक सुख है और इसीलिये वह सर्वोत्तम है।

श्रीमत्परमगंभीर स्याद्वादमोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्।।(3)

जो अनेक अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मियों से भरपूर है और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिह्न है, ऐसे श्री त्रैलोक्यनाथ का शासन श्री जैन शासन, चिरकाल तक जीवित रहो।

नमोनमः सत्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय।
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।(7)

जो भगवान् वर्धमान स्वामी समस्त प्राणियों का भला करने वाले हैं भव्य रूपी कमलों को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले हैं, अनंत लोक, अलोक को देखने वाले हैं, देवों के द्वारा पूज्य हैं और देवों के भी परम देव हैं, ऐसे अरहंत देव महावीर स्वामी के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय, विनष्टदोषाय गुणार्णवाय।
विमुक्तिमार्ग प्रतिबोधनाय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।(8)

जो भगवान् अरहंत देवों के द्वारा पूज्य हैं, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, अनंत गुणों के समुद्र हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं और देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव हैं ऐसे अरहंत देव के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

देवाधिदेव! परमेश्वर! वीतराग!
सर्वज्ञ! तीर्थंकर! सिद्ध! महानुभाव!
त्रैलोक्यनाथ! जिनपुंगव! वर्धमान!
स्वामिन्! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते।।(9)

हे देवाधिदेव! हे परमेश्वर! हे वीतराग! हे सर्वज्ञ! हे तीर्थंकर! हे सिद्ध! हे महानुभाव! हे तीनों लोकों के नाथ! हे जिनेन्द्र देव श्री वर्धमान स्वामिन् मैं आपके दोनों चरण कमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा, जितकषायाः।
जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या, जयन्तु जिनाः।।(10)

मद, हर्ष-द्वेष को जीतने वाले मोह और परीषहों को जीतने वाले कषायों को जीतने वाले और मत्सरता को जीतने वाले, भगवान् जिनेन्द्र देव सदा जयशील हों।

जयतु जिन वर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबंधुः।
त्रिदशपतिमुकुटभासुर, चूड़ामणिरश्मिरंजितारुणचरणः।।(11)

जो श्री वर्धमान स्वामी तीनों लोकों का हित करने वाले, धर्मचक्ररूपी कमलों के लिए सूर्य के समान हैं और जिनके अरुण (लाल रंग के) चरण कमल इन्द्र के मुकुट में दैदीप्यमान चूड़ामणि रत्न की किरणों से और भी सुशोभित हो रहे हैं, ऐसे श्री वर्धमान स्वामी सदा जयशील हों।

जय, जय, जय! त्रैलोक्यकाण्ड शोभि शिखामणे,
नुद, नुद, नुद, स्वान्तध्वान्तं जगत्कमलार्क! नः।
नय, नय, नय, स्वामिन्! शांतिं, नितान्तमनन्तिमां,
नहि, नहि, नहि त्राता लोकैकमित्र! भवत्परः।।(12)

हे भगवान्! आप तीनों लोकों में अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखामणि के समान है। इसलिए आपकी जय हो, जय हो, जय हो! हे प्रभु! आप जगत् रूपी कमल को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान हैं। इसलिये मेरे हृदय के मोहान्धकार को दूर कीजिये! दूर कीजिये! हे स्वामिन्! कभी भी न नाश होने वाली अत्यन्त शांति दीजिये, दीजिये, दीजिये। हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला संसार के दुःखों से बचाने वाला अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

I bow to him who is the guide on the path to liberation, the destroyers of Mountains of Karmas and knower of the principles of the universe, so that I may attain these qualities belonging to him.

जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, और विश्वतत्त्व के ज्ञाता हैं, उनकी मैं उनके समान गुणों की प्राप्ति के लिए सदा वंदना करता हूँ।

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र, स्वतंत्रता के सूत्र) के आदि में मंगलाचरण के रूप में मोक्षमार्ग के नेता (स्वतंत्रता के हितोपदेशक) स्वतंत्रता के भोक्ता (स्वामी) एवं विश्व के समस्त तत्त्व के ज्ञाता (सर्वज्ञ) को उनकी गुणों की उपलब्धि के लिए नमस्कार (नमन) किया गया है।

महान् आदर्श पुरुषों को नमस्कार करना गुणग्राही महान् आदर्श परंपरा है। इसे ही मंगलाचरण कहते हैं। मंगलाचरण का अर्थ-''मलं पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगल'', अथवा ''मंगं पुण्य सुखं तल्लाति आदत्ते गृह्णाति वा मंगलं।''

'मं' अर्थात् मल या पाप को जो गालयति अर्थात् गलावे सो मंगल है अथवा 'मंगं' जो पुण्य तथा सुख उसे जो लाति-अर्थात् देवे सो मंगल है। मंगलाचरण स्वरूप से महान् आत्मा का गुणगान करना, नमन करना, कोई अंध परंपरा नहीं, एक सभ्य परंपरा है। क्योंकि-

यो विश्वं वेद वेद्यं जनन जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।

तं वंदे साधुवंद्यं सकल गुण निधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,

बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल निलयं केशवं वा शिवं वा।। (9) (अ.स्रोत)

जो विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान को जान लिया अर्थात् विश्व विद्या विशारद है। जो जन्म-जरा-मरण रूपी समुद्र को नष्ट कर लिया, पार कर लिया। जिनके वचन पूर्वापर विरोध से रहित, सम्पूर्ण दोषों से रहित, उपमा रहित है, सम्पूर्ण गुणों की खान स्वरूप समस्त दोषों को ध्वस्त कर लिया और साधुओं से भी वन्दनीय ऐसी आत्मा को वन्दना है, भले ऐसे गुण सहित बुद्ध हो, महावीर हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, या शिव हो। हरिभद्र सूरि ने लोकतत्त्व निर्णय में कहा है-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है, एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है, किन्तु जिसका वचन युक्ति युक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, इहलोक और परलोक का हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

प्रश्न होता है कि ऐसे महान् पुरुषों की वन्दना क्यों करनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि उनके गुणों की उपलब्धि के लिए, उनके गुण स्मरण के लिए, कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए। कहा भी है-

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, स च भवति सुशास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रासादात्बुद्धैः, न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यक्ज्ञान है। जो सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। उस आगम की उत्पत्ति आप्त (देव) से है इसलिए वह आप्त (देव) पूज्यनीय है जिसके प्रसाद से तीव्र बुद्धि होती है। निश्चय से साधु लोक अपने ऊपर किये गये उपकार को नहीं भूलते हैं।

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनि पुङ्गवाः।।

मोक्षमार्ग की सिद्धि परमेष्ठी भगवान् के प्रसाद से होती है, इसलिये मुनियों में मुख्य, शास्त्र के आदि में उनके गुणों की स्तुति करते हैं।

स्तुति करने का मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक कारण पूज्यपाद स्वामी ने कहा है-

अज्ञानोपास्तिज्ञान ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।। (23) इष्टोपदेशः

अपने आत्मा से भिन्न अरहंत, सिद्ध, परमात्मा की उपासना, आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाती है। जैसे-दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी साथ-साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

येन भावेन तद्रुपं ध्यायेतमात्मानमात्मवित्।

तेन तन्मयता याति सोपधिः स्फटिको यथा।।

जिस भाव से जिस प्रकार यह आत्मा का ध्यान करता है उस स्वरूप हो जाता है। जैसे-स्फटिक मणि के विभिन्न रंगों के सम्पर्क से उस वर्ण रूप परिणमन करता है।

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।

अर्हत्ध्यानविष्टो भवार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्।।

यह आत्मा जिस भाव में परिणमन करता है वह उस स्वरूप हो जाता है। अर्हत् के ध्यान सहित ध्याता स्वयं अर्हत् रूप हो जाता है।

कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में भी प्रकारान्तर से इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। यथा-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (80)

जो कोई अरहंत भगवान् के द्रव्यपने, गुणपने तथा पर्यायपने को जानता है वह पुरुष अर्हंत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से उस पुरुष का दर्शनमोह का निश्चय से क्षय हो जाता है।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।

किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।। (82)

सब ही अरहंत उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके और उसी प्रकार उपदेश को करके वे निर्वाण को प्राप्त हुए उनके लिए नमस्कार हो।

इस मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में ही मोक्षमार्ग के उपाय मोक्षमार्ग के उपदेशक और मोक्षमार्ग के गुण, मुमुक्षु के कर्त्तव्य, मोक्ष का स्वरूप आदि का संक्षिप्त सार गर्भित वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को नष्ट करके वीतरागी, सर्वज्ञ, कृतकृत्य बनना ही मोक्ष है, और उसके उपाय ही मोक्षमार्ग है। जो मोक्षमार्ग के लिए एवं मोक्ष के लिए विरोध-कारण स्वरूप घाती कर्म हैं उनको नष्ट करने वाला एवं जीवों के हित का उपदेश देने वाला ही मोक्षमार्ग का नेता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय को नाश करके जब जीव अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख को प्राप्त करके जो वीतरागी और हितोपदेशी बनता है वह ही यथार्थ से मोक्षमार्ग का नेता है। तीर्थंकर प्रकृति सहित ऐसे जीव को तीर्थंकर केवली कहते हैं। उनके समवशरण की रचना होती है वे समवशरण में विराजमान होकर देव-दानव, मानव पशु-पक्षियों के लिए भी मोक्षमार्ग का उपेदश देते हैं। इसे ही दिव्यध्वनि कहते हैं। यह 18 महाभाषा तथा 700 क्षद्रुभाषा सहित होती है। तीर्थंकर भगवान् सम्पूर्ण अंग-उपांग से 718 भाषाओं में या विश्व की सम्पूर्ण भाषा यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की भाषा में भी उपेदश देते है। सामान्य केवली के समवशरण की रचना नहीं होती है परन्तु गंधकुटी की रचना होती है और गंधकुटी में रहकर पूर्वोक्त विधि से धर्मोपदेश देते है। दिव्य ध्वनि के बारे में कहा भी है-

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,
नो वांछा कलितं न दोषमलिनं नोच्छवासरूद्धक्रमं।
शान्तामर्षविषै! समं पशुगणैकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदो विनष्टः पायादपूर्व वचः।।

सर्व आपत्तियों से रहित श्री सर्वज्ञ भगवान् का यह अपूर्व वचन हमारी रक्षा करे जो सर्व आत्माओं का हितकारी है, अक्षर रूप नहीं है, दोनों ओठों के हलन-चलन बिना प्रगट होता है, इच्छा रहित होता है, दोषों से मलिन नहीं है, न उसमें श्वासोच्छवास के रुकने का क्रम है, जिसको क्रोध रूपी विष को शांत किए हुए पशुगण भी अपने कानों से सुन सकते हैं।

इस मंगलाचरण सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वालों) को गुणग्राही होकर गुणियों का आदर-सत्कार, विनय करना चाहिए। क्योंकि

इससे स्वयं के अन्दर विद्यमान स्वगुण धीरे-धीरे प्रगट होते हैं और एक समय वह आता है कि वह भी उसे प्राप्त कर लेता है। तुलसीदास ने कहा भी है-

''लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।''

मनोविज्ञान सिद्धांत यह है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है उसका उस वस्तु के प्रति आकर्षण होता है। इसी प्रकार जो मोक्ष चाहता है उसका आकर्षण मोक्षमार्ग व मोक्ष जीव के प्रति होता है। इससे उसे प्रेरणा आदर्श मिलता है जिससे वह धीरे-धीरे मोक्षमार्ग पर चलता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।। (1) र.श्रा.

जिन्होंने आत्मा में लगी हुई कर्म रूपी कालिमा को नष्ट कर दिया है। जिनके केवलज्ञान में आलोक सहित तीनों लोक दर्पण के समान दिखाई देते हैं, ऐसे उन श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो।

उद्देश्य या धर्म का लक्षण

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। (2)

जो जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में धरता है, उस कर्मों के नाशक समीचीन धर्म को मैं कहता हूँ।

धर्म का लक्षण

सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।। (3)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म के ईश्वर (तीर्थंकर देव) धर्म कहते है, और इनके उल्टे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं।

सम्यक्ग्दर्शन का लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना माप्तागम तपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमाष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्ययाम्।। (4)

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित, आठ मद रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सच्चे देव का लक्षण

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। (5)

सच्चा देव, नियम से अठारह दोष रहित वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना चाहिए ऐसा न होने पर सच्चा देवपना नहीं हो सकता।

वीतराग का लक्षण

क्षुत्पिपासा जरातङ्क जन्मान्तक भयस्मयाः।

न रागद्वेष मोहश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते।। (6)

जिसके भूख, प्यास, बुढ़ाप, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिंता तथा स्वेद नहीं होते वे वीतराग कहे जाते हैं।

हितोपदेशी का लक्षण

परमेष्ठी परंज्योतिः विरागो विमलः कृती।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते।। (7)

जो परमपद पर स्थित हैं, केवलज्ञान से युक्त हैं और रागादिक भाव कर्म रहित घातिया कर्म रूप द्रव्य कर्म रहित, कृतकृत्य, आदि, मध्य अन्त से रहित हैं और समस्त जीवों के हित कारक हैं वह शास्ता (हितोपदेशी) हैं।

वीतराग देव के उपदेश में राग का अभाव

अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते।। (8)

हितोपदेशी इच्छा रहित रागद्वेष आदि के बिना भव्य जीवों को हितकारक उपदेश देता है, जैसे बजाने वाले के हाथ से स्पर्श से बजता हुआ मृदंग क्या चाहता है? अर्थात् कुछ भी नहीं चाहता।

क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक-भय-स्मयाः।

न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते।। (6)

1.भूख, 2.प्यास, 3.बुढ़ापा, 4.रोग, 5.जन्म, 6.मरण, 7.भय, 8.गर्व, 9.राग, 10.द्वेष, 11.मोह, 12.आश्चर्य, 13.अरति, 14.खेद, 15.शोक, 16.निद्रा, 17.चिंता, 18.स्वेद, जो इन 18 दोषों से रहित होते हैं उसे आप्त (धर्मोपदेशक तीर्थंकर) कहते हैं-

जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।
राग द्वेष अरू मरण युत ये अष्टादश दोष।
नाहिं होते अरिहन्त के सो छवि लायक मोष।।

देवागमनभोयान, चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्।। (1) आत्ममी.

हे भगवान्! देवों का आगमन, आकाश में गमनादि और चामर आदि विभूतियाँ आप में पायी जाती हैं, इस कारण आप हमारे स्तुति करने योग्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये विभूतियाँ तो मयावी पुरुषों में भी देखी जाती है।

अध्यात्मं बहिरप्येषं, विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः।। (2)

हे भगवान्! आप में शरीर आदि का जो अंतरंग और बहिरंग अतिशय पाया जाता है। वह यद्यपि दिव्य और सत्य है किन्तु रागादियुक्त देवों में भी उक्त प्रकार का अतिशय पाया जाता है अतः उक्त कारणों से भी आप स्तुत्य नहीं हो सकते हैं।

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेदगुरुः।। (3)

अपने-अपने तीर्थों को प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकरो के आगमों में परस्पर विरोध पाये जाने से सब तीर्थंकरों में आप्तत्व संभव नहीं है। अतः उनमें से कोई एक ही हमारा स्तुत्य नहीं हो सकता है।

दोषावरणयोर्हानि र्निशेषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।। (4)

किसी पुरुष विशेष में दोष और आवरण की पूर्ण हानि हो जाती है क्योंकि दोष और आवरण की हानि में अतिशय देखा जाता है। जैसे खान से निकाले हुए

सोने में कीट आदि बहिरंगमल और कालिमा आदि अंतरंग मल रहता है, किन्तु अग्नि में पुटपाक आदि हेतुओं के द्वारा सुवर्ण में दोनों प्रकार के मलों का अत्यंत नाश हो जाता है।

सूक्ष्मान्तरतिदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्याचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः।। (5)

देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि उनकों हम अनुमान से जानते हैं। जो पदार्थ अनुमान से जाने जाते हैं, उन्हें कोई न कोई प्रत्यक्ष भी जानता है किन्तु पर्वत पर रहने वाला प्रत्यक्ष जानता है। इस प्रकार धर्मादि समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।। (6)

हे भगवान्! पहिले जिसे सामान्य से वीतराग तथा सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है, वह आप (अर्हन्त) ही हैं। आपके निर्दोषपने में प्रमाण यह है कि आपके वचन युक्ति और आगम से अविराधी हैं। आपके इष्ट तत्त्व मोक्षादि में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आने के कारण यह निश्चित है कि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं।

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते।। (7)

जिन्होंने अपने मतरूपी अमृत का स्वाद नहीं लिया है जो सर्वथा एकान्तवादी हैं और हम आप्त हैं इस प्रकार के अभिमान से जल रहे हैं उनको जो इष्ट तत्त्व है, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है।

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु।। (8)

हे भगवान्, जो वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक ही धर्म को मानते हैं ऐसे एकान्तग्रह रक्त नर अपने भी शत्रु हैं और दूसरे के भी शत्रु हैं। उनके यहाँ पुण्यकर्म एवं पापकर्म तथा परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकता है।

अभयघोष मुनि की कथा

(हिंसक बना भगवान्)

अभयघोष काकन्दी के राजा थे उनकी रानी का नाम अभयमती था। दोनों में परस्पर बहुत प्यार था।

एक दिन अभयघोष घूमने को जंगल गए हुये थे। इसी समय एक मल्लाह एक बड़े और जीवित कछुए के चारों पाँव बाँध कर उसे लकड़ी में लटकाये हुए लिये जा रहा था। पापी अभयघोष की उस पर नजर पड़ गई। उन्होंने मूर्खता के वश हो अपनी तलवार से उसके चारों पाँवों को काट दिया। बड़े दुःख की बात है कि पापी लोग बेचारे ऐसे निर्दोष जीवों को निर्दयता के साथ मार डालते हैं और न्याय-अन्याय का कुछ विचार नहीं करते! कछुआ उसी समय तड़फड़ा कर गत प्राण हो गया। मरकर वह अकाम-निर्जरा के फल से इन्हीं अभयघोष के यहाँ चंडवेग नामका पुत्र हुआ।

एक दिन राजा को चन्द्र-ग्रहण देखकर वैराग्य हुआ। उन्होंने विचार किया जो एक महान् तेजस्वी ग्रह है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सकता, और जिसकी गणना देवों में है, वह भी जब दूसरों से हार खा जाता है जब मनुष्यों की तो बात ही क्या? जिनके कि सिर पर काल सदा चक्कर लगाता रहता है। हाय, मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आज तक विषयों में फँसा रहा और कभी अपने हितकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया। मोह रूपी गाढ़े अँधेरेने मेरी दोनों आँखों को ऐसी अन्धी बना डाला, जिससे मुझे अपने कल्याणका रास्ता देखने या उस पर सावधानी के साथ चलने की सूझ ही न पड़ा। इसी मोह के पापमय जाल में फँस कर मैंने जैनधर्म से विमुख होकर अनेक पाप किये। हाय, मैं अब इस संसाररूपी अथाह समुद्र को पारकर सुखमय किनारे को कैसे प्राप्त कर सकूँगा? प्रभो, मुझे शक्ति प्रदान कीजिये, जिससे मैं आत्मिक सच्चा सुख पा सकूँ। इस विचार के बाद उन्होंने निश्चित किया कि जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपने कर्त्तव्य के लिए बहुत समय है। जिस प्रकार मैंने संसार में रहकर विषय सुख भोगा, शरीर और इन्द्रियों की खूब सन्तुष्ट किया, उसी तरह अब मुझे अपने आत्महित के लिए कड़ी से कड़ी तपस्या कर अनादि काल से पीछा किये हुए

इन आत्मशत्रु कर्मों का नाश करना उचित है, यही मेरे पहले किये कर्मों का पूर्ण प्रायश्चित्त है, और ऐसा करने से ही मैं शिवरमणी के हाथों का सुख-स्पर्श कर सकूँगा। इस प्रकार स्थिर विचार कर अभयघोष ने सब राजभार अपने कुँवर चण्डवेग को सौंप जिन दीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर उन्हें आत्मशक्ति के बढ़ाने को सहायक बनाती है। इसके बाद अभयघोष मुनि संसार-समुद्र से पार करनेवाले और जन्म-जरा-मृत्यु को नष्ट करनेवाले अपने गुरु महाराज को नमस्कार कर और उनकी आज्ञा ले देश विदेशों में धर्मोपदेशार्थ अकेले विहार कर गये। इसके कितने वर्षों की बाद वे घूमते-फिरते फिर एक बार अपनी राजधानी काकन्दी की ओर आ निकले। एक दिन वे वीरासन से तपस्या कर रहे थे। इसी समय इनका पुत्र चण्डवेग इस ओर आ निकला। पाठकों को याद होगा कि चण्डवेग की और इसके पिता अभयघोष की शत्रुता है। कारण चण्डवेग पूर्व जन्म में कछुआ था और उसके पाँव अभयघोष ने काट डाले थे। सो चण्डवेग की जैसे इन पर नजर पड़ी उसे अपने पूर्व की याद आ गई। उसने क्रोध से अन्धे होकर उनके भी हाथ पाँवों को काट-डाला। सच है धर्महीन अज्ञानी जन कौन पाप नहीं कर डालते।

अभयघोष मुनि पर महान् उपसर्ग हुआ, पर वे तब भी मेरु के समान अपने कर्त्तव्य में दृढ़ बने रहे। अपने आत्मध्यान वे रत्तीभर भी न डिगे। इसी ध्यान बल से केवलज्ञान प्राप्त कर अन्त में उन्होंने अक्षयान्त मोक्ष लाभ किया। सच है, आत्मशक्ति बड़ी गहन है, आश्चर्य पैदा करनेवाली है। देखिए कहाँ तो अभयघोष मुनि पर दुःसह कष्ट का आना और कहाँ मोक्ष प्राप्ति का कारण दिव्य आत्मध्यान! (आराधना कथा कोष)

मेरे आत्मविश्लेषण व आत्म सुधार व शिष्य-सम्बोधन हेतु

(अतः हे! मेरा मन रहता है शान्त (मन शान्त रहने के कारण व सुपरिणाम)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-झिलमिल सितारों का...)

अतः हे! मेरा मन रहता है शान्त रागद्वेषमोह से रहूँ मैं विरक्त।
इस से न होते संकल्प-विकल्प-संक्लेश, ख्यातिपूजालाभ वर्चस्व रिक्त।।
धनी-गरीब तेरा-मेरा नहीं है लेश, शत्रु मित्र पक्षपात से दूर अशेष।

संकीर्ण पंथमत बन्धन न शेष, नाश कर रहा हूँ अनुदार विशेष/(अशेष)।। (1)
अपेक्षा उपेक्षा प्रतीक्षा परे मैं रहूँ, हानि लाभ सुख दुःख में समता में रहूँ।
धन जनमान सम्मान न चाहूँ, ढोंग पाखण्ड आड़म्बर न चाहूँ।।
माईक मंच होर्ड़िंग पत्रिका न चाहूँ, गाजा बाजा साज सज्जा न चाहूँ।
कोई आये न आये चिन्ता न करूँ, भीड़ प्रदर्शन की इच्छा न करूँ।। (2)
भक्त शिष्य आदि में वात्सल्य धरूँ, स्वपर विश्व हित चिन्तन करूँ।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ धरूँ, संकीर्ण स्वार्थ हेतु भाव (काम) न करूँ।।
आशीर्वाद यथायोग्य सभी को मैं दूँ, पक्षपात व स्वार्थ से रहित रहूँ।
परनिन्दा अपमान चापलुसी न करूँ, गुणगुणकथा दोषवादे च मौन मैं रहूँ।। (3)
ध्यान अध्ययन मौन चिन्तन करूँ, अध्यापन लेखन प्रवचन मैं करूँ।
दबाव प्रलोभन भय रहित करूँ, समता शान्ति आत्मविशुद्धि हेतु करूँ।।
आत्महित प्रमुखता से मैं करूँ, परहित यथायोग्य सम्यक् करूँ।
आत्महित विरुद्धभाव-काम न करूँ, गृहस्थ धर्म में हस्तक्षेप न करूँ।। (4)
परप्रतिस्पर्द्धा अन्धानुकरण त्यजूँ, ईर्ष्या घृणा तृष्णा से मुक्त मैं रहूँ।
स्वप्रसिद्धि हेतु धनजन न चाहूँ, इस हेतु गृहस्थों को दबाव न डालूँ।।
T.V. प्रोग्राम विज्ञापन हेतु न कहूँ, विधान पंचकल्याण हेतु न कहूँ।
दया दान सेवा का ज्ञान मैं दूँ, संकीर्ण स्वार्थ पूर्ति भाव न करूँ।। (5)
सेवादान करने वालों से मोह न करूँ, नहीं करने वालों से घृणा न करूँ।
सभी के हेतु शुभ भावना करूँ, नहीं करने वाले करे भावना करूँ।।
इस हेतु एकान्त मौन मैं रहूँ, स्वच्छ शान्त वातावरण में रहूँ।
शोध बोध आत्मप्रबोधन मैं करूँ, आत्मविशुद्धि शान्ति बढ़ाता चलूँ।। (6)
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र बढ़ाऊँ, स्वआत्म वैभव का गौरव करूँ।
आत्मगुण बढ़ने का मूल्य मैं करूँ, आत्मशुद्धि-शान्ति को लाभ मैं मानूँ।।
मेरा मैं कर्त्ता धर्त्ता विधाता भोक्ता, अन्य का न कर्त्ता धर्त्ता विधाता भोक्ता।
पुण्य पाप स्वर्ग मोक्ष मेरे ही मुझ में, अतएव उद्धारक मुझ मैं मेरा ही।। (7)
मेरा परमलक्ष्य एकमेव स्वात्मोपलब्धि, इस में ही क्रेन्द्रित सभी पुरुषार्थ।

एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान (इस में) करूँ, संक्षेप में मनस्थिर शान्ति उपाय करूँ।।
इन सब कारणों से मेरा मन है शान्त/(स्थिर), ध्यान अध्ययन में होता प्रवृत्त।
चिन्तन मनन स्मरण व शोध बोध, लेखन अध्यापन में सदा प्रवृत्त।। (8)
ये मेरे आत्मविश्लेषण सम्बोधन, लाइफ स्टाइल व दैनिक जीवन/(लेखन)।
जीवन जीने की कला व आराधना, ''सूरी कनक'' का लक्ष्य मनातीत होना।। (9)

ग.पु.कॉ. 24-4-2020 रात्रि 10.11

(यह कविता कॉलोनी के भक्त-शिष्यों व मेरे हजारों बालक शिष्यों से लेकर साधु शिष्यों के अनुभव के कारण बनी।)

संदर्भ-

नागदत्त मुनि की कथा

मगधदेश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह में प्रजापाल नामके राजा थे। वे विद्वान् थे, उदार थे, धर्मात्मा थे, जिनभगवान् के भक्त थे और नीतिपूर्वक प्रजाका पालन करते थे। उनकी रानी का नाम था प्रियधर्मा। वह भी बड़ी सरल स्वभाव और सुशील थी। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे प्रियधर्म और प्रियमित्र। दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् और सुचरित थे।

किसी कारण से दोनों भाई संसार से विरक्त होकर साधु बन गये और अन्तसमय समाधिकरण कर अच्युतस्वर्ग में जाकर देव हुए। उन्होंने वहाँ परस्पर प्रतिज्ञा की कि, ''जो दोनों में पहले मनुष्य पर्याय प्राप्त करे उसके लिये स्वर्गस्थ देव का कर्त्तव्य होगा कि वह उसे जाकर सम्बोधे और संसार में विरक्त कर मोक्षसुख की देनेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करने के लिए उसे उत्साहित करे।'' इस प्रकार प्रतिज्ञा करे वे वहाँ सुख से रहने लगे। उन दोनों में से प्रियदत्त की आयु पहले पूर्ण हो गई। वह वहाँ से उज्जयिनी के राजा नागधर्म की प्रिया नागदत्त के, जो कि बहुत ही सुन्दरी थी, नागदत्त नामक पुत्र हुआ। नागदत्त सर्पों के साथ क्रीड़ा करने में बहुत चतुर था, सर्पके साथ उसे विनोद करते देखकर सब लोग बड़ा आश्चर्य प्रगट करते थे।

एक दिन प्रियधर्म, जो कि स्वर्ग में नागदत्त का मित्र था, गारुड़िका वेष लेकर नागदत्त को सम्बोधन को उज्जयिनी में आया। उसके पास दो भयंकर सर्प थे। वह

शहर में घूम-घूमकर लोगों को तमाशा बताता और सर्व साधारण में यह प्रगट करता कि मैं सर्प-क्रीड़ा का अच्छा जानकार हूँ। कोई और भी इस शहर में सर्पक्रीड़ा का अच्छा जानकार हो, तो फिर उसे मैं अपना खेल दिखलाऊँ। यह हाल धीरे-धीरे नागदत्त के पास पहुँचा। वह तो सर्पक्रीड़ा का पहले ही से बहुत शौकीन था, फिर अब तो एक और उसका साथी मिल गया। उसने उसी समय नौकरों को भेजकर उसे अपने पास बुला मँगाया। गारुड़ि तो इस कोशिश में था ही कि नागदत्त को किसी तरह मेरी खबर लग जाय और वह मुझे बुलावे। प्रियधर्म उसके पास गया। उसे पहुँचते ही नागदत्त ने अभिमान में आकर उससे कहा-मंत्रवित्, तुम अपने सर्पों को बाहर निकालो न? मैं उनके साथ कुछ खेल तो देखूँ कि वे कैसे जहरीले हैं।

प्रियधर्म बोला-मैं राजपुत्रों के साथ ऐसी हँसी दिल्लगी या खेल करना नहीं चाहता कि जिसमें जान की जोखिम तक हो, बतलाओं मैं तुम्हारे सामने सर्प निकाल कर रख दूँ और तुम उनके साथ खेलो, इस बीच में कुछ तुम्हें जोखिम पहुँच जाय तब राजा मेरी क्या बुरी दशा करें? क्या उस समय वे मुझे छोड़ देंगे? कभी नहीं। इसलिये न तो मैं ही ऐसा कर सकता हूँ और न तुम्हें ही इस विषय में कुछ विशेष आग्रह करना उचित है। हाँ तुम कहो तो मैं तुम्हें कुछ खेल दिखा सकता हूँ।

नागदत्त बोला-तुम्हें पिताजी की ओर से कुछ भय नहीं करना चाहिये। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मैं इस विषय में कितना विज्ञ हूँ और इस पर भी तुम्हें सन्तोष न हो तो आओ मैं पिताजी से तुम्हें क्षमा करवाये देता हूँ। यह कहकर नागदत्त प्रियदत्त को पिता के पास ले गया और मारे अभिमान में आकर बड़े आग्रह के साथ महाराज से उसे अभय दिलवा दिया। नागधर्म कुछ तो नागदत्त का सर्पों के साथ खेलना देख चुके थे और इस समय पुत्र का बहुत आग्रह था, इसलिये उन्होंने विशेष विचार न कर प्रियधर्म से सर्पों को बाहर निकालने के लिये कहा। प्रियधर्म पहले एक साधारण सर्प निकाला। नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा और थोड़ी देर में उसे उसने पराजित कर दिया, निर्विष कर दिया। अब तो नागदत्त का साहस खूब बढ़ गया। उसने दूने अभिमान के साथ कहा कि तुम क्या ऐसे मुर्दे सर्प को निकालकर और मुझे शर्मिन्दा करते हो? कोई अच्छा विषधर सर्प निकालो न? जिससे मेरी शक्ति का तुम भी परिचय पा सको।

प्रियधर्म बोला-आपका होश पूरा हुआ। आपने एक सर्प को हरा भी दिया है। अब आप अधिक आग्रह न करें तो अच्छा है। मेरे पास एक सर्प और है, पर वह बहुत जहरीला है, दैवयोग से उसने काट खाया तो समझिये फिर उसका कुछ उपाय ही नहीं है। उसकी मृत्यु अवश्यभावी है। इसलिये उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये। उसने नागदत्त से बहुत-बहुत प्रार्थना की पर नागदत्त उसकी एक नहीं मानी। उलटा उस पर क्रोधित होकर वह बोला-तुम अभी नहीं जानते कि इस विषय में मेरा कितना प्रवेश है? इसीलिये ऐसी डरपोकपने की बातें करते हो। पर मैंने ऐसे-ऐसे हजारों सर्पों को जीत कर पराजित किया है। मेरे सामने वह बेचारा तुच्छ जीव कर ही क्या सकता है? और फिर इसका डर तुम्हें या मुझे? वह काटेगा तो मुझे ही न? तुम घबराओ, उसके लिये मेरे पास बहुत से ऐसे साधन हैं, जिससे भयंकर से भयंकर सर्प का जहर भी क्षणमात्र में उतर सकता है।

प्रियधर्म ने कहा-अच्छा यदि तुम्हारा अत्यन्त ही आग्रह है तो उससे मुझे कुछ हानि नहीं। इसके बाद उसने राजा आदि को साक्षी से अपने दूसरे सर्प को पिटारे में से निकाल बाहर कर दिया। सर्प निकलते ही फुंकार मारना शुरू किया। वह इतना जहरीला था कि उसके साँस की हवा ही से लोगों के सिर घूमने लगते थे। जैसे ही नागदत्त उसे हाथ में पकड़ने को उसकी ओर बढ़ा कि सर्प ने उसे बड़े जोर से काट खाया। सर्प का काटना था कि नागदत्त उसी समय चक्कर खाकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा और अचेत हो गया। उसकी यह दशा देखकर हाहाकार मच गया। सबकी आँखों से आँसू की धारा बह चली। राजा ने उसी समय नौकरों को दौड़ाकर सर्प का विष उतारनेवालों को बुलवाया। बहुत से मांत्रिक-तांत्रिक इकट्ठे हुए। सबने अपनी-अपनी करनी में कोई कमी नहीं रक्खी। पर किसी का किया कुछ नहीं हुआ। सबने राजा को यही कहा कि महाराज, युवराज को तो कालसर्प ने काटा है, अब ये नहीं जी सकेंगे। राजा बड़े निराश हुए। उन्होंने सर्पवाले से यह कह कर, कि यदि तू इसे जिला देगा तो मैं तुझे अपना आधा राज्य दे दूँगा, नागदत्त को उसी के सुपुर्द कर दिया। प्रियधर्म तब बोला-महाराज, इसे काटा तो है कालसर्पने, और इसका जी जाना असंभव है, यदि यह जी जाय तो आप इसे मुनि को जाने की आज्ञा दें तो, मैं एक बार इसके जिलाने का यत्न कर देखूँ।

राजा ने कहा-मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ। तुम इसे किसी तरह जिला दो, यही मुझे इष्ट है।

इसके बाद प्रियधर्म ने कुछ मन्त्र पढ़-पढ़ाकर उसे जिन्दा कर दिया। जैसे मिथ्यारूपी विष से अचेत हुए मनुष्यों को परोपकारी मुनिराज अपना स्वरूप प्राप्त करा देते है। जैसे ही नागदत्त सचेत होकर उठा और उसे राजा ने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। वह उससे बहुत प्रसन्न हुआ। पश्चात् एक क्षणभर ही वह वहाँ न ठहर कर वन की ओर रवाना हो गया और यमधर मुनिराज के पास पहुँचकर उसे जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उसे दीक्षित हो जाने पर प्रियधर्म, जो गारुड़ि का वेष लेकर स्वर्ग से नागदत्त के सम्बोधने को आया था, उसे सब हाल कहकर और अन्त में नमस्कार कर पीछे स्वर्ग चला गया।

मुनि बनकर नागदत्त खूब तपस्या करने लगे और अपने चारित्र का दिन पर दिन निर्मल करके अन्त में जिनकल्पी मुनि हो गये। अर्थात् जिनभगवान् की तरह अब वे अकेले ही विहार करने लगे। एक दिन वे तीर्थयात्रा करते हुए एक भयानक वन में निकल आये। वहाँ चोरों का अड्डा था, सो चोरों ने मुनिराज को देख लिया। उन्होंने यह समझ कर, कि ये हमारा पता लोगों को बता देंगे और फिर हम पकड़ लिये जावेंगे, उन्हें पकड़ लिया और अपने मुखिया के पास वे लिवा ले गये। मुखिया का नाम था सूरदत्त। वह मुनि को देखकर बोला-तुमने इन्हें क्यों पकड़ा? ये तो बड़े सीधे और सरल स्वभावी हैं। इन्हें किसी से कुछ लेना देना नहीं, किसी पर इनका राग-द्वेष नहीं। ऐसे साधु को तुमने कष्ट देकर अच्छा नहीं किया। इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिस भय की तुम इनके द्वारा आशंका करते हो, वह तुम्हारी भूल है। ये कोई बात ऐसी नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। अपने मुखिया की आज्ञा के अनुसार चोरों ने उसी समय मुनिराज को छोड़ दिया।

इसी समय नागदत्त की माता अपनी पुत्री को साथ लिये हुए वत्स देश की ओर जा रही थी। उसे उसका विवाह कोशाम्बी के रहनेवाले जिनदत्त सेठ के पुत्र धनपाल से करना था। अपने जमाई को दहेज देने के लिए उसने अपने पास उपयुक्त धन-सम्पत्ति भी रख ली थी। उसके साथ और भी पुरजन परिवार के लोग थे। सो उसे रास्ते में अपने पुत्र नागदत्त मुनि के दर्शन हो गये। उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा-प्रभो,

आगे रास्ता तो अच्छा है न? मुनिराज इसका कुछ उत्तर न देकर मौन सहित चले गये। क्योंकि उनके लिए तो शत्रु और मित्र दोनों ही समान है।

आगे चलकर नागदत्ता को चोरों ने पकड़कर उसका सब माल असबाब छीन लिया और उसकी कन्या को भी उन पापियों ने छीन लिया। तब सूरदत्त उनका मुखिया उनसे बोला-क्यों आपने देखी न उस मुनि की उदासीनता और निस्पृहता? जो इस स्त्री ने मुनि को प्रणाम किया और उनकी भक्ति की तब भी उन्होंने हम से कुछ द्वेष नहीं किया। सच बात तो यह कि उनकी वह वृत्ति ही इतने ऊँचे दरजे की है, जो उसमें भक्ति करनेवाले पर तो प्रेम नहीं और शुत्रता करनेवाले से द्वेष नहीं। दिगम्बर मुनि बड़े ही शान्त, धीर, गम्भीर और तत्त्वदर्शी हुआ करते हैं।

नागदत्ता यह सुनकर, कि यह सब कारस्तानी मेरे ही पुत्रकी है, यदि वह मुझे इस रास्ते का सब हाल कह देता, तो क्यों आज मेरी यह दुर्दशा होती? क्रोध के तीव्र आवेग से थरथर काँपने लगी। उसने अपने पुत्र की निर्द्रयता से दुःखी होकर चोरो के मुखिया सूरदत्त से कहा-भाई, जरा अपनी छुरी तो मुझे दे, जिससे मैं अपनी कूँख को चीरकर शान्ति लाभ करूँ। जिस पापी का तुम जिक्र कर रहे हो, वह मेरा ही पुत्र है। जिसे मैंने नौ महीने कूँख में रक्खा और बड़े-बड़े कष्ट सहे उसी ने मेरे साथ इतनी निर्दयता की कि मेरे पूछने पर भी उसने मुझे रास्ते का हाल नहीं बतलाया। तब ऐसे कुपुत्र को पैदाकर मुझे जीते रहने से ही क्या लाभ?

नागदत्ता का हाल जानकर सूरदत्त को बड़ा वैराग्य हुआ! वह उससे बोला-जो उस मुनि की माता है, वह मेरी भी माता है। माता, क्षमा करो! यह कहकर उसने उसका सब धन असबाब उसी समय पीछा लौटा दिया और आप मुनि के पास पहुँचा। उसने बड़ी भक्ति के साथ परम गुणवान् नागदत्त मुनि की स्तुति की और पश्चात् उन्हीं के द्वारा दीक्षा लेकर वह तपस्वी बन गया।

साधु बनकर सूरदत्त ने तपश्चर्या और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर लोकालोक और प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अनेक भव्य जीवों को कल्याण का रास्ता बतलाया और अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी, अनन्त, मोक्ष पर प्राप्त किया।

आत्म सम्बोधन व आत्म सुधार हेतु...

उत्तम (शुभ, शुद्ध) भाव क्या है और क्यों करूँ!?

(आध्यात्मिक भाव ही उत्तम भाव, इससे ही मिले मोक्ष)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.मन रे!.... 2.सायोनारा....)

आत्मन् तू उत्तम भाव करो...
उत्तम भाव है रत्नत्रयमय...इसे ही बढ़ाता चलो ऽऽ (ध्रुव)

आत्मविश्वास ज्ञान चारित्रमय...होता रत्नत्रय जो आत्मस्वभाव...
इसके भेद हैं दशधा धर्म...अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्म अपरिग्रह...
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ ऽऽ आत्मन् (1)

तत्वार्थश्रद्धान या आत्मश्रद्धान से...होता है उत्तम भाव प्रारंभ...
स्वंय को मानना है चैतन्यमयद्रव्य...निश्चय से शुद्ध बुद्ध आनन्द...
द्रव्य भाव नो कर्म विरहित...आत्मन् (2)

इसे ही कहते हैं सम्यग्दर्शन... इस से होता है सम्यग्ज्ञान...
इस के भेद हैं मतिश्रुतावधि...मनः पर्यय व केवलज्ञान...
हित प्राप्ति अहित परिहार ज्ञान...आत्मन् (3)

आत्मविश्वास व आत्मज्ञान युक्त...होता सम्यग्चारित्र महान्...
क्रोधमान माया लोभ त्याग से...होते क्षमामार्दव आर्जव...
शौच सत्य संयम तप त्याग...
ब्रह्मचर्य व आकिंचन्य भाव...आत्मन् (4)

इस हेतु चाहिए अहिंसा सत्य व्रत...अचौर्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह...
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाव...गुण गण कथन दोष वादे च मौनम्..
सहिष्णु धैर्य शान्ति मौनम्/(ध्यानम्)...आत्मन् (5)

उदारगुण ग्राही परोपकारी...स्व पर विश्वहित चिन्तन...
संकीर्ण भेदभाव पक्षपात शून्य...ध्यान अध्यनन मनन पूर्ण...
ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व शून्य...आत्मन् (6)

इन से रिक्त भाव नहीं उत्तम भाव...उत्तम भाव बिन न उत्तम काम...
उत्तम भाव करो कहने मात्र से...नहीं होता है उत्तम भाव काम...
उत्तम भाव करो कहते भी दुष्ट दुर्जन...आत्मन् (7)
उत्तम भाव बिन सभी है व्यर्थ...धर्म कर्म व्रत नियम तप...
उत्तम भाव से ही स्वर्ग व मोक्ष...यस्मात् क्रियाः न फलन्ति भाव शून्याः।
मोक्ष हेतु उत्तम भाव करो 'कनक'...आत्मन् (8)
उत्तम भाव हेतु ही श्रावक साधुधर्म...यह ही सद्भावना व प्रभावना...
केवल भीड़ आड़म्बर दिखावा न धर्म...संकल्प-विकल्प संक्लेश न धर्म...
ईर्ष्या तृष्णा घृणा रहित धर्म...आत्मन् (9)

ग.पु.कॉ. दि. 27-04-2020 रात्रि 12.20

संदर्भ-

शुभाशुभभाव युक्ताः पुण्यः पापं भवंति खलु जीवाः।
सातं शुभायुः नाम गोत्रं पुण्य पराणि पापं च।। द्रव्य.

The jivas consist of Punya and Papa surely having auspious and inauspicious Bhavas (respectively). Puntya is Satavedaniya, auscipicious life, name and class, While Papa is (exactly) the opposite (of these).

शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य और पाप रूप होते हैं। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मों की जो प्रकृतियाँ हैं वे तो पुण्य प्रकृतियाँ हैं और शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

इस गाथा में आचार्यश्री ने आस्रव एवं बंध के उत्तर भेद स्वरूप पुण्य पाप का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेद का कथन किया है। 'सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवन्ति खलु जीवा' अर्थात् शुभ एवं अशुभ भावों से युक्त होकर जीव निश्चय से पुण्य-पाप रूप में परिणमन करता है यह प्रतिपादन करके आचार्यश्री ने भाव पुण्य एवं भाव पाप का प्रतिपादन किया है। अर्थात् जो शुभोपयोग से युक्त जीव है वह पुण्य जीव है और जो अशुभोपयोग से युक्त जीव है वह पाप जीव है। शुभोपयोग का आरंभ वस्तुतः सम्यग्दर्शन होने के बाद अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में होता है। मिथ्यात्व

गुणस्थान में शुभोपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना शुभोपयोग संभव नहीं है। गोम्मट्टसार में कहा भी है-

जीवा पुण्णा हु सम्मगुण सहिदा।

वदसहिदा वि य पावा, तव्विरीया हवंति त्ति।।(622)

जीव के दो भेद हैं-एक पुण्य और दूसरा पाप। जो सम्यक्त्व गुण से या व्रत से युक्त है उनको पुण्य जीव कहते हैं और इससे जो विपरीत है उसको पाप जीव कहते हैं।

'मिच्छाइट्ठी पावा'-मिथ्यादृष्टि पाप जीव है।

इससे सिद्ध होता है यदि वैभवशाली राजा, महाराजा, देव भी मिथ्यात्व से सहित हैं तो पापी जीव हैं परन्तु सम्यग्दर्शन से सहित पशु, नारकी, गरीब मनुष्य भी पुण्यात्मा जीव है।

वस्तुतः भाव पुण्य ही पुण्य है और भाव पुण्य के कारण जो कर्म परमाणु द्रव्य रूप में परिणमन करता है वह द्रव्य पुण्य है। ऐसे भाव पुण्य करने के लिए हमारे पूर्वाचार्य भी उपदेश करते हैं एवं प्रेरित करते हैं।

उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्।

भावनमस्काररतो ज्ञानेयुक्तो भव सदापि।।(1)

मिथ्यात्व रूपी विष का वमन कर दो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति को करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो।

पंचमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्।

दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपः सिद्धिविधौ कुरूद्योगम्।।(2)

पाँच महाव्रतों की रक्षा करो, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्ण रूप से निग्रह करो, दुर्दांत प्रबल इन्द्रिय रूप शत्रुओं पर विजय करो तथा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का जो तप है उसको सिद्ध करने में उद्योग करो। इस प्रकार दोनों आर्याच्छन्दों से कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप भाव परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त परिणत जो जीव हैं वे पुण्य-पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पापरूप हो जाते हैं।

शुभः पुण्यास्याशुभः पापस्य। (3) मोक्षशा.

Asrva of 2 kinds: शुभ or good which is the inlet of virtue or meritorious karmas अशुभ of bad which in the inlet of vice or demeritorious karmas.

शुभ योग पुण्य का और अशुभ योग पाप का आस्रव है।

शुभयोग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। हिंसा, असत्य भाषण, वध आदि की चिन्ता रूप अपध्यान अशुभ योग है। हिंसा, दूसरे की बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी, मैथुन-प्रयोग आदि अशुभ काययोग है। असत्य भाषण, कठोर मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। हिंसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है।

अशुभ योग से भिन्न अनंत विकल्प वाला शुभ योग है। जैसा-अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ काययोग है। अर्हंत भक्ति, तप की रूचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। सत्य, हित-मित वचन बोलना शुभ वाग्योग है।

शुभ परिणाम-पूर्वक होने वाला योग शुभ योग है और अशुभ परिणामों से होने वाला योग अशुभ योग कहलाता है। ''पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। कर्मणः स्वतंत्र्य विवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्।

पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति।
वा पुण्यम् तत्सद्वैद्यादि। तत्त्वार्थवार्तिके।।

जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र किया जाता है वह पुण्य कहलाता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुख-साता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य है। स्वतंत्र विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है प्रसन्न करता है वह पुण्य है एवं कर्तृवाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है। पारतन्त्र्य विवक्षा में कारण साधन से पुण्य शब्द निष्पन्न होता है जैसे जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एवं प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है।

''तत्प्रतिद्वन्दि रूपं पापम्। तस्य प्रतिद्वन्दि रूपं पापमिति विज्ञापते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभ परिणामादिति पुण्यस्य पापभिधानमा तदसद्वेद्यादि'' (तत्त्वार्थ वार्तिके)

पुण्य का प्रतिद्वंद्वी (विपरीत) पाप है। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असातावेदनीय आदि पाप कर्म है।

प्रश्न-जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों ही का अविशेषता से तुल्य (समान) फल है प्राणी को परतंत्र करना, वैसे ही पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा को परतंत्र करने में निमित्त कारण हैं। इन पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, यह पुण्य (शुभ) है, यह अशुभ है, पाप है, यह तो केवल संकल्प मात्र भेद है।

उत्तर-पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सोने या लोहे की बड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतंत्रता में कारण है तथापि इष्टफल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय विषय आदि का निवर्तक (हेतु) है, वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रियों के विषय आदि का कारण है वह पाप है। इस प्रकार पुण्य कर्म और पापकर्म में भेद है। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग पापास्रव का कारण है।

शंका-सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों ही हेय (त्याज्य) है फिर वह पुण्य संपादन कैसे करता है?

समाधान-सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध आत्मा को ही भाता है। परन्तु जब चारित्र मोह के उदय से उस निज शुद्ध आत्मा की भावना में असमर्थ होता है, तब दोष रहित परमात्म स्वरूप जो अर्हंत सिद्ध हैं तथा उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनकी परमात्मा रूप पद की प्राप्ति के निमित्त और विषय तथा कषायों को दूर करने के लिए दान, पूजा आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति को करता है और भोगों की वांछा आदि निदानों से रहित जो परिणाम हैं उससे कुटुंबियों के पलाल के समान निरिच्छकपने से विशिष्ठ पुण्य का आस्रव करता है, अर्थात् जैसे किसान जब धान की खेती करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल उत्पन्न करने का रहता है और धान का जो पलाल (घास) उसमें उसकी वांछा नहीं रहती है, तथापि उसको बहुत-सा पलाल मिल ही जाता है। इसी प्रकार मोक्ष को चाहने वाले जीवों की वांछा बिना भी भक्ति करने से पुण्य का आस्रव होता है और

उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लोकांतिक देव आदि की विभूति को प्राप्त होकर स्वर्ग संबंधी जो विमान तथा देव-देवियों का परिवार है, उसको जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पंच महाविदेहों में जाकर देखता है। क्या देखता है? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि, वह यह समवसरण है, ये वही श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, ये वे ही भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधर देव आदि हैं, जो कि पहले सुने जाते थे, वे आज प्रत्यक्ष में देखे ऐसा मानकर अधिकता से धर्म में दृढ़ बुद्धि को करके चतुर्थ गुणस्थान के योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है (भाव है) उनको नहीं छोड़ता हुआ भोगों का सेवन होने पर भी धर्मध्यान से देव आयु के काल को पूर्णकर स्वर्ग से आकर तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है और तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होने पर भी पूर्वजन्म में भावित की हुई जो विशिष्ट भेदज्ञान की वासना है उसके बल से मोह को नहीं करता है और मोह रहित होने से जिनेन्द्र की दीक्षा को धारण करता हुआ पुण्य तथा पाप से रहित जो निज परमात्मा का ध्यान है उसके द्वारा मोक्ष को जाता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह तो तीव्र निदान बंध के पुण्य से चक्रवर्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणों के समान भोगों को प्राप्त होकर नरक को जाता है।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहोअसुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो।।(9) (प्र.सार.)

जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसम या तमाल पुष्प के लाल या काले रंग रूप परिणत स्फटिक की भाँति परिणाम स्वभाव वाला होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब यह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता है, शुद्ध होता है तब शुद्ध अराग वीतराग स्फटिक की भाँति परिणाम स्वभाव शुद्ध होता है उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है।

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव, कूटस्थ नहीं है।

देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मिय सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। (69)

देव, यति और गुरु की पूजा में तथा दान में तथा सुशील में और उपवासादिक में आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचय जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे णसं चयमत्थिं।। (156)

उपयोग आदि शुभ हो तो जीव पुण्य संचय को प्राप्त होता है और सदा अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहोतस्स।। (157)

जो अर्हन्तों, सिद्धों तथा अनगारों को जानता है और श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकंपा युक्त है, उसका वह उपयोग शुभ है।

कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार एवं प्रवचन सार के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने तत्वार्थसार में पुण्यास्रव का कारण बताते हुए कहा है-

दान दयां तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्त्यं विनीतश्च जिनपूजार्जवं तथा।। (25)
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकंपा व सद्देद्यास्रवहेतवः।। (26)

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रिय दमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, भूतानुकंपा और व्रत्यनुकंपा ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

पापास्रव के कारणभूत अशुभ योग का स्वरूप कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में निम्न प्रकार से किया है-

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चितदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।। (158)

जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ मग्न है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, कषायों की तीव्रता में अथवा पापों में उद्यत है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है उसका वह उपयोग अशुभ है।

शुभोपयोग के अनेक भेद, प्रभेद होने से उनकी बंधने वाली प्रकृतियाँ भी अनेक हैं तथा अशुभोपयोग के भेद, प्रभेद अनेक होने के कारण उनके बंधने वाली प्रकृतियाँ भी अनेक हैं गोम्मट्टसार कर्मकांड में पुण्य एवं पाप प्रकृतियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

पुण्य प्रकृतियां

सादं तिण्णेवाउं उच्चं णरसुरदुगं च पंचिंदी।
देहा बंधणसंघादांगोवंगाई, वण्णचओ।। (41)
समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था।। (42)

सातावेदनीय, तीन आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पांचबंधन, पांच संघात, तीन अंगोपांग, वर्णचतुष्क, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसहननं, उपघात बिना अगुरुलघुषट्क प्रशस्तविहायोगति, त्रस आदि बारह ये अड़सठ प्रकृतियाँ भेदविवक्षा से है तथा अभेद विवक्षा से पुण्य प्रकृतियाँ 42 ही हैं।

उपर्युक्त गाथा में कथित पुण्यप्रकृतियों में जो तीन आयु कहीं है, वे तिर्यंच मनुष्य और देवायु हैं। वर्ण चतुष्क में-वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं, किंतु यहाँ शुभरूप वर्णादि चतुष्क को ही ग्रहण करना। इनके भेद करने पर वर्ण 5, गंध 2, रस 5 और स्पर्श 8 इस प्रकार 20 भेद होते हैं सो यह कथन भेदविवक्षा से है, लेकिन अभेदविवक्षा में शुभ रूप वर्णादि चार ही ग्रहण के योग्य हैं। उपघात के बिना अगुरुलघुषटक अर्थात् अगुरुलघु-परघातउच्छवास-आतप और उद्योत ये 5 प्रकृतियाँ हैं। त्रस आदि 12 प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। भेद विवक्षा से तो 68 प्रकृतियाँ कहीं और अभेद विवक्षा से 42 प्रकृतियाँ कहीं सो इसका अभिप्राय यह है कि पाँच बंधन और 5 सङ्घात, पाँच शरीरों के अविनाभावी है अतः उनकी पृथक नहीं गिनने से 10 प्रकृतियाँ वे कम हो गयी। इस प्रकार इन 26 प्रकृतियों को कम कर देने पर अभेदविवक्षा में 42 ही प्रकृतियाँ रहती हैं एवं भेद विवक्षा से इन 26 का ही कथन होने से 68 प्रकृतियाँ हो जाती है। यहां पृथक-पृथक रूप से नाम गिनाकर पुण्य

(प्रशस्त) प्रकृतियों का कथन किया गया है। इसी बात का एक संक्षिप्त सूत्र द्वारा तत्वार्थ सूत्र में उमास्वामी ने कहा है, ''सातावेदनीय, शुभआयु, नामकर्म की शुभ प्रकृतियाँ तथा शुभगोत्र (उच्चगोत्र) वे पुण्यरूप हैं।''

पाप प्रकृतियां

घादीणीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी।
संठाणसंहदीणं चदुपणगं च वझ्णचओ।। (43)
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्प सत्थाहु।
बंधुदयं पडि भेदे अडणऊदि सयं दुचदुर सीदिदरे।। (44) (गो.सा. कर्म.)

घातिया कर्म की 47 प्रकृति तथा नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, जाति 4, संस्थान 5, संहनन 5, (अशुभ) वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थारवादि 10 ये अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियां हैं। भेद विवक्षा से बंध रूप 98 प्रकृतियां एवं उदयरूप 100 प्रकृतियां हैं। अभेदविवक्षा से वर्णादि कि 16 प्रकृति घटाने पर बंधन रूप 82 और उदयरूप 84 प्रकृतियां हैं।

यहां अप्रशस्त प्रकृतियों में घातिया कर्मों की प्रकृतियां कही गयी सो घातियां कर्म तो अप्रशस्ततरूप ही हैं। उनकी 47 प्रकृतियां-ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, मोहनीय 28 और अन्तराय की 5 हैं तथा नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि 4, जाति समचतुरस्रसंस्थान बिना न्यग्रोधपरिमंडलादि 5 संस्थान, वज्रवृषभनाराचबिना वज्रनाराचादिक 5 संहनन, अशुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर अनादेय और अयशस्कीर्ति इस प्रकार वर्णादि की 16 कम करने पर उदयापेक्षा 84 प्रकृतियां तथा घातियाकर्म की 47 में से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति कम कर देने से बंधापेक्षा की 82 प्रकृतियां अप्रशस्त रूप कही है। भेद विवक्षा से वर्णादि की 16 मिलने पर बंधापेक्षा 98 एवं उदयापेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृति मिलने से 100 प्रकृतियां पाप रूप (अप्रशस्त) कहीं है।

पुण्य के फल

पुनात्यात्मानं पूयतेनेनेति वा पुण्यम्। सर्वार्थसिद्धि

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है।

धवल-सिद्धांत शास्त्र में वीरसेन स्वामी ने कहा है-

काणि पुण्य फलानि?

पुण्य के फल कौन से हैं?

तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि

बलदेव-वासुदेव-सूर-विज्जाहररिद्धीओ।।

तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं। सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया गया पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किए हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है।

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।

पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं।। (423)

यदि वह जीव अपने चिरकाल के संचित किए हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम के शुद्ध चारित्र को धारण कर तथा केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।

इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण।। (424)

उपरोक्त कथनों से सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यही समझ कर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए।

.....उवसामगो व खवगो वा।

सो सूहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि।। (474)

जिस उपशम श्रेणी वाले अथवा क्षपकश्रेणिवाले जीव के अणुमात्र लोभसूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसाम्पराय संयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्र वाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम

होते हैं क्योंकि वह संयम दशवें गुणस्थान में होता है यथाख्यात संयम ग्यारहवें से शुरू होता है।

विभाव व आत्मवैभव अनुप्रेक्षा-(आत्मवैभव का आत्मगौरव V/s अष्टमद)

'अहंकार' 'ममकार' परे करूँ स्वप्रतीति-परिणति?

(अष्टमद के 'अहंकार' 'ममकार' परे स्व आत्म वैभव के श्रद्धानज्ञान चारित्र करूँ।)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.मन रे!.... 2.सायोनारा....)

आत्मन् स्व वैभव प्राप्त करो...
स्व वैभव तेरा आत्मिक वैभव...अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य...(ध्रुव)
आत्मवैभव प्राप्त हेतु त्याग करो...विभाव भाव सर्व पर द्रव्य ऽऽ
रागद्वेष मोह काम क्रोध मद, सचित्त अचित्त परिग्रह सर्व ऽऽ
स्वशुद्धात्मा परे सभी पर द्रव्य ऽऽ (1)
क्षायोपशमिक कर्मज सभी भाव...स्वशुद्धात्मा से परे अतः है पर ऽऽ
उसे स्व मानना मिथ्या व अहंकार है...जाति कुल बल ऋद्धि व शरीर ऽऽ
ज्ञान तप पूजा है मिथ्या अहंकार (2)
ये सभी कर्मज होने से विभाव...विभाव होने से न शाश्वत ऽऽ
अनन्तदर्शनज्ञान सुखवीर्य...स्वभाव होने से शाश्वत ऽऽ
इसकी श्रद्धाप्रज्ञाचर्या मोक्षमार्ग ऽऽ (3)
इसके अतिरिक्त सत्ता सम्पत्ति बुद्धि...ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व ऽऽ
भोगोपभोग व सांसारिक वैभव...विभाव व परद्रव्य होने से न स्वभाव
इन में न करो 'अहंकार' 'ममकार' (4)
'अहंकार' 'ममकार' त्यागकर के...करो स्व आत्म वैभव का ध्यान ऽऽ
इस हेतु करो अध्ययन चिन्तन...अनुप्रेक्षा, प्रवचन व लेखन ऽऽ
तप त्याग से ले आत्म संबोधन ऽऽ (5)
''णिरंजणो सो अहंभणियो सुद्धोऽहं''...यह है तेरा शाश्वत शुद्ध रूप ऽऽ
''अहंमेक्को खलु सुद्धो'' ''सेसाबाहिरा सव्वे''...''ससमयरतो परसमय विरतो'' ऽऽ
''एकोऽहं निर्ममः शुद्धः'' ''बुद्धोऽहं'' ऽऽ (6)

इस से ही होगी समता-शान्ति...आत्मविशुद्धि से आत्मउन्नति ऽऽ
संवर निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति...यह ही तेरी आत्मोपलब्धि ऽऽ
'कनक' करो इस की प्रतीति-परिणति ऽऽ (7)
आत्मगौरव आत्मानुभूति से होता है...''सव्वेसुद्धणया से'' सभी जीव शुद्ध ऽऽ
जिससे सभी जीव प्रति समता भाव...किसी से न राग द्वेष मोह ऽऽ
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाव ऽऽ (8)
स्वयं को न किसी से छोटा मानूँ...न किसी से मानूँ हूँ बड़ा ऽऽ
इससे किसी से ईर्ष्या घृणा निन्दा न करूँ...न करूँ प्रतिस्पर्द्धा अन्धश्रद्धा नकल
न आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व ऽऽ न अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा ऽऽ (9)
तेरा (मेरा) स्वरूप को न जाने मोही...अष्टमद में करे 'अहंकार' 'ममकार' ऽऽ
अनात्म को आत्मा, आत्मा को अनात्मा...जाने माने चाहे बहिरात्मा ऽऽ
तू अन्तरात्मा से बनो परमात्मा ऽऽ (10)

ग.पु.कॉ. 29-4-2020 रात्रि 9.15 व 11.46

सन्दर्भः-

तम्हा अब्भसऊ सया मोत्तूणं राय दोस वा मोहो।
झायउ णिय अप्पाणं जइ इच्छह सासयं सोक्खं।।(167) तत्त्वसार

इसलिये यदि शाश्वत सुख को चाहते हो तो राग, द्वेष और मोह को छोड़कर सदा ध्यान का अभ्यास करो और अपनी आत्मा का ध्यान करो।

दंसण-णाण पहाणो असंखदेसो हु मुत्ति परिहीणो।
सगहिय देह पमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा।।(17)

निश्चय नय से आत्मा, दर्शन और ज्ञान गुण प्रधान है, असंख्यात प्रदेशी है, मूर्तित्व से रहित है, अपने द्वारा गृहीत देह प्रमाण है। ऐसे स्वरूप वाला आत्मा जानना चाहिए।

रागादिया विभावा बहिरंतर-उहयवियप्पं मोत्तूणं।
एयग्गमणो झायउ णिरंजणं णियय-अप्पाणं।।(18)

रागादि विभावों को, तथा बाहरी दोनों प्रकार के विकल्पों को छोड़कर एकाग्र चित्त होकर कर्मरूप अंजन से रहित शुद्ध अपने आत्मा का ध्यान रखना चाहिए।

जस्स ण कोहो माणो लोहो य सल्ल लेस्साओ।

जाइ जरा मरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ।।(19)

जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न कोई लेश्या है और न जन्म, जरा और मरण भी है वही निरंजन मैं कहा गया हूँ।

णत्थि कलासंठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणइं।

ण य लद्धि बंधठाणा णोदय ठाणाइया केई।।(20)

निरन्जन आत्मा के कोई कला नहीं है, कोई संस्थान नहीं है, कोई मार्गणास्थान नहीं है, कोई गुणस्थान नहीं है, और न कोई जीवस्थान है, न कोई लब्धिस्थान है, न कोई बंधस्थान और न कोई उदयस्थान आदि हैं।

फास रस रूव गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।

सुद्धो चेयणाभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ।।(21)

और जिसके स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द आदिक नहीं है वह शुद्ध चेतन भाव रूप मैं निरंजन कहा गया हूँ।

अत्थिति पुणो भणियास णएण ववहारिएण ए सव्वे।

णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविह भेयगया।(22)

पुनः व्यावहारिक नय से अनेक भेद गति से सर्व नोकर्म और कर्म जनित पर्याय जीव के हैं, ऐसा कहा गया है।

संबंधों एदेसिं णायव्वो खीर-णीर णाएण।

एकत्तो मिलियाणं णिय-णिय सब्भावजुत्ताणं।।(23)

अपने-अपने सद्भाव से युक्त किन्तु एकत्व को प्राप्त इन जीव और कर्म का संबंध दूध और पानी के न्याय से जानना चाहिए।

जह कुणइ को विभेयं पाणिय-दुद्धाण तक्क जोएणं।

णाणी वि तहा भयं करेइ वर झाणजोएणं।।(24)

जैसे कोई पुरुष तर्क के योगी से पानी और दूध का भेद करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी उत्तम ध्यान के योग से चेतन और अचेतन स्व-पर का भेद करता है।

झाणेण कुणउ भेयं पुग्गल जीवाण तह य कम्माणं।

घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो।।(25)

ध्यान से पुद्गल और जीव का और उसी प्रकार कर्म और जीव का भेद करना चाहिए। तत्पश्चात् सिद्ध स्वरूप परम ब्रह्मरूप अपनी आत्मा ग्रहण करना चाहिए।

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।

तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो।।(26)

जैसा कर्म-मल से रहित, ज्ञानमय, सिद्धात्मा सिद्धलोक में निवास करता है, वैसा ही परम ब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा देह में स्थित जानना चाहिए।

णोकम्म कम्मरहिओ, केवलणाणाइ गुणसमिद्धो जो।

सो हं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो।।(27)

जो सिद्ध जीव, शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा राग द्वेषादि भावकर्म से रहित है, केवलज्ञानादि अनंत गुणों से समृद्ध है, वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक स्वरूप हूँ और निरालंब हूँ।

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइ समिद्धो हं।

देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य।।(28)

मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनंतज्ञानादि में समृद्ध हूँ मैं शरीर प्रमाण हूँ मैं नित्य हूँ, मैं असंख्यत प्रदेशी हूँ और अमूर्त हूँ।

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खान विसयवावारे।

पयडइ बंभसरूवं अप्पास झाणेण जोईणं।।(29)

मन के संकल्पों के बंद हो जाने पर और इन्द्रियों के विषय व्यापार के रुक जाने पर योगियों के ध्यान के द्वारा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है।

जह जह मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जंति।

तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जह णहे सूरो।।(30)

जैसे-जैसे मन का संचार और इन्द्रियों के विषय भी उपशमभाव को प्राप्त होते है, वैसे-वैसे ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है, जैसे आकाश में सूर्य।

मण-वयण-कायजोया, जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं।

तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पय सरूवं।।(31)

योगी के यदि मन वचन और काय योग निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं तो आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को प्रकट करता है।

मण-वयण-काय रोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं।

चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं।।(32)

मन, वचन, काय की चंचलता रुकने पर कर्मों का आस्रव से रुक जाता है। तब चिरकालीन बंधा हुआ कर्म योगियों के स्वयं गल जाता है और फल रहित हो जाता है।

मैं ही परमात्मा हूँ

('मैं' शरीर नहीं 'मैं' निश्चय से परमात्मा)

जे परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।

इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु।।(22) यो.सा.

पद्य : जो परमात्मा वही मैं हूँ, मैं जो हूँ सो ही परमात्मा।

ऐसा जानकर हे! योगीजन और कुछ न विकल्प कर।।

समीक्षा : आचार्य देव दृढ़तापूर्वक कर रहे शिष्यों को सम्बोधन।

शंका आदि दोष रहित हे! योगी तू स्वयं को मानो भगवान्।।

सम्यग्दृष्टि का प्रथम अंग है शंका रहित हो निःशंक।

सर्वज्ञदेव ने जो कुछ कहा उसमें रहना है निःशंक।।

संसारी भव्य ही रत्नत्रय द्वारा बनते हैं अरिहन्त-सिद्ध।

इस दृष्टि से निःशंक होकर योगी माने निश्चय से स्व को सिद्ध।।

भगवान् का स्वरूप एवं स्वस्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है तदनन्तर जब वह पूज्य के गुणों को अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही पूजा का परमोत्कृष्ट फल है। आचार्य प्रवर उमास्वामी ने कहा है - ''**वन्दे तद्गुण लब्धये**'' अर्थात् मैं वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

वीरसेन स्वामी ने कहा है कि जो अरहंत की प्रतिमा के भी दर्शन करता है उनका मोहनीय कर्म क्षय होता है जिससे जिनबिंब दर्शन से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कहा है। जैसे-अंकुर की मूल पर्याय बीज है और भविष्यत् पर्याय वृक्ष है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भूत पर्याय मिथ्यात्वावस्था है और भविष्यत्. पर्याय भगवान् अवस्था है। भव्य भावी भगवान् है तो भगवान् भूत भव्य है जैसे-बालक भावी प्रौढ़ अवस्था है और प्रौढ़ मानव भूत बालक है। इसलिए जो आत्मा है वही परमात्मा है।

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परू देहहँ मं करि भेउ।।(26)

जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म नोकर्मरूप मल से रहित केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकर शक्तिरूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है, इसलिए हे प्रभाकर भट्ट, तू सिद्ध भगवान् में और अपने में भेद मत कर।

जे दिट्ठे तुट्टंति लहु कक्मइँ पुव्व कियाइँ।
सो परू जाणाहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ।।(27)

जिस आत्मा को सदा आनन्द रूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रों का देखनेसे शीघ्र ही निर्वाण को रोकने वाले पूर्व जीवोपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभाव जो जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे वे निजस्वरूप के देखने से ही नाश हो जाते हैं, उस सदानन्दरूप परमात्मा को देह में बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।

देहादेवलि जो वसइ दउ अणाइ-अणंतु।
केवल-णाण-फुरंत-तणु-लो परमप्पु णिभंतु।।(33)

जो व्यवहारनयकर देवालय में बसता है, निश्चयनकर देह से भिन्न है, देह की तरह मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है, महापवित्र है, आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है, जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है, तथा देह आदि अंतकर सहित है, जो आत्मा निश्चयनयकर

लोक अलोक को प्रकाशने वाले केवल ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् केवल ज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है, वही परमात्मा निःसंदेह है, उसमें कुछ संशय नहीं समझना।

बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरू लहु अथि ण कोई।
जीवा सयल वि बंभु परू जेण वियाणइ सोइ।।94 (अ 2)

हे जीव, परमार्थ को समझने वालों के कोई जीव बड़ा छोटा नहीं है, सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप है, क्योंकि निश्चयनय से वह सम्यग्दृष्टि एक ही जीव सबको जानता है।

जो भतउ-रयण-त्तयह तसु मुणिलक्खणु एउ।
अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ।। (95)

जो मुनि रत्नत्रय की आराधना करने वाला है, उसके यह लक्षण जानना कि किसी शरीर में जीव रहे, वह ज्ञानी उस जीव का भेद नहीं करता अर्थात् देह के भेद से गुरुता लघुता का भेद करता है, परन्तु ज्ञान दृष्टि से सबको समान देखता है।

जीवहँ तिहुयण संठियहँ मूढ़ा भेउ करंति।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति।। (96)

तीन भुवन में रहने वाले जीवों का मूर्ख ही भेद करते हैं, और ज्ञानी जीव केवलज्ञान से प्रकट सब जीवों को समान जानते हैं।

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण विमुक्क।
जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क।। (97)

सभी जीव ज्ञानमयी है, और अपने-अपने प्रदेशों से सब समान हैं, सब जीव अपने केवल ज्ञानादि गुणों के समान हैं।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु।। (98)

जीवों का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने दर्शन और ज्ञान कहा है, इसीलिए उन जीवों में भेद मत कर, अगर तेरे मन में ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है, अर्थात् हे शिष्य! तू सबको जान।

बंभहँ भुवणि बसंताहँ जे णवि भेउ करंति।

ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति।।(99)

इस लोक में रहने वाले जीवों का भेद नहीं करते हैं, वे परमात्मा के प्रकाश करने वाले योगी, अपने निर्मल आत्मा को जानते हैं।

देह-विभेयहँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचितु।

सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु।।(102)

जो शरीरों के भेद से जीवों को नानारूप भेद करता है, वह उन जीवों का दर्शन ज्ञान चारित्र लक्षण नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणों की परीक्षा पहचान नहीं है।

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।

तेण सरूविं परिणवइ जह-फलिहउ-मणि मंतु।।(73)

यह प्रत्यक्षरूप अविनाशी आत्मा जिस स्वरूप से ध्याया जाता है, उसी स्वरूप परिणमता है, जैसे एक स्फटिक मणि और गरूड़ी मंत्र है।

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसें जायउ जप्पा।

जामइँ जाणइ अप्पँ अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा।।(174)

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञान कर प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्धनिश्चयनयकर अनंत चतुष्टयस्वरूप क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहारनयकर अनादि कर्मबंध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कर अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।

जो हउँ सो परमप्पु परू एहउ भावि णिभंतु।।(175)

जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ, जो कि अविनाशी देवस्वरूप हूँ जो मैं हूँ वही उत्कृष्ट परमात्मा है। निस्सन्देह तू भावना कर।

मूढ़ात्मा के लिये निर्भय स्थान भयप्रद लगता

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यभ्दयास्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः।।(29)

पद्य भावानुवाद- (आत्मशक्ति....)

मूढ़ात्मा जिसे अभयप्रद माने, उससे नहीं है अधिक भयप्रद।
जिससे वह भयभीत होता है, उससे नहीं है अधिक अभयप्रद।।(1)

समीक्षा

अज्ञानी मोही कामी स्वार्थी शरीर पुत्रादि को मानते हैं अभयप्रद।
अनन्त वैभव सम्पन्न स्व आत्म तत्त्व से होता है वह भयभीत।। (2)
शरीर को 'मैं' मानता व सत्ता-सम्पत्ति-पुत्रादि को मानता है मेरा।
इसलिये शरीरादि में (अहंकार) ममकार करके, उसमें मानता है निर्भय भरा।। (3)
किन्तु शरीरादि में सभी अस्थिर व पर है, उससे कैसे मिलेगा निर्भय।
स्वयंभू स्वयं पूर्ण सच्चिदानन्दमय, स्वआत्मा ही सबसे अधिक निर्भय।।(4)
शरीर आदि तो कर्मजनित है, तथा उसमें जो राग-द्वेष-मोह।
ये सभी तो पर व दुःखप्रद है, किन्तु स्व-आत्मा ही निर्भय व सुखप्रद।।(5)
शरीर आदि से जो मुक्त हो जाते, वे बन जाते शुद्ध-बुद्ध-आनन्द।
शरीर आदि में जो आसक्त है, वे ही संसार में पाते दुःख अनन्त।।(6)

एकादश जिने। (11)

Eleven afflictions occur to the Omniscient Jina.

जिन में ग्यारह परीषह संभव हैं।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली जिन के 11 परीषह होते हैं। यह कथन उपचार से या कर्म की सत्ता एवम् उदय की अपेक्षा स्वीकार किया गया है। कोई-कोई श्वेताम्बर मत वाले जिनेन्द्र भगवान् को भी परीषह मुख्य रूप से होते हैं ऐसा मानते है। परन्तु घातियाँ कर्मों का अभाव होने से क्षीण शक्ति वाले वेदनीय कर्म के सद्भाव से या उदय से भी केवली को परीषह जनित क्षुधादि परीषह नहीं होते हैं।

घातियाँ कर्म के उदय रूप सहकारी कारण का अभाव हो जाने से अन्य कर्मों का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। जैसे-मंत्र, औषधि के बल से (प्रयोग से) जिसकी मारण शक्ति क्षीण हो गई है ऐसे विष द्रव्य को खाने पर भी मरण नहीं होता है, वा विष द्रव्य में मारने की समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी ईंधन के जल जाने पर अप्रतिहत (अनंत) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप

अनंत चतुष्टय के धारी केवली भगवान् के अन्तराय (लाभान्तराय) कर्म का अभाव हो जाने से प्रतिक्षण शुभ कर्म पुद्गलों का संचय होता रहता है। अतः प्रक्षीण सहाय वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने पर भी वह अपना कार्य नहीं कर सकता तथा सहकारी कारण के बिना स्व योग्य प्रयोजन उत्पादन के प्रति असमर्थ होने से क्षुधादि का अभाव है। जैसे-तेरहवें गुणस्थान में ध्यान को उपचार से कहा जाता है। वैसे ही वेदनीय का सद्भाव होने से केवली में ग्यारह परीषह उपचार से कही जाती हैं अथवा यह वाक्य शेष नहीं है कि केवली में 11 परीषह कोई मानते हैं? अपितु केवली के 11 परीषह है, ऐसा अर्थ करना चाहिए, जैसे समस्त ज्ञानावरण कर्म का नाश हो जाने के कारण परिपूर्ण केवलज्ञानी केवली भगवान् में 'एकाग्रचिन्ता निरोध' का अभाव होने पर भी कर्मरज के विघ्न रूप (कर्मनाश रूपी) ध्यान के फल को देखकर उपचार से केवली में ध्यान का सद्भाव माना जाता है इसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप वास्तविक परीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्मोदय रूप द्रव्य परीषहों का सद्भाव देखकर ग्यारह परीषहों को केवली भगवान् में उपचार कर लिया जाता है।

बादरसांपराये सर्वे। (12)

All the afflictions arise in the case of the ascetic with grass passions.

बादर साम्पराय में सब परीषह सम्भव हैं।

यहाँ बादर साम्पराय कहने से गुणस्थान विशेष (नवम) गुणस्थान (मात्र) का ग्रहण नहीं है अपितु अर्थ निर्देश है कि प्रमत्तादि संयतों का सामान्य ग्रहण है। बादर (स्थूल) साम्पराय (कषाय) जिनके हैं वे बादर साम्पराय है।

निमित्त विशेष का सद्भाव होने से सर्व परीषहों का बादर साम्पराय में सद्भाव पाया जाता है क्षुधादि परीषह में ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय निमित्त विशेष है। उन ज्ञानावरणादि सारे निमित्तों का सद्भाव रहने पर बादर साम्पराय अर्थात् प्रमत्त संयत से लेकर नवम् गुणस्थान तक के साधुओं के क्षुधा आदि सभी परीषह होती है।

प्रश्न-किस-किस चारित्र में सर्व परीषहों की संभावना है?

उत्तर-सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि, इन तीन चारित्रों में क्षुधादि सर्व परीषहों की संभावना है, अर्थात् इनके सर्व परीषह होती हैं।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। (13)

प्रज्ञा Conceit and; अज्ञान Lack of knowledge, sufferings are caused by the operation of ज्ञानवरणीय , Knowledge obscuring karmas.

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है, प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है, अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव में प्रज्ञा का सद्भाव है अतः क्षयोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय में मद उत्पन्न करती है, सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों परिषहों की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान होता है केवलज्ञान होने पर किसी प्रकार अहंकार नहीं होता है। जो अत्यंत अज्ञानी है, जैसे-एकेन्द्रिय आदि जीव; इनके विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होने से तथा तीव्र ज्ञानावरणीय का उदय होने पर विशेष ज्ञान न होने के कारण इनके भी प्रज्ञा और अज्ञान परीषह विशेष नहीं होती है। लोकोक्ति भी है-**''रिक्त चना बाजे घना।''**

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।। (13) (नीतिशतक)

नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है परन्तु जो न समझदार है, न नासमझ है, ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते।

इसीलिये इंग्लिश में कहावत है- A half mind is always dangerous.

जो अल्पज्ञ होते हैं वे भयंकर होते हैं।

"The little mind is proud of own condition." संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते है। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को इंकार करते हैं।

महान् नीतिज्ञ चाणक्य ने बताया है-

मूर्खस्य पंच चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते।।

मूर्खों के निम्नलिखित पाँच चिह्न है।

(1) अहंकारी होना (2) अपशब्द बोलना (3) हठग्राही (4) अप्रिय बोलना (5) दूसरों के द्वारा कहा हुआ हित सत्य नहीं मानना।

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ।। (14)

दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव से क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

इस सूत्र में अन्तराय ऐसा सामान्य निर्देश है फिर भी सामर्थ्य से विशेष का संप्रत्यय होता है। यद्यपि इस सूत्र में अन्तराय यह सामान्य निर्देश है तथापि यहाँ सामर्थ्य से (अलाभ के ग्रहण के) लाभान्तराय विशेष का ही ज्ञान होता है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोह के उदय से अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से होती है; ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि सूत्र में अलाभ का ग्रहण है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः। (15)

चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं-

प्रश्न-पुरुषवेद-स्त्रीवेद के उदय निमित्त से होने वाली नाग्न्य, अरति, स्त्री, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार परीषहों को चारित्रमोहनीय के उदय से मानना ठीक भी है परन्तु निषद्या भी मोहनीय कर्म के उदय में कैसे हो सकती है?

उत्तर-निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय से होती है, प्राणी पीड़ा कारण होने से। मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी-हिंसा के परिणाम होते हैं अतः प्राणी-हिंसा की परिपालना कारण होने से निषद्या परीषह को भी मोहोदयहेतुक ही समझना चाहिये। अर्थात् अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से निषद्या परीषह होती है।

वेदनीये शेषाः। (16)

बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं।

उपर्युक्त प्रज्ञादि परीषहों से अतिरिक्त क्षुत्पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह शेष शब्द से निर्दिष्ट हैं अतः ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होते है।

एक साथ होने वाले परिषहों की संख्या

एकादयो भाज्य युगपदेकस्मिन्नैकोन्नविंशतेः। (17)

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्प से हो सकती हैं।

शीत, उष्ण, शय्या, निषद्या और चर्या, ये पाँचों एक साथ नहीं होती हैं, अतः एक साथ उन्नीस परीषह होती हैं। अर्थात् शीत-उष्ण में से एक शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों में से एक परीषह एक आत्मा में होती है। क्योंकि ये तीनों एक साथ नहीं रहती अतः शीत और उष्ण में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या में से कोई एक परीषह होने से और शेष तीन का अभाव होने से एक आत्मा में एक साथ उन्नीस परीषह ही होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाश्चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनसिद्ध पर्यायाः।। (21)

अंतिम शरीर से कुछ कम जो सिद्ध पर्याय है, वह जीव की स्वभाव द्रव्यव्यंजन पर्याय है।

स्वभावगुणव्यंजनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य।। (22)

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टय रूप जीव की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है।

अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले।। (1)
धर्माधर्मनभः काला, अर्थपर्यायगोचराः।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ, द्वावन्यौ जीव पुद्गलौ।। (2)

अनादि अनन्त द्रव्य में अपनी-अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।। (27)

गुण पर्याय वाला द्रव्य है।

स्वभावाः कथ्यन्ते-अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभाव, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः, एते द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावाः, चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्ध स्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दशविशेषस्वभावाः।। (28)

स्वभावों का कथन किया जाता है:-(1) अस्तिस्वभाव (2) नास्तिस्वभाव (3) नित्यस्वभाव (4) अनित्यस्वभाव (5) एकस्वभाव (6) अनेकस्वभाव (7) भेदस्वभाव (8) अभेदस्वभाव (9) भव्यस्वभाव (10) अभव्यस्वभाव (11) परमस्वभाव ये ग्यारह, द्रव्यों के सामान्य स्वभाव हैं। (1) चेतनस्वभाव (2) अचेतनस्वभाव (3) मूर्तस्वभाव (4) अमूर्तस्वभाव (5) एकप्रदेशस्वभाव (6) अनेकप्रदेशस्वभाव (7) विभावस्वभाव (8) शुद्ध स्वभाव (9) अशुद्धस्वभाव (10) उपचरितस्वभाव ये दस द्रव्यों के विशेष स्वभाव हैं।

जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः।। (29) (आलाप पद्धति)

जीव और पुद्गल में उपर्युक्त इक्कीस-इक्कीस स्वभाव पाये जाते हैं।

चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एतैर्विना धर्मादि (धर्माधर्माकाशानां) त्रयाणां षोडश स्वभावाः सन्ति।। (30)

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा आकाश द्रव्य इन तीनों द्रव्यों में उपर्युक्त 21 स्वभावों में से चेतन स्वभाव, मूर्त स्वभाव, विभाव स्वभाव, उपचरित स्वभाव और अशुद्ध स्वभाव ये पांच स्वभाव नहीं होते शेष सोलह स्वभाव होते हैं।

अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीव का लक्षण-

अहमेदं एहमहं, अहमेदस्सेव होमि मम एदं।

अण्णं जं परदव्वं, सचित्ताचित्तमस्सं वा।। (20)
आसि मम पुव्वेमदं, अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होदिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि।। (21)
एयत्तु असंभूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढो।। (22) समयसार

'चेतन, अचेतन अथवा मिश्ररूप जो कुछ भी परपदार्थ है मैं उन रूप हूँ, वे मुझ रूप हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, पूर्व समय में वे मेरे थे, मैं उनका था, भविष्यत् में वे फिर मेरे होंगे और मैं उनका होऊँगा' जो पुरुष इस प्रकार मिथ्या आत्मविकल्प करता है वह मूढ है-अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु स्वरूप को जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्प को नहीं करता है वह अमूढ़ है-प्रतिबुद्ध-ज्ञानी है।

भावार्थ-जो आत्मा को अन्यरूप अथवा अन्य का स्वामी मानता है वह अज्ञानी है और जो आत्मा को आत्मरूप तथा पररूप जानता है वह ज्ञानी है।

अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए उपाय-

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो बहुभावसंजुत्तो।। (23)
सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।। (24)
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।। (25)

जिसकी बुद्धि अज्ञान से मोहित हो रही है ऐसा पुरुष कहता है कि यह शरीरादि बद्ध तथा धनधान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है और यह जीव अनेक भावों से संयुक्त है।

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा देखा हुआ तथा निरंतर उपयोगलक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्यरूप किस प्रकार हो सकता है? जिससे कि तू कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप होता है तो पुद्गल भी जीवपने को प्राप्त हो जावेगा और तभी यह कहा जा सकेगा कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। पर ऐसा है नहीं।

आगे अज्ञानी जीव कहता है-

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो।। (26)

यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर तथा आचार्यों की जो स्तुति है वह सभी मिथ्या होती है। इसलिए हम समझते हैं कि आत्मा शरीर ही है।

आगे आचार्य समझाते हैं-

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो।। (27)

व्यवहार नय कहता है कि जीव और शरीर एक है परंतु निश्चय नय का कहना है कि जीव और शरीर एक पदार्थ कभी नहीं हो सकते।

व्यवहार नय से शरीर का स्तवन और शरीर के स्तवन से आत्मा का स्वतन होता

इणमण्णं जीवादो, देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो, वंदिदो मए केवली भयवं।। (28)

जीव से भिन्न पुद्गलमय शरीर की स्तुति कर मुनि यथार्थ में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वंदना की।

शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन मानना निश्चय की दृष्टि में ठीक नहीं

तं णिच्छये ण जुज्जदि, ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो, सो तच्चं केवलिं थुणदि।। (29)

उक्त स्तवन निश्चयकी दृष्टि में ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं हैं। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वही यथार्थ में केवली की स्तुति करता है।

जब आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है तब शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय नय की दृष्टि में ठीक क्यों नहीं है?

णयरम्मि वण्णिदे जह, ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुदा होंति।। (30)

जिस प्रकार नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन होने पर केवली के गुण स्तुत नहीं होते।

जिस प्रकार नगर जुदा है, राजा जुदा है, उसी प्रकार शरीर जुदा है और उसमें रहनेवाला केवली जुदा है अतः शरीर के स्तवन से केवली का स्तवन निश्चय नय ठीक नहीं मानता है।

निश्चय नय से स्तुति किस प्रकार होती है

जो इंदिये जिणत्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू।। (31)

जो इंद्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक आत्मा को जानता है उसे नियम से, जो निश्चय नय से स्थित साधु हैं वे जितेंद्रिय कहते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति।। (32)

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक आत्मा को जानता है उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले मुनि जितमोह कहते हैं।

जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमाहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।। (33)

मोह को जीतनेवाले साधु का मोह जिस समय क्षीण हो जाता है-नष्ट हो जाता है उस समय निश्चय के जाननेवाले मुनियों के द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।

ज्ञान ही प्रत्याख्यान

सव्वे भावा जम्हा, पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेयव्वं।। (34)

चूँकि ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावों को पर हैं ऐसा जानकर छोड़ता है इसलिए ज्ञान को ही नियम से प्रत्याख्यान जानना चाहिए।

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणंति जिणिदु चयदि।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी।। (35)

जिस प्रकार कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावों को ये पर हैं ऐसा जानकर छोड़ देता है।

परपदार्थों से भिन्नपना किस प्रकार प्राप्त होता है-

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।। (36)

जो ऐसा जाना जाता है कि 'मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ' उसे आगम के जाननेवाले मोह से निर्ममत्वपना कहते हैं।

णत्थि मम धम्मआदी, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।। (37)

जो ऐसा जाना जाता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप हूँ उसे आगम के जाननेवाले धर्मादि द्रव्यों से निर्ममत्वपना कहते हैं।

रत्नत्रयरूप परिणत आत्मा का चिंतन किस प्रकार होता है यह कहते हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।। (38)

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ नहीं है।

अहंकारः कारण और निवारण

समानता की भूमि पर कभी अहंकार का जन्म नहीं होता। अहंकार की जन्म भूमि है योग्यता का तारतम्य। जब योग्यता समान नहीं होती है, तब अहं जन्म लेता है। कोई हीन नहीं है, कोई अतिरिक्त नहीं है-यह वास्तविक सत्य है किंतु व्यवहार का सत्य नहीं है। व्यवहार का सत्य यह है कि-शरीर, कुल, रूप, जाति, ऐश्वर्य आदि अनेक भिन्नता के कारक तत्व है। ज्ञान की भिन्नता है, चिन्तन की भिन्नता है, समझ की भिन्नता है। व्यवहार की भूमिका पर यह स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति व्यक्ति के भेद है और भेद के कारण योग्यता का तारतम्य है। जहाँ योग्यता का तारतम्य होता है, वहाँ व्यक्ति के मन में यह भावना जागती है-अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करना, अपनी उत्कृष्टता और विशिष्टता को प्रमाणित करना। यह श्रेष्ठता, विशिष्टता और उत्कृष्टता के

प्रदर्शन की जो मनोदशा है, वह अहंकार को जन्म देती है।

कषाय के क्षेत्र में प्रचलित शब्द है मान। अहंकार के संदर्भ में एक शब्द प्रयुक्त होता है अभिमान। 'अभिमन्यते' इस धातु से बना है मान अथवा अभिमान। इसका तात्पर्य है अपने आपको मानना। जैसा है, वैसा मानना-यह मति है। जैसा है, उससे विशिष्ट मानना, यह मान है। व्यक्ति जैसा है, वैसा अपने आपको नहीं मानता। बहुत भोला मनुष्य भी अपने आपको बहुत होशियार मानता है। उसे कहा जाए-तुम ऐसा करो, ऐसा मत करो तो वह इस निर्देश को स्वीकार नहीं करेगा, किंतु यह कहेगा-'मुझे सीख देने आया है। नहीं चाहिए तुम्हारी सीख।' यह आत्मोत्कर्ष और अहंकार का भाव मनुष्य में होता है।

स्तब्धता है अहंकार

क्रोध की प्रकृति भिन्न है और अहंकार की प्रकृति भिन्न है। क्रोध आवेग है, आवेश है, उत्तेजना है। अहंकार आवेग-आवेश नहीं, किंतु स्तब्धता है। स्थानांग सूत्र में कहा गया-मनुष्य इन दस स्थानों से स्तब्ध बन जाता है, अकड़ जाता है, खंभा बन जाता है-

जाति का मद	तप का मद
कुल का मद	श्रुत का मद
बल का मद	लाभ का मद
रूप का मद	ऐश्वर्य का मद

नागकुमार अथवा सुपर्णकुमार देव मेरे पास दौडे दौडे आते हैं।

साधारण पुरुषों के ज्ञान-दर्शन से अधिक अवधिज्ञान और अवधि-दर्शन मुझे प्राप्त है।

'मेरा रूप ऐसा है, मेरा बल ऐसा है, मैं ऐसा हूँ, मेरे जैसा कोई नहीं है-यह अहंकार से उपजा चिन्तन व्यक्ति को स्तब्ध बना देता है। जो व्यक्ति अहंकार में अकड़ कर खड़ा हो जाता है, उसके लिए मरवाड़ी में कहा जाता है-थंमा जैसे खड़ा है। वस्तुतः यह मारवाड़ी का नहीं, प्राकृत का शब्द है। संस्कृत में 'स्तंभ' और प्राकृत में 'थंम'। जड़ता, अकड़न और स्तब्धता अहंकार की प्रकृति है। इसमें कहीं झुकाव नहीं होता है, कहीं लचीलापन नहीं होता, अपनी पकड़ होती है। लचीलेपन के बिना

ग्रहणशीलता नहीं रहती। जो अहंकारी होता है, वह ग्रहणशील नहीं होता। उसमें दूसरे की बात को स्वीकार करने की क्षमता नहीं होती। वह अपनी बात को ही विशिष्ट मानता है, दूसरे की बात पर ध्यान ही नहीं देता।

बुराई है अहंकार

अहं कोई बुराई नहीं है, बुराई है अहंकार। मनोविज्ञान में अहं पर बहुत विचार किया गया। अहं आत्म-सिद्धि है। मैं क्या हूँ? मुझे क्या होना चाहिए? मैं किस भूमिका में हूँ? आदि-आदि जो अहं का परिपार्श्व है, वह कोई बुराई नहीं है। वेदान्त में कहा गया-अहं ब्रह्मास्मि-मैं ब्रह्मा हूं। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा-यः परमात्मा सैवाऽहं-'जो परमात्मा है, वह मैं हूँ।' योहं स परमस्ततः-जो मैं हूं वह परमात्मा है। यह अहं कोई बुराई नहीं है। अहंकार शब्द भिन्न अर्थ का वाचक बन गया। यह अभिमान का पर्यायवाची बन गया। अहंकार का अर्थ है अपनी विशिष्टता को स्थापित करना, अपनी विशिष्टता को उद्दीप्त करना और जो विशिष्टता नहीं है, उसे भी अपना मान लेना।

परिग्रह से जन्मता है अहंकार

हम अनेकांत के संदर्भ में अहंकार को परिभाषित करें। अहंकार का जन्म होता है परिग्रह से। परिग्रह केवल धन-धान्य आदि का ही नहीं होता, विचार का भी होता है। एक विचार को पकड़ लेना विचार का परिग्रह है। एक व्यक्ति सोचता है-मैं बड़ा आदमी हूँ, क्या मैं कचरा निकालूंगा? झाड़ू से मकान की सफाई करूंगा? क्या मैं कुएं से पानी निकालकर पीऊंगा? मैं अमीरजादा हूँ, मैं नबावजादा हूँ, मैं शहजादा हूं, मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ? यह विचार का संग्रह और परिग्रह है। मस्तिष्क में यदि एक विचार गहरा जम जाता है तो व्यवहार बदल जाता है। हमारा कोई भी व्यवहार अकारण और अहेतुक नहीं होता। प्रत्येक व्यवहार के पीछे कारण होता है। वह कहीं व्यक्त होता है और कहीं अव्यक्त। एक मनुष्य आया और अकड़ कर खड़ा हो गया। दूसरा आदमी आया और हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। यह व्यवहार में अंतर क्यों आता है? ऐसा क्यों होता है कि एक व्यक्ति संतों को देखते ही हाथ जोड़ लेता है और एक व्यक्ति अकड़ कर खड़ा हो जाता है? इसकी पृष्ठभूमि में एक परिग्रह होता है।

प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक कारण होता है और यह विचार का परिग्रह होता है। यह विचार का परिग्रह अहंकार को जन्म देता है। यदि हम मीमांसा करे, प्रत्येक व्यवहार की छान-बीन करें, तो यह निष्कर्ष आएगा-अहंकार का कारण है परिग्रह, वैचारिक संग्रह। तीन शब्दों का प्रयोग होता है-परिग्रह, संग्रह अथवा आग्रह। अपने विचार का आग्रह रुकेगा नहीं, व्यक्ति अकड़ जाएगा। वह दूसरे की बात को सुनने के लिए तैयार नहीं होगा। उसमें शुश्रुषा भी नहीं होगी, जिज्ञासा भी नहीं होगी। विचार का आग्रह और परिग्रह जितना प्रबल होगा, उतनी ही स्तब्धता और अहंकार प्रखर होगा। मन में यह विचार रूढ़ हो गया-मेरी जाति श्रेष्ठ है, मेरा कुल श्रेष्ठ है। इस विचार के परिग्रह से आग्रह का जन्म होता है। जाति और रंग से उपजा अहंकार आज विश्वव्यापी समस्या बन चुका है। एक कषाय नौकषाय को जन्म देता है। अहंकार ने घृणा को जन्म दिया है, सामाजिक संघर्ष और कलह को समर्थन दिया है। ज्ञान का भी मद होता है, अहंकार होता है। व्यक्ति को अपने ज्ञान का अहंकार होता है। वह अपने से अल्पज्ञानी को कोई महत्त्व नहीं देता।

जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य-ये आठ कारण विश्रुत हैं। स्थानांग सूत्र में अहं के दो कारण और बताए गए हैं। व्यक्ति कहता है-मेरे पास नागकुमार देवता आते हैं, सुपर्ण कुमार देवता आते हैं। यह देवों का आगमन अहंकार का एक कारण बन जाता है। मुझे अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त हो गया। मैं विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञानी हूँ। यह अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि भी अहंकार का एक हेतु बन जाती है।

आत्मानुभूति के अभाव में

ये अहंकार अथवा स्तब्धता के हेतु कब बनते है? इस प्रश्न का बहुत मार्मिक उत्तर दिया गया-जब आत्मस्थता का विकास नहीं होता तब ये अहंकार के कारण बनते हैं। जहाँ आत्मस्थता का विकास है, वहाँ न जाति और कुल अहंकार का कारण बनता है, न बल और रूप अहंकार का कारण बनता है, न तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य अहंकार का कारण बनता है। जहाँ अनात्मस्थता है, वहाँ ये सब स्तब्धता के हेतु बन जाते हैं। कुल, बल, श्रुत आदि उसके लिए बंधन का कारण बनते हैं, जो अनात्मवान् है। जो आत्मवान् है, उसके लिए ये मोक्ष के कारण हैं। स्थानांग सूत्र में अहंकार के मूल कारण का निर्देश है और वह है अनात्मस्थता, आत्मानुभूति का

अभाव। अहंकार अनात्मस्थ व्यक्ति में पैदा होता है। जाति, कुल, बल आदि उसके उद्दीपन में निमित्त बनते हैं।

अहंकार का लक्षण

हम मानते हैं-सब जीव समान है, किन्तु इसे अनुभव के स्तर पर स्वीकार नहीं करते। अमुक आगम में, अमुक ग्रंथ में यह लिखा है इसलिए हम सब जीवों को समान मानते हैं, किन्तु जहाँ अनुभूति का प्रसंग आता है, वहाँ यह मान्यता धरी रह जाती है। जब तक यह वचन अथवा श्रुति अनुभूति नहीं बनती तब तक उसका उपयोग हमारे लिए अकिंचित्कर होता है। जो आत्मानुभूति के स्तर पर जीता है, ज्ञानी, ध्यानी और शक्ति संपन्न है, वह कभी अहंकार नही करता। जो वस्तु जगत् के स्तर पर जीता है, उसे अहंकार आए बिना नहीं रहता। अहंकार में व्यक्ति अकड़ जाता है। कहा जाता है-अमुक आदमी ऊँचा ही देखता है, नीचे झांकता ही नहीं है। आचार्य ने लिखा-'अहंकार का स्थान है गर्दन। शारीरिक दृष्टि से यह स्थान अहंकार का है।' अहंकार का एक लक्षण है-गदर्न का ऊपर उठना। यह व्यवहार का परिवर्तन, चिन्तन का परिवर्तन आत्मानुभूति के अभाव में होता है। अहंकार में व्यक्ति दूसरे की उचित बात को भी महत्व नहीं देता, स्वीकार नहीं करता। अहंकार उसके शांत, सुखी एवं पवित्र जीवन को लील जाता है।

अहंकार का परिणाम

एक चित्रकार के मन में कल्पना आई-मैं एक भोले-भाले पवित्र बालक का चित्र बनाऊं। वह गांव में गया। एक निश्छल बालक को देखा। उसका जीवन्त चित्र बनाया। उस चित्र की हजारों लाखों प्रतियां बिकी। चित्रकार की दरिद्रता दूर हो गयी। कुछ वर्ष बाद चित्रकार के मन में कल्पना उभरी-एक ऐसे व्यक्ति का चित्र बनाऊं, जिसके चेहरे पर क्रूरता टपक रही हो, जो अहंकार और दर्प से भरा हुआ हो। वह कारावास में गया। वहां कल्पना के अनुरूप युवक मिल गया। उसने वहीं उसका चित्र बनाना शुरू किया। पास में ही वह भोले बालक का चित्र रखा था। बंदी युवक ने पूछा-'मेरा चित्र क्यों बना रहे हो?' चित्रकार ने कहा-'मैंने बहुत वर्ष पहले ऐसे बालक का चित्र बनाया था, जिसके मुख पर मृदुता और सरलता टपक रही थी। आज उस युवक का चित्र बनाने की चाह जगी है, जिसके मुख पर अहंकार और

क्रूरता का जीवन्त दर्शन होता है। ऐसे युवक की खोज में कारावास आया। मैंने तुम्हें देखा, मुझे लगा-मेरी कल्पना के अनुरूप है तुम्हारा व्यक्तित्व। युवक की आंखों से अश्रु ढलक पड़े। उसने अवरुद्ध कंठ से कहा-श्रीमन्! वह बालक मैं ही हूं। मेरे आग्रह और अहंकार ने मुझे कारावास पहुचा दिया है।

मनोवृत्ति का चित्रण

बहुत बड़ा गुण है विनम्रता, मृदुता। जहां अहंकार और आग्रह होता है, वहां इनका विकास नहीं होता। आग्रह और अहंकार से मुक्त होना सहज नहीं है। अनेक साधु भी उससे सर्वथा मुक्त नहीं होते। भगवान् महावीर ने साधुओं की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा-

एगे अत्थकरे णो माणकरे। एगे माणकरे णो अत्थकरे।

एगे माणकरे वि अत्थकरे वि। एगे णो माणकरे णो अत्थकरे।

एक मुनि शासन की सेवा करता है, किंतु मान नहीं करता।

एक मुनि अभिमान बहुत करता है, यह मानता है-मेरे कारण ही ऐसा हो रहा है, किंतु करता कुछ नहीं है।

एक मुनि शासन की सेवा करता है और अभिमान भी करता है।

एक मुनि न शासन की सेवा करता है और न मान करता है।

सबसे अच्छा वह है, जो शासन की सेवा करता है, किंतु अभिमान नहीं करता। वह भी क्षम्य है, जो शासन की सेवा करता है, साथ-साथ मान भी करता है।

(आचार्य महाप्रज्ञ)

अहंकार एक प्रकृति है, बीमारी है। इस बीमारी का इलाज कैसे करें? इस समस्या का समाधान कैसे करें? एक छोटा बच्चा अहंकारी बन जाए, किसी की बात को मानें ही नहीं तो बड़ी कठिनाई हो जाती है। जिस व्यक्ति को अनेकांत का दर्शन मिला है, वह अहंकार करे, इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है? जिसने अनेकांत को हृदयगम किया है, वह अहंकारी नहीं हो सकता।

मनुष्य चेतनाशील प्राणी है। वह चिन्तन करता है। चिन्तन की दो धाराएं हो सकती हैं-

सम्यक् चिन्तन। असम्यक् चिन्तन।

सम्यक् चिन्तन को अध्यात्म का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। इसके द्वारा आन्तरिक शक्तियों का जागरण किया जा सकता है। चैतन्य का रूपान्तरण भी सकारात्मक चिन्तन से सम्भव है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ अध्यवसाय अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द व अनन्त सुख का खजाना है जिसे सम्यक् चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। असम्यक् चिन्तन के द्वारा आत्मशोधन या उदात्त चिन्तन का विकास नहीं हो सकता। इससे चेतना का परिष्कार सम्भव नहीं क्योंकि निषेधात्मक चिन्तन से आन्तरिक शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं परिणामस्वरूप व्यक्ति आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त हो जाता है।

ऐसी स्थित में व्यक्ति का दिशांतरण और मार्गान्तरीकरण कैसे किया जा सकता है। वह कौन-सी प्रक्रिया है जिसके द्वारा आत्मशोधन किया जा सके? चैतन्य का रूपान्तरण किया जा सके और व्यक्ति चैतन्य की शक्ति का प्रस्फोटन कर सृजनात्मक दिशा में आगे बढ़ सके।

इसके लिए जैन आगमों में आत्मचिन्तन, अनुचिन्तन और स्वयं के द्वारा स्वयं को देखने की प्रक्रिया बताई है। जैसे व्यक्ति-दर्पण के समाने खड़ा होकर अपने बाह्य रूप को सजा सकता है। उसमें जो कमी हो, भद्दापन हो उसे ठीक कर सकता है। वैसे ही आन्तरिक स्वरूप को अनुप्रेक्षा रूपी दर्पण में निहार कर सजाया जा सकता है। संवारा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने जैनागमों में निर्दिष्ट अनुप्रेक्षा की पद्धति को सुव्यवस्थित कर चिकित्सा के क्षेत्र में एक क्रान्ति की है। वर्तमान में हम देखते हैं शारीरिक रोगों को मिटाने के लिए अनगिनत चिकित्सालय व अनेक चिकित्सक हैं। फिर भी नए-नए रोग बढ़ रहे हैं।

मानसिक बीमारी को दूर करने के लिए भी देश में हजारों मनोचिकित्सालय व मनोचिकित्सक हैं। किन्तु भावनात्मक बीमारी का इलाज करने के लिए, मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए एक भी चिकित्सालय नहीं है। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि रोग की जड़ को समाप्त करने के लिए, भावनात्मक स्वास्थ्य को स्वस्थ रखने के लिए देश में कोई चिकित्सा की व्यवस्था नहीं है, ऐसी स्थिति में

आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुप्रेक्षा के माध्यम से रोग के मूल पर प्रहार करने की, उसे जड़ से मिटाने की एक विलक्षण प्रक्रिया बताई है जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए संजीवनी की तरह है। इसे समग्रता से समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर इसे व्याख्यायित करना अपेक्षित है।

अनुप्रेक्षा एक आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति है। यह उपाधि के शोधन की प्रक्रिया है आज डॉक्टर शरीर की बीमारी का ईलाज कर सकता है। एक मनोवैज्ञानिक मन की बीमारी को मिटाने में कुछ अंश तक सफल हो सकता है, किन्तु कषायात्मक प्रबल आवेग व संवेगात्मक बीमारी को मिटाना दुरूह व असाध्य जैसा हो रहा है।

इस असाध्यता को साध्यता की दिशा में बदलने का प्रयोग है-अनुप्रेक्षा। यह 'ऑटोसजेशन' स्वयं के द्वारा स्वयं को सुझाव देने की पद्धति है।

अनुप्रेक्षा क्या?

ज्ञाता की खोज का महत्त्वपूर्ण सोपान है-अनुप्रेक्षा। यह 'अनु' और 'प्रेक्षा' उपसर्ग पूर्वक ईक्ष् धातु से भाव में 'अ' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है-प्रकृष्ट रूप से देखना, प्रकर्ष रूप से देखना, केवल देखना, राग-द्वेष रहित भाव से देखना? इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा का अर्थ है-अनु-बाद में, प्रेक्षा-विचार करना। ध्यान में जो कुछ देखा उसके परिणामों पर विचार करना अनुप्रेक्षा है। अस्त-व्यस्त विचार चेतना पर शासन न कर सके और अवचेतन मन अपनी शक्ति का पूरा उपयोग कर सके इसलिए अनुप्रेक्षा आवश्यक है। प्राकृत में इसके लिए अणुप्पेहा, अणुपेक्खा, अणप्पेक्खा, अणुपेहा आदि शब्द प्रचलित हैं। आचारांग सूत्र में अनुप्रेक्षा के लिए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया गया है-

अणुवीइ संपेहाए पडिलेहा

अणुवीइ शब्द का प्रयोग विवेक पूर्वक, चिन्तन पूर्वक, अनुचिन्तन पूर्वक अर्थ में विभिन्न स्थानों पर हुआ है। संपेहाए का अर्थ है-शरीर को प्रकम्पित करना, क्रोध का विवेक रखना। पडिलेहा शब्द पर्यालोचन अर्थ में प्रयुक्त है। उत्तराध्ययन सूत्र में अनुप्रेक्षा के परिणाम की चर्चा करते हुए अणुप्पेहाए शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में अनुप्रेक्षा का अर्थ करते हुए कहा है-''**अनुप्रेक्षा ग्रंथार्थयोरेव मनसा अभ्यासः।**'' भाष्यानुसारिणी में इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है-**अनुप्रेक्षणं, अनुचिन्तनं अनुप्रेक्षा अनुप्रेक्ष्यन्ते भाष्यन्त इति वानुप्रेक्षाः तादृशानुचिन्तनेन तादृशी भिर्वावक्षनाभिः संवरः सुलभी भवति।** आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में लिखा है-''**मनः स्थैर्याय अनित्याद्यर्थानुपेक्षणं अनुप्रेक्षा**'' अर्थात् मन की स्थिरता के लिए अनित्य आदि अर्थों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

एक स्वस्थ व्यक्ति यदि प्रतिदिन एक महीने तक स्वयं को यह सुझाव दे कि 'मैं बीमार हूँ' तो वह निश्चित रूप से बीमार हो जाएगा और दूसरा बीमार व्यक्ति यदि सुझाव दे 'मैं स्वस्थ हूँ मैं स्वस्थ हूँ' तो वह स्वस्थ हो जाएगा। सुझाव की पद्धति का विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त कर बार-बार सुझाव देने से स्वास्थ्य लाभ हो सकता है।

अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की पद्धति है। इसके द्वारा बुरी आदतों का परिष्कार कर नई आदतों का निर्माण किया जा सकता है। आदत चाहे चोरी की हो या असत्य बोलने की। ईर्ष्या की हो या छल-कपट करने की। शराब पीने की हो या सिगरेट पीने की। अनुप्रेक्षा के द्वारा सभी प्रकार की आदतों का परिष्कार, परिमार्जन किया जा सकता है।

आगम व उत्तरवर्ती साहित्य में अनुप्रेक्षा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि विवेक पूर्वक अनुचिन्तन कर अपने आपको भावित करना अनुप्रेक्षा है। मनोविज्ञान में अन्तर्दर्शन की पद्धति अनुप्रेक्षा से भिन्न नहीं है। नाम की भिन्नता होने पर भी कार्य प्रणाली में काफी समानता है। मनोवैज्ञानिक रोगी के अवचेतन मन की तह में जाने के लिए जिस पद्धति को प्रयोग में लेते हैं उसे अन्तर्निरीक्षण अथवा अन्तर्दर्शन की पद्धति कहा जाता है। अन्तर्दर्शन का अर्थ है-निरीक्षण करना।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अन्दर देखने को अन्तर्दर्शन कहा है।

टिचनर के अनुसार स्वनिरीक्षण अन्तर्दर्शन है।

एंजिल के अनुसार अन्तःप्रेक्षण ही अन्तर्दर्शन है।

बुडवर्थ के अनुसार अपने मस्तिष्क के कार्य-व्यापारों की एक क्रमबद्ध रीति से दर्शन करना अन्तदर्शन है।

वास्तव में देखा जाए तो मनोवैज्ञानिक पाश्चात्य दार्शनिक व आचार्य महाप्रज्ञजी सभी इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि-अन्तनिरीक्षण, आत्मनिरीक्षण व अनुप्रेक्षा स्वयं के सुझाव से स्वयं को स्वस्थ करने की प्रक्रिया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि-

1. अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण करता है।

2. अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति मस्तिष्कीय क्रियाओं का सन्तुलन कर अन्तर्दृष्टि से शान्त संवेगमय स्थिति में सम्यक् चिन्तन करता है।

3. अनुप्रेक्षा में पूर्व गलत धारणा को मिटाकर नया चिन्तन किया जाता है।

वास्तव में अनुप्रेक्षा ब्रेन वाशिंग प्रक्रिया है। एक ही विचार की जब बार-बार पुनरावृत्ति होती है तब गलत विचार छूट जाते हैं और सम्यक् विचार स्थापित हो जाते हैं। असद विचारों को हटाकर सद् विचारों की स्थापना अनुप्रेक्षा से ही सम्भव है।

अनुप्रेक्षा के प्रकारों पर चिन्तन करें तो लगता है कि इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

प्रिय व्यक्ति का वियोग व अप्रिय व्यक्ति का संयोग होने पर व्यक्ति को आर्त्त ध्यान से कैसे बचाया जा सकता है?

करोड़पति से रोड़पति होने पर कैसे उसका मनोबल बढ़ाया जा सकता है?

वृद्धावस्था में परिवार द्वारा उपेक्षित व्यक्ति को कैसे 'एकोऽहम्' का अनुचिन्तन करवाया जा सकता है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग वृत्तियों का परिष्कार कर भावनात्मक रोग को मिटाने का प्रयोग है। अनुप्रेक्षा के प्रकारों व प्रक्रिया के सन्दर्भ में स्वास्थ्य पर चिन्तन करने से विषय की स्पष्टता हो जाती है।

अनुप्रेक्षाः प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा चेतना के तीन स्तरों को प्रभावित कर रूपान्तरण में योगभूत बनती है।

1. चेतना का वह स्तर जहां तरंगे पैदा होती हैं।
2. चेतना का वह स्तर जहां से तरंगे गुजरती हैं।
3. चेतना का वह स्तर जहां से तरंगे अभिव्यक्त होती हैं।

अनुप्रेक्षा कार्मण शरीर से औदारिक शरीर तक चेतना के प्रत्येक स्तर को प्रभावित करती है। इससे मूल का शोधन हो जाता है। मनोविज्ञान में मार्गान्तरीकरण की इस प्रक्रिया को मौलिक मनोवृत्ति के उदात्तीकरण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। उसके द्वारा काम की मनोवृत्ति का उदात्तीकरण करके उसे कला साहित्य आदि सृजनात्मक कार्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है।

अनुप्रेक्षाः स्वतः सूचन की प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा आत्मसूचन-सेल्फ सजेशन की प्रक्रिया है। आज पश्चिमी जगत् के लोग इसे चिकित्सा के क्षेत्र में ओटोसजेशन ट्रेपिंग के रूप में अपना रहे हैं। यह स्वजनित प्रशिक्षण की पद्धति प्रोफेसर जोहवानिज एच शुल्ज ने विकसित की है। इस पद्धति में शरीर के प्रत्येक अवयव पर स्वतः सुझाव का प्रयोग किया जाता है। शरीर को यह सुझाव दिया जाता है-'तुम शक्तिशाली बन जाओ, अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग करो। जो बीमारियां हैं उन्हें बाहर फेंक दो।' इन भावों के साथ स्वयं को भावित किया जाता है। हम व्यवहार में अनुभव करते हैं कि भावित करने पर पदार्थ की शक्ति बढ़ जाती है। क्षमता का विकास हो जाता है। बिना भावित किए क्षमता का विकास सम्भव नहीं। अन्न आग पर पककर भावित हो जाता है। रंगीन बोतल में पानी, दवा, तैल आदि सूर्य की रश्मियों में रखा जाता है तो भी वे भावित हो जाते हैं। उन भावित पदार्थों की शक्ति सामान्य पदार्थों से कई गुना बढ़ जाती है, उनमें चिकित्सा के गुणों का संग्रहण हो जाता है। उन सभी में रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास हो जाता है। अनेक रोग मिट जाते हैं। चुम्बक पर पानी की बोतल को रखकर पानी को भावित किया जाता है। मन्त्र विद्या के प्रयोक्ता मन्त्र से जल को भावित करते हैं। उससे बड़े-बड़े उपद्रव दूर हो जाते हैं।

मनोविज्ञान में पुनः पुनः चिन्तन करने की इस प्रक्रिया को सजेस्टोलॉजी कहा है। चिकित्सा के क्षेत्र में इसके प्रयोग सफल हो रहे हैं। सजेशन दो प्रकार के होते हैं-

1. स्वयं स्वयं को सुझाव देना।

2. अन्य द्वारा सुझाव प्राप्त करना।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने शरीर को शिथिल अवस्था में लाने के लिए इन पद्धतियों का प्रयोग किया। इनसे अवचेतन के संस्कारों का रेचन कर अनेक

कायिक और मनोकायिक रोगों का इलाज आज भी किया जा रहा है। सम्मोहन चिकित्सा पद्धति परतः सूचना पर आधारित है। इसमें चिकित्सक रोगी को अपने सुझावों द्वारा रोग मुक्त कर देता है किन्तु जब तक रोगी अचेतन संस्कारों का खुलकर रेचन नहीं करता और चिकित्सक के सुझाव के अनुरूप क्रियान्विति नहीं करता, तब तक यह प्रक्रिया सफल नहीं हो पाती।

पश्चिमी जगत् में फेथहीलिंग का तात्पर्य है-आस्था के द्वारा रोग की चिकित्सा। आस्था के द्वारा रोग चिकित्सा और कुछ नहीं अपितु स्वयं सूचना या आत्मसम्मोहन के द्वारा अवचेतन के विचारों की धुलाई है। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अनुप्रेक्षा का प्रयोग संकल्प शक्ति का प्रयोग है। जिस व्यक्ति ने सच्चे मन से संकल्प किया, उसने समस्या का समाधान पाया।

अनुप्रेक्षा के प्रयोगों को उपचारात्मक मूल्यों की दृष्टि से आधुनिक आयुर्विज्ञान के चिकित्सकों द्वारा भी स्वीकृत किया गया है। डॉ. स्टीफन ब्लेक ने 'माइण्ड एण्ड बॉडी' में लिखा है-गहरी शिथिल अवस्था में रोगियों को सूचनात्मक भावना देकर उनके शारीरिक व मानसिक व्यवहार में अभूतपूर्व परिवर्तन किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ कुछ सोच लेना ही नहीं।

उसका अर्थ है-''हमारे ज्ञान तन्तुओं तथा कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना। उस पर अपनी भावना को अंकित कर देना।''

हमारे शरीर में खरबो न्यूरोन्स हैं, तन्त्रिका कोशिकाएं हैं। ये तन्त्रिका कोशिकाएं अनेक प्रवृत्तियों का नियमन करती हैं। अनुप्रेक्षा के द्वारा जो संकल्प इन कोशिकाओं तक पहुंच जाता है, वह सफल हो जाता है। न्यूरोन्स में कार्य सम्पादन की क्षमता है। ये हमारे मस्तिष्क में होते हैं। इनकी विलक्षण क्षमता का सामान्य बुद्धि के द्वारा अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। सूचनाओं के द्वारा रूपान्तरण को घटित करने के लिए मस्तिष्क की इन कोशिकाओं के साथ आत्मीयता स्थापित करनी पड़ती है। पुराने संस्कारों को बदलने के लिए नए संस्कारों को स्थापित करना पड़ता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने इन्हीं विचारों की पुष्टि में अपना मत रखते हुए कहा कि अनुप्रेक्षा का एक सूत्र है-प्रतिपक्ष की भावना का प्रयोग। यह प्रयोग जैन आगमों में तथा महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में भी वर्णित है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है-

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।

माया चज्जवभाजेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

अर्थात् उपशम से क्रोध को जीतो, मार्दव से अभिमान को जीतो, ऋजुता से माया को जीतो और संतोष से लोभ को जीतो। यह प्रतिपक्ष की भावना का निदर्शन है। सुझाव या आदेश की भाषा के बिना ये भावनाएं सफल नहीं हो सकती। प्रतिपक्ष की भावना का प्रयोग ब्रेन वाशिंग की प्रक्रिया है। एक ही विचार को जब बार-बार दोहराया जाता है, उसकी पुनरावृत्ति की जाती है तब पुराने विचार छूट जाते हैं और उसके स्थान पर नए विचार रिकार्ड हो जाते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये सारे संवेग है, भाव हैं। संवेग मनुष्य के शरीर में शक्तिशाली ऊर्जा है/रसायन है। भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेग अलग-अलग प्रकार से मनुष्य की जीवनशैली को प्रभावित करते हैं। यदि हम इन संवेगों का दमन करते हैं, इन्हें उजागर नहीं कर पाते हैं तो अनेक प्रकार की बीमारियां उत्पन्न हो जाती हैं। ऑटोसजेशन का प्रयोग भावनाओं के शोधन का, उनको अभिव्यक्त करने का प्रयोग है।

सजेस्टोलॉजी का ही एक प्रकार है कल्पनाशक्ति। इसके अन्तर्गत हम अपने मस्तिष्क की ऊर्जा का उपयोग करके तनाव, दर्द और अनेक प्रकार की बीमारियों से छुटकारा पा सकते हैं। आज विदेशों में चिकित्सा के रूप में Guided Imagenary का बहुत प्रयोग किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कल्पना क्या है? जब हम कुछ सोचते हैं, विचार करते है तो हमारे मस्तिष्क में जो-जो विचार विचरण करते हैं, जिन्हें हम अपनी कल्पना से देख, सुन सकते हैं, महसूस कर सकते हैं, इसी प्रक्रिया को Imagenary कहते हैं। कल्पनाएं हमारी निजी और गुप्त भाषा है। यह हमारे शरीर, भावों और मस्तिष्क को प्रभावित करती है। Biofeedback और Hypnosis जैसी चीजों से यह साबित हो चुका है कि मनुष्य के भीतर स्वयं को संचालित करने की अनोखी व अद्वितीय क्षमता है। अनेक प्रकार की स्वस्थ कल्पनाओं से हम अपने रक्तचाप, हृदयगति, श्वास प्रक्रिया एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकते हैं।

अनुप्रेक्षा का चिकित्सकीय प्रभाव

असन्तुलित विचार, भाव, व्यवहार और रहन-सहन को कल्पना शक्ति के

द्वारा बदला जा सकता है। अपने आपको स्वस्थ रखने का सबसे आसान तरीका है स्वयं को तनाव मुक्त (relax) रखना। डॉ. ब्रेसलर के अनुसार, इस प्रयोग से हम अपनी आत्मशक्ति को बढ़ा सकते हैं साथ ही स्वयं पर नियन्त्रण करना भी सीख सकते हैं। इस प्रक्रिया का असर हमारी रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति पर पड़ता है। इसलिए आज वैज्ञानिक बहुत उत्सुकता के साथ रिसर्च कर रहे हैं ताकि इस प्रक्रिया का प्रयोग उन बीमारियों के उपाचार में किया जा सके जो हमारी रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति को प्रभावित करती हैं। बहुत से कैंसर पीड़ित मरीजों पर इस कल्पना (Imagery) का प्रयोग किया गया और यह प्रयोग बहुत ही फायदेमंद रहा। E.G.O. Carl Simanton जो कि Redication oncologist है उन्होंने अपने एक कैंसर के रोगी को Radiation देने की बजाय कल्पना Imagery के द्वारा महसूस करवाया कि उसके सैक लग रहे हैं। 'मानो उसके कैंसर के सेल बहुत ही मुलायम हैं। उसके शरीर की सफेद रक्त कोशिकाएं उन कैंसर के सेल के साथ युद्ध कर रही हैं और उन्हें नष्ट करती जा रही हैं। डॉ सिमोन्टन ने पहली बार 1979 में इस प्रक्रिया का प्रयोग गले के कैंसर से निजात दिलाने के लिए किया था। उनका एक रोगी जो 69 वर्ष का था और बहुत ही बुरी हालत में था। गले के कैंसर के कारण उसका वजन 66 पौण्ड कम हो गया था और उसे सांस लेने व थूक निगलने में तकलीफ हो रही थी। वैसे तो उसे Radiation Treatment दिया जाना था किन्तु डॉक्टरों के अनुसार इस treatment से उसकी हालत और भी बिगड़ सकती थी। इसलिए डॉक्टर सिमोन्टन ने उसके लिए Relaxation और Imagery का Program बनाया। जिसके अनुसार उसे दिन में तीन बार 5 से 15 मिनट तक प्रयोग करवाया जाता। Relaxation स्थिति में उससे कल्पना करवाई गई कि उसके शरीर में कैंसर के सेल पर कोई बहुत गोलियां चला रहा है जिसके कारण उसके कैंसर के सेल नष्ट हो रहे हैं और स्वास्थ्य के सेल ठीक हो रहे हैं। उस रोगी को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसकी कैंसर की गांठ छोटी होती जा रही है और वह पुनः स्वस्थ हो रहा है। इस ईलाज के बीच उसने पुनः अपना खाना-पीना शुरू कर दिया। उसका वजन बढ़ने लगा और दो महीने में उसका कैंसर का रोग समाप्त हो गया।

आज के चिकित्सक विशेषकर जर्मनी के चिकित्सक रोगी को दवा की अपेक्षा ऑटोसजेशन द्वारा रोगमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं जंगल में चले जाओ। वहां किसी वृक्ष के नीचे बैठकर समाधिस्थ हो जाओ और अपने आपको यह सुझाव दो कि मैं स्वस्थ हूं, मैं स्वस्थ हो रहा हूं, उनका मानना है कि इस पद्धति से रोगी रोगमुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कल्पनाशक्ति (Imagery) और सेजेस्टोलॉजी (अनुप्रेक्षा) एक ऐसा तरीका है जो किसी भी बीमारी से निजात पाने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। इसका सबसे ज्यादा फायदा गम्भीर बीमारियों में होता है।

अनित्यादि अनुप्रेक्षाः मानसिक प्रसत्ति

अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का बार-बार अनुचिन्तन कर व्यक्ति अपना ईलाज खुद कर सकता है-

अनित्य अनुप्रेक्षा

मोह के चक्रव्यूह का भेदन करने के लिए अनित्य अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संसार में पुद्गल, शरीर युक्त चेतन सभी कुछ नाशवान है। आयारों में कहा-**से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्म, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावचइयं विपरिणाम-धम्मं, पासह एवं रूप** उत्तराध्यन में भी कहा है-धन, यौवन सभी क्षणिक है। शरीर जीर्ण है, इन्द्रिय शक्ति प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। धर्मबिन्दु में आचार्य हरिभद्र ने कहा है मनुष्य जब से गर्भ में आता है तभी से उसकी मृत्यु प्रारंभ हो जाती है आगमों में इस प्रकार प्रतिक्षण होने वाली मृत्यु के लिए आविचि मरण शब्द प्रयुक्त है।

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट होता है कि शरीर का मुख्य आधार कोशिका है। मानव शरीर में 600 खरब कोशिकाएं हैं। प्रत्येक कोशिका नष्ट होती है और उसके स्थान पर नई कोशिका बनती है। इस प्रकार उत्पत्ति व मरण का चक्र चलता रहता है। कोशिका की मृत्यु शरीर की अनित्यता का शरीर शास्त्रीय प्रमाण है।

अनित्य अनुप्रेक्षा के द्वारा शरीर की अनित्यता का बोध कर व्यक्ति मरने की कला सीख लेता है। मरने की कला आने पर मृत्यु से भय नहीं लगता।

इस प्रकार शारीरिक अनित्यता का बोध होने पर प्रिय के वियोग की स्थिति को समता से सहन किया जा सकता है। व्यक्ति यह सोचता है यह शरीर जो हर समय मेरे साथ रहता है, मेरे उठने पर उठता है, बैठने पर बैठता है वह भी जब मेरा नहीं है तो दूसरे मेरे कौन हो सकते हैं? जैसा कि शांतसुधारस में विनय विजय जी ने कहा है-

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धूर्मिवच्चेतनाऽचेतनाः सर्वभावाः।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसङ्गमास्तेषु रज्यन्ति मूढ़स्वभावाः।।

अर्थात् जड़ चेतन सभी पदार्थ समुद्र की लहरों की भांति बार-बार उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। स्वजन और धन का संयोग इन्द्रजाल जैसा है मूढ़ प्रकृति वाले लोग उनमें अनुरक्त होते हैं। यह चिन्तन पुष्ट होने से पौद्गलिक विषयों के प्रति मूढ़ता नहीं रहती और व्यक्ति विशेष के प्रति भी आकर्षण कम हो जाता है। लक्ष्मण की मृत्यु पर राम 6 महिने तक वियोग से पागल हो गए। प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग से उत्पन्न दुःख को कम करने के लिए अनित्य अनुप्रेक्षा का आलम्बन श्रेयस्कर है। सुलसा के 32 पुत्रों की युवावस्था में मृत्यु हो गई। फिर भी सुलसा की समता खण्डित नहीं हुई। यह अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रभाव था।

अशरण अनुप्रेक्षा

भगवान् महावीर ने कहा-**अशरणं सरणं मन्नमाणे बाले लुप्पई**-अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। वास्तव में चैतन्य का दूसरा कोई शरण नहीं हो सकता। इसीलिए आयारों में इसे ओर अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है-

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा।।

सूत्राकृतांग व उत्तराध्ययन सूत्र में इसके संवादी प्रमाण मिलते हैं उत्तराध्ययन के छठे अध्याय में कहा है।

अर्थात् व्यक्ति जब कृत कर्मों से छिन्न-छिन्न होता है तब माता-पिता, पुत्र-

वधू, भाई, पत्नी और पुत्र ये सभी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं।

सम्भूत ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को कहता है-माता पिता भ्राता कोई भी मृत्यु के समय सहायक नहीं होता।

जहेह सीहो व मियं गहाय। मच्चूं नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भया। कालम्मि तम्मिसहरा भवंति।।

जिस प्रकार सिंह हरिणी को पकड़कर ले जाता है उसी प्रकार मृत्यु पकड़कर ले जाती है। उस समय माता-पिता आदि अपने जीवन का भाग नहीं दे सकते।

आचारांग टीका में अशरणता का चित्रण करते हुए टीकाकार ने बहुत सुन्दर कहा है-

जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके।।

वास्तव में लोक में जन्म, मरण भय, व्याधि रोग और वेदना आदि की अवस्था में धर्म-जिनवचन के अतिरिक्त कोई शरण नहीं है। संसार सागर में डूबते हुए प्राणी के लिए अशरण अनुप्रेक्षा का अनुचिन्तन असंदीन द्वीप की तरह है। अशरण अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने से अस्तित्व के साथ तादात्म्य भाव हो जाता है।

व्यक्ति जब बार-बार चिन्तन करता है कि ज्ञानं सरणं, दंसणं सरणं, चरित्तं सरणं। ज्ञानादि की शरण आत्मा की शरण है। आत्मा की शरण से श्रेष्ठ अन्य कोई शरण नहीं हो सकती। अशरण अनुप्रेक्षा व्यक्ति में आत्मविश्वास को पैदा करती है। अशरणता का आलम्बन स्वस्थ चिन्तन का आलम्बन है। क्योंकि दुनिया में जितना संघर्ष होता है उसका कारण है पुद्गल। व्यक्ति ने पुद्गल को अपना मान लिया इसलिए संघर्ष का जन्म हुआ और होता जा रहा है। वास्तव में मुनि अनाथी की तरह अशरणता का बोध होने पर सच्चाई प्रकट हो जाती है। भगवान् महावीर ने कहा-अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है। अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व में है। स्वयं की शरण में आना ही अशरण का मूल मर्म है। **(डॉ. साध्वी आरोग्य श्री)**

बहिरात्मा (पापात्मा) से अन्तरात्मा (पुण्यात्मा) अन्तरात्मा से परमात्मा (परम धर्मात्मा पतित पावन जैन धर्म) (जीवधर्म/आत्मधर्म)

(पापी को पावन, भव्य को भगवान्, जीव को जिनेन्द्र बनने का परम उपाय है जैनधर्म)

(कृतकृत्य धर्मात्मा (परमात्मा) धर्मपालन नहीं करते किन्तु पापात्मा को धर्मपालनीय परमात्मा बनने हेतु)

– आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. आत्मशक्ति ...)

सुना (लिख) रहा हूँ मैं जैनधर्म की ''पतित से पावन'' बनने की कथा।
जिसे सुन (पढ़) कर तुम भी भव्य बनो हे! भगवान्(पावन) ऐसी मम आशा।।
विश्व है अनादि जीव है अनादि कर्मबन्ध भी है अनादि से।
कर्मबन्ध को नाश करने वाला, मोक्षमार्ग भी अनादि से।।(1)।।
अनन्तानन्त जीव भी है अनादि से जो कर्मबन्ध सहित है।
कर्मबन्ध के कारण संसारी जीव बने हैं अशुद्ध जो पतित हैं।।
संसारी जीव भी होते दो प्रकार, भव्यजीव तथा अभव्यजीव।
भव्यजीव ही बनते भगवान् क्षय करके समस्त कर्म।।(2)।।
कर्मक्षय से भव्य बनते परमपावन जो शुद्धबुद्ध व आनन्द है।
इस हेतु ही मोक्षमार्ग है जो, सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रमय है।।
जब तक जीव न करते श्रद्धान मैं हूँ जीवद्रव्य शुद्धबुद्ध आनन्दमय।
तब तक वे पूर्णतः पतित रहते, भले वे हो देव या मानव।।(3)।।
आत्मश्रद्धान से जीव बनते सुज्ञानी जिससे वे बनते चारित्रधारी।
आत्मश्रद्धान से पावन बनना प्रारंभ होता उत्तरोत्तर होती वृद्धि।।
आत्मश्रद्धान ज्ञान चारित्र पूर्णता से जीव बनते परम पावन।
आत्मश्रद्धान से प्रारंभ होकर रत्नत्रय वृद्धि अनुसार होते जाते पावन।।(4)।।
अभी तक अनन्तानन्त जीव इस क्रम से बन गये पतित से परमपावन।
सम्यग्दृष्टि से श्रावक व श्रमण बनकर बन गये अरिहंत सिद्ध भगवान्।।

इस प्रक्रिया से भील (सिंह) बना महावीर भगवान् अंजनचोर बन गया निरंजन।
गज बन गया पार्श्वनाथ तीर्थंकर ऐसा ही
सर्व तीर्थंकर बने पतित से पावन।।(5)।।
ऐसा ही अनेक उदाहरण पुराण प्रसिद्ध है पशु पक्षी से मानव तक।
पतित से पावन हुए यमपाल चांडाल से ले मृगसेन धीवर तक।।
सिंह सर्प नेवला बन्दर आहारदान अनुमोदना से बने अरिहंत सिद्ध।
सिद्ध बनने के अनन्तर सिद्ध न पालन करते हैं मोक्षमार्ग रूपी धर्म।।(6)
अतएव धर्म है पतितपावन न केवल धर्म है रुढ़ि आड़म्बर।
धर्म है परमक्रम विकास उपाय अन्त्योदय से ले सर्वोदयकर।।
''सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातङ्ग देहजं'' कहा ग्रन्थ में।
''श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात्'' कहा शास्त्रों में।।(7)(रत्न. श्रा.)
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै।। (छ.ढ़ा.)(नरेन्द्रछन्द)
निगोदिया से ले सिद्ध बनने का उपाय चौदह गुणस्थान आरोहण।
लोक के नीचे से ले लोकाग्र शिखर (सिद्धशिला)
तक आरोहण का यह क्रम।।(8)।।
ऐसा धर्म ही सदा आचरणीय ऐसा धर्म ही परमविज्ञान, कानून।
परम साम्यवाद व परमविकास उपाय ऐसा धर्म पाले ''कनक श्रमण''।।

ग.पू. कॉ. 1-5-2020 रात्रि 12.13

सन्दर्भ-

संगउ विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिबुड्डो वि।।(2122)

समस्त कर्म नो कर्मरूप भार से मुक्त होने के कारण हल्का हो जाने से वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टी के लेप रहित तूम्बी जल में डूबाने पर भी ऊपर ही जाती है।

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि।। (2123)

जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर को जाता है।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होहि उड्ढगदी।

जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स।। (2124)

अथवा जैसे आग की लपट स्वभाव से ऊपर को जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव।

पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो।। (2125)

कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समय वाली मोड़े रहित गति से सात राजू प्रमाण आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्र वेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है।

लोकाग्र के आगे नहीं जाने के कारण

धर्मास्तिकायाभावात्। (8)

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता।

समस्त कर्मबंधन से मुक्त होने के बाद सिद्ध जीव के अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। जीव की गति स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होने के कारण एवं सम्पूर्ण कर्मबंधन से सिद्ध जीव मुक्त होने से यह गति पूर्ण रूप से स्वाभाविक रूप में प्रगट होती है। सिद्ध जीव की अनंत शक्ति होती है ऊर्ध्वाकाश अनंत होता है भविष्य काल भी अनंत होता है तब प्रश्न होता है सिद्ध जीव क्या अनंत काल तक अनंत आकाश में गमन करते रहते हैं? उस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि काल अनंत होते हुए शक्ति अनंत होते हुए एवं ऊर्ध्वाकाश अनंत होते हुए भी सिद्ध जीव केवल एक समय में 7 राजू गमन करके लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं क्योंकि अलोकाकाश में ''गति माध्यम'' ''धर्म द्रव्य'' के अभाव से सिद्ध जीव अलोकाकाश में गमन नहीं करते हैं।

गत्युपग्रहकारण भूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः।
तद्भावे च लोकालोक विभागाभावः प्रसज्यते।।

गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्तः।
धर्मोहि सर्वदा कर्ता जीव पुद्गलयोर्गतेः।।

त्रैलोक्य के अंत तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है। अलोक में जीव और पुद्गल के गति हेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नहीं होती।

मुक्त जीवों में भेद होने के कारण

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येक बुद्ध
बोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।(9)

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र प्रत्येक बोधित, बुद्ध बोधित ज्ञान अवगाहना अंतर संख्या और अल्प-बहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं।

प्रत्युत्पन्न और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा क्षेत्रादि के द्वारा सिद्धों में भेद साध्य है। क्षेत्र को आदि लेकर अल्प-बहुत्व पर्यंत 12 अनुयोगों के द्वारा प्रत्युत्पन्न नय और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा सिद्धों के विकल्प साध्य होते हैं।

(1) क्षेत्र- सिद्धिक्षेत्र में वा कर्मभूमि में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र, स्व-प्रदेश या आकाश प्रदेश में सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में और संहरण की अपेक्षा मनुष्य लोक में सिद्धि होती है। ऋजुसूत्र नय और तीन शब्द नय (शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय) प्रत्युत्पन्न नय वर्तमान ग्राही है तथा शेष नय (संग्रह, व्यवहार और नैगम) उभय (वर्तमान और भूतकाल) विषयग्राही (ग्रहण करने वाले) हैं।

(2) काल- एक समय में सिद्ध होते हैं वा साधारण रूप से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही सिद्ध होता है क्योंकि सिद्ध होने का काल तो एक समय ही है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो विकल्प हैं - जन्म से और संहरण से। जन्म की अपेक्षा सामान्यतः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा के अंत भाग में और दुषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ जीव दुषमा में सिद्ध हो सकता है, परन्तु दुषमा में या प्रथम द्वितीय काल में तथा सुषमा-सुषमा के प्रथम भाग में वा दुषमा-दुषमा काल में उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता। संहरण की दृष्टि से सभी कालों में (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी में) सिद्ध हो सकते हैं।

(3) गति- सिद्ध गति में वा मनुष्य गति में सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से सिद्ध गति में सिद्धि होती है। भूतनय की अपेक्षा दो विकल्प हैं- एकान्तर गति और अनन्तर गति। अनन्त गति भूतनय की दृष्टि से मनुष्य गति में सिद्धि होती है अर्थात् किसी भी गति से मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है।

(4) लिंग- अवेद से मुक्ति होती है या तीनों वेदों से मुक्ति होती है? वर्तमान नय (प्रत्युत्पन्न नय) की अपेक्षा अवेद अवस्था में सिद्धि होती है और अतीत गोचर नय की (भूतनय) की अपेक्षा साधारण रूप से तीनों वेदों से सिद्धि होती है- तीनों लिंगों से सिद्धि भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुरुष लिंग से ही सिद्धि होती है, दूसरे वेद से नहीं अथवा लिंग दो प्रकार का है- सग्रंथ लिंग और निर्ग्रंथ लिंग। उसमें प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा निर्ग्रंथ लिंग से ही मुक्ति होती है और भूतनय की अपेक्षा विकल्प है।

(5) तीर्थ- तीर्थसिद्धि दो प्रकार की होती है- एक तीर्थंकर रूप से और दूसरी तीर्थंकर भिन्न रूप से। कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं और कोई तीर्थंकर न होकर सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं। जो सामान्य सिद्ध हैं, तीर्थंकर बिना हुए सिद्ध हुए हैं वे दो प्रकार के हैं- उनमें कोई तो तीर्थंकरों के अस्तित्व (मौजूदगी) में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर की गैर मौजूदगी में सिद्ध होते हैं।

(6) चारित्र- चारित्र अचारित्र के विकल्प से रहित अवस्था से या एक, चार, पाँच विकल्प वाले चारित्र से सिद्ध होते हैं- अर्थात् प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से

न तो चारित्र से सिद्ध होती है और न अचारित्र से सिद्धि होती है, चारित्र अचारित्र के विकल्प रहित निर्विकल्प भाव से सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो प्रकार है- अनन्तर और व्यवहित। अनन्तर भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है और व्यवधान भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा चार या पाँच चारित्रों से सिद्धि होती है। सामायिक छेदोपस्थापना, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इन चार चारित्रों को धारण कर सिद्ध होते हैं, और कोई सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इन पाँच चारित्रों को प्राप्त कर मुक्त होते हैं। मुक्त होने के पूर्व चार चारित्र तो अवश्य होते हैं, परिहारविशुद्धि संयम भजनीय है, किसी के होता है किसी के नहीं भी होता है।

(7) प्रत्येक बुद्ध-स्वशक्ति और परोपदेश निमित्त ज्ञान के भेद से प्रत्येक बुद्ध और बोधित बुद्ध ये दो विकल्प होते हैं। कुछ प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेश के बिना स्वशक्ति से ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं, अर्थात् पूर्वभवोपार्जित कर्म संस्कार के कारण स्वयमेव संसार से विरक्त हो जाते हैं।

(8) बोधित बुद्ध-जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं गुरुजनों के द्वारा संबोधित करने पर संसार से विरक्त हो मुक्ति प्राप्त करते हैं वे बोधित बुद्ध कहलाते हैं।

(9) ज्ञान-ज्ञान की अपेक्षा कोई एक ज्ञान से, कोई दो ज्ञान से, कोई तीन ज्ञान से, और कोई चार ज्ञान विशेष से सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से ही सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से मति, श्रुत, इन दोनों से मतिश्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से व मति, श्रुत और मनः पर्यय इन तीनों ज्ञानों से तथा मति, श्रुत अवधि और मनः पर्यय इन चारों से सिद्धि होती है।

(10) अवगाहन-उत्कृष्ट और जघन्य के भेद से अवगाहन (शरीर की ऊँचाई) दो प्रकार का है। आत्म प्रदेशों का व्यापित्व अर्थात् अवगाहन शरीर परिमाण है और वह अवगाहन उत्कृष्ट एवं जघन्य के भेद से दो प्रकार का है। उत्कृष्ट अवगाहन पाँच सो पच्चीस धनुष है और जघन्य साढ़े तीन अरत्नि (मुष्ठि बंद किए हुए हाथ को अरत्नि कहते है) प्रमाण है। मध्य में अवगाहना के अनेक विकल्प होते हैं। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सो पच्चीस धनुष है, जघन्य साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है तथा

प्रत्युपन्न भाव प्रज्ञापन नय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँस सो पच्चीस धनुष से जघन्य साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है तब प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष से सिद्धि होती है और जघन्य से कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से सिद्धि होती है।

(11) संख्या-जघन्य से दो समय तक और उत्कृष्ट से आठ समय तक निरंतर सिद्ध होते रहते हैं। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह महीने का अंतर पड़ सकता है। सिद्धों के विरहकाल को अंतर कहते हैं, अर्थात् एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने के मध्य का काल वा जितने समय तक कोई भी जीव मोक्ष में नहीं जाए, उसको अंतर कहते है। सिद्ध होने का अंतर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है। उसके बाद कोई न कोई जीव मोक्ष में अवश्य जायेगा। जितने जीव एक साथ मोक्ष में जाते हैं, उसे संख्या कहते हैं। एक समय में जघन्य से एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से 108 सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

(12) अल्पबहुत्व-क्षेत्रादि भेद से भिन्न-भिन्न की परस्पर संख्या विशेष के तारतम्य को अल्पबहुत्व कहते हैं। क्षेत्र काल लिंग आदि ग्यारह अनुयोग द्वार से भेदों की परस्पर संख्या विशेष को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे-प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्धक्षेत्र में सिद्ध होते हैं अतः उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। परन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा यहाँ विचार किया जाता है-भूतपूर्व नय की अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार के हैं-एक जन्म की दृष्टि से और दूसरे संहरण की दृष्टि से उनमें संहरण सिद्ध अल्प है, जन्म सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं। संहरण दो प्रकार का है-एक स्वकृत दूसरा परकृत। देवों के द्वारा एवं चारण विद्याधरों के द्वारा कृत संहरण परकृत है और चारण विद्याधरों का स्वयं संहरण स्वकृत है। जिस क्षेत्र में जन्म हुआ है वह क्षेत्र कहलाता है और देव विद्याधार उठाकर समुद्र में डाल देते हैं या स्वयं विद्या या ऋद्धियों से दूसरे स्थान में चले जाते हैं, वह संहरण कहलाता है। उनके क्षेत्रों के विभाग को कहते हैं-कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र-द्वीप, ऊपर, नीचे, तिरछे आदि। उनमें ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे स्तोक-कम हैं। ऊर्ध्वलोक से सिद्ध होने वाले जीवों की अपेक्षा अधोलोक से सिद्ध होने वाले संख्यात गुणे अधिक हैं। उससे भी तिर्यग्लोक सिद्ध संख्यात गुणे हैं। अधोलोक का अर्थ नरक वा ऊर्ध्वलोक का अर्थ स्वर्ग नहीं है

अपितु अधोलोक का अर्थ है-किसी ने मुनिराज को नीचे गड्ढ़े में डाल दिया हो या पर्वत आदि ऊँचे स्थान में ले गये हो वह ऊर्ध्वलोक कहलाता है। वहाँ से सिद्ध होने वाले अधोलोक सिद्ध और ऊर्ध्वलोक सिद्ध कहलाते हैं। सबसे कम समुद्र सिद्ध हैं उससे असंख्यात गुणे द्वीपों से मुक्त हुए जीव हैं, यह सामान्य वर्णन है-विशेष से सबसे कम लवण समुद्र से सिद्ध हुए जीव हैं उससे संख्यात गुणे कालोदधि समुद्र से सिद्ध हुए हैं जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकी खण्ड से सिद्ध हुए हैं वह जीव संख्यातगुणे अधिक हैं उससे संख्यातगुणे पुष्करार्ध द्वीप सिद्ध हैं।

मांसत्यागी चाण्डाल की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नामकी नगरी में नगर बाहर चण्ड नाम का एक चाण्डाल रहता था। एक दिन वह चाण्डाल मौज ले रहा था। उसके एक ओर मांस से बने व्यंजन रखे हुए थे। दूसरी और शराब के भरे कलश रखे थे। चाण्डाल मांस के व्यंजनों के साथ शराब पीता जाता था और बीच-बीच में चमड़े की रस्सी बटता जाता था। आकाश में उड़ते हुए एक पक्षी शावक का मुँह खुल जाने से एक सर्प शराब में आ गिरा था और उससे शराब विषैली हो गयी थी। इसी समय धर्मोपदेश तथा जन्मान्तर की कथाओं के द्वारा लोगों का उपकार करने के लिये भ्रमण करते हुए दो चारण ऋद्धि धारी मुनियों को पास में ही आकाश से उतरते हुए देखकर चाण्डाल को बड़ा कुतूहल हुआ। वह भी अनेक समीप गया। वहाँ नगर के श्रावकों को व्रत ग्रहण करते हुए देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनि के अग्रवर्ती भगवान् अभिनन्दन मुनि से अपने योग्य व्रत की याचना की।

जैसे मेघ सबके उपकार के लिये है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकार के लिये हैं। और जैसे अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हित की बात कहने में स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते। ऐसा सोचकर भगवान् अभिनन्दन मुनि ने अवधिज्ञान से जाना कि यह चाण्डाल जल्दी ही मरने वाला है। अतः वे उससे बोले भाई चाण्डाल! मांस और शराब पीने के बीच में जितनी देर तुम रस्सी बाँटो उतनी देर के लिये तुम मांस और शराब का त्याग कर दो। चाण्डाल ने इस बात को स्वीकार कर लिया। और वहाँ से चलकर

अपने स्थान पर आया। मांस के पास जाकर उसने मांस खाया और संकल्प किया कि जबतक फिर मैं इस स्थान पर नहीं आऊँगा तब तक के लिये मेरे मांस का त्याग है। उसके बाद वह शराब के पास गया और वहाँ उसने शराब पी। पीते ही तीव्र जहर के प्रभाव से बुद्धि कुण्ठित हो गयी। अतः यद्यपि वह उसका त्याग नहीं कर सका फिर भी मरकर मांसत्याग के प्रभाव में यक्ष कुल में प्रधान यक्ष हुआ।

अवन्ति देश में चण्ड नाम का चाण्डाल बहुत थोड़ी देर के लिये मांस का त्याग कर देने से मरकर यक्षों का प्रधान हुआ। और जो मनुष्य हमेशा के लिये मांस का त्याग करता है उसको सद्गति की प्राप्ति क्यों नहीं होगी? अवश्य ही होगी ऐसा समझकर अपना हित चाहने वाले मनुष्यों को मांस का अवश्य ही त्याग करना चाहिये।

खदिरसार भिल्लकी कथा

इसी जम्बूद्वीप के विन्ध्याचल पर्वत के कुटच नाम के वन में एक खदिरसार नाम का भील रहता था।। किसी एक दिन उसने समाधिगुप्त नाम के मुनिराज को देखकर बड़े हर्ष से उन्हें नमस्कार किया। इसके उत्तर में मुनिराज ने ''आज तुझे धर्मलाभ हो'' ऐसा आशीर्वाद दिया। तब उस भील ने पूछा कि हे प्रभो! धर्म क्या है? और उससे जीवों को क्या लाभ होता है? भील के इस प्रकार पूछने पर वे मुनिराज कहने लगे कि मद्यमांसादिक का सेवन करना पाप का कारण है। इसलिये उसका त्याग करना धर्म है और उसकी प्राप्ति होना धर्मलाभ कहलाता है तथा पंचाणुव्रत रूप धर्मसेवन करने से जीवों को पुण्य की प्राप्ति होती है और पुण्य से स्वर्ग के उत्तम सुख मिलते हैं। इसे सुन कर वह भील कहने लगा कि ऐसे धर्म का स्वामी मैं नहीं हो सकता? तब मुनिराज ने उसके कुल का विचार कर कहा कि हे भव्य! क्या तूने पहिले कभी कौवे का मांस खाया है? तब वह बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भील विचार कर कहने लगा कि मैंने कौवे का मांस तो कभी नहीं खाया है। तब मुनिराज ने कहा कि तब उसे जरूर छोड़ देना चाहिये। मुनिराज के ये वचन सुनकर वह भील सन्तुष्ट होकर कहने लगा कि यह व्रत मुझे दे दीजिये। इस प्रकार वह भील उस समय व्रत लेकर तथा मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर चला गया। किसी एक समय उसको एक असाध्य रोग हुआ, वैद्यों ने बतलाया कि कौवे का मांस खाने से यह रोग शांत हो सकता है। यह सुनकर वह भील विचार करने लगा कि भले ही मेरे प्राण चले जायें

इन चंचल प्राणों से मुझे क्या लाभ है? मैंने धर्म की इच्छा से उन मुनिराज से जो व्रत स्वीकार किया है उसको भंग मैं नहीं कर सकता। क्योंकि संकल्प किये हुये व्रत का भंग करने से पुरुष व्रती कहाँ रह सकता है। मैं इस पापरूप मांस को खाकर आज जीवित रहना नहीं चाहता। इस प्रकार सोच-विचार कर उसने कौवे का मांस खाना स्वीकार नहीं किया। यह बात सुनकर शूरवीर नाम का उसका साला सारस सागर से आया। आते हुए मार्ग में उसने गहन वन के भीतर एक वटवृक्ष के नीचे रोती हुई किसी स्त्री को देखा। शूरवीर ने उसे रोते हुए देखकर पूछा कि तू क्यों रो रही हैं? इसमें उत्तर में वह कहने लगी कि तुम चित्त लगा कर सुनो। मैं एक वनयक्षी हूँ और यहाँ इस वन में रहती हूँ। तेरा बहनोई खदिरसार व्याधि से बहुत पीड़ित है और कौवे का मांस त्याग करने से वह मेरा पति होगा। परन्तु तू अब उसे त्याग किये हुये मांस को ही खिलाने के लिये जा रहा है और इस तरह घोर नरक में डाल कर दुःखों का पात्र बनाना चाहता है, इसलिये मैं रो रही हूँ। हे भद्र! अब तू अपना आग्रह छोड़ दे। इस प्रकार उस देवी की बातें सुनकर वह शूरवीर उस वन में पहुँचा। खदिरसार रोगी को देखा और कहा कि वैद्य ने जो औषधि बतलायी है वह मेरी प्रसन्नता के लिये ही खाओ, इसके उत्तर में मांस की अनिच्छा करता हुआ वह खदिरसार इस प्रकार कहने लगा कि तू मेरे प्राणों के समान प्रेम करनेवाला भाई है, स्नेह के कारण मेरे जीवित रहने की इच्छा से तू ऐसा कहता है, परन्तु व्रतों का भंग कर जीवित रहने से जीव का हित नहीं हो सकता, इसके सिवा व्रत भंगकर जीवित रहना दुर्गति का भी कारण है। इस प्रकार कह कर वह अपने व्रत में निश्चित ही रहा। उसका इस प्रकार निश्चय देख कर शूरवीर ने उस यक्षी का भी वृत्तांत उसे समझा दिया। उस वृत्तांत का विचार कर उस खदिरसार ने श्रावकों के पूर्ण पाँचों व्रत धारण किये और आयु के अन्त में मर कर सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ। उसके वियोग से शूरवीर को बहुत दुःख हुआ और वह उसकी उत्तरक्रिया कर अपने घर जाने लगा। जब वह उस वटवृक्ष के नीचे गया और फिर से रोती हुई देख कर आश्चर्य से उस यक्षी से पूछा कि क्यों हमारा बहनोई मर कर तुम्हारा पति हुआ या नहीं? इसके उत्तर में उस यक्षी ने कहा कि सम्पूर्ण व्रत धारण करने से वह व्यन्तर योनि से परान्मुख हो गया अर्थात् इस योनि में नहीं आ सकता और सौधर्मस्वर्ग में जाकर देव हुआ। फिर भला वह मेरा पति कैसे

हो सकता है? वह तो अब उत्कृष्ट दिव्यभोगों का भोक्ता हुआ। उस यक्षी की ये यथार्थ बातें सुन कर वह विचार करने लगा कि देखो, व्रत का कैसा माहात्म्य है। इससे इच्छानुसार सुखों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विचार करते हुए, उसने समाधिगुप्त मुनि के समीप जाकर श्रावक के व्रत धारण कर लिये। एक कौवे के मांस का त्याग करने वाले खदिरसार भील को स्वर्ग की प्राप्ति हुई तो जो सम्पूर्ण मांस का त्याग करता है उसको स्वर्गादि की प्राप्ति क्यों नहीं होगी अर्थात् अवश्य होगी, ऐसा विचार कर बुद्धिमान को मांस का त्याग अवश्य करना चाहिये।

ग्वाला कौण्डेश की कथा

(ज्ञानदानफलः श्रुतकेवली)

भारत के कुरुमरी नामक गाँव में गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसने जंगल में वृक्ष की कोटर में जैनधर्म का एक पवित्र ग्रंथ देखा। वह उसे घर लाया और पूजा करने लगा। एक दिन उस ग्वाले ने ग्रन्थ को पद्मनन्दि नामक मुनि को भेंट कर दिया। गोविन्द ने मृत्यु के बाद कुरुमरी गाँव के चौधरी के यहाँ जन्म ग्रहण किया। इस बालक की सुन्दरता देख कर सबको प्रसन्नता हुई। पूर्वजन्म के पुण्यफल से ही ये सब बातें सुलभ हो गयी। एक दिन इसे पद्मनन्दि मुनि के दर्शन हुए। उन्हें देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। मुनि को नमस्कार कर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसके हृदय की पवित्रता बढ़ती गयी।

वह शान्ति से मृत्यु प्राप्त कर पुण्योदय से कौण्डेश नामक राजा हुआ। उसकी सुन्दरता और कान्ति को देखकर एक बार चन्द्र को भी लज्जित होना पड़ता था, शत्रु उसके भय से काँपते थे। वह प्रजापालक और दयालु था। इस प्रकार कौण्डेश का समय शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु विषय सम्पत्ति को क्षण-क्षण नष्ट होते देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसे घर में रहना दुःखमय जान पड़ा। वह राज्य का अधिकारी अपने पुत्र को बना कर जिनमन्दिर में गया और वहाँ निर्ग्रन्थगुरु को नमस्कार कर दीक्षित हो गया। पूर्वजन्म में कौण्डेश ने शास्त्रदान किया था, उसके फल से वह थोड़े समय में ही श्रुतकेवली हो गया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण होता है। जिस प्रकार शास्त्रदान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ, उसी प्रकार सत्पुरुषों को भी दान देकर आत्महित करना चाहिये। जो

भव्य जन जिस ज्ञानदान की पूजा, प्रभावना, मान, स्तवन किया करते हैं, वे उत्तमसुख, दीर्घायु आदि का मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं। यह ज्ञानदान की कथा केवलज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो, यह मेरी मनोकामना है।

सूकर की कथा

(अभयदानफलः सौधर्मस्वर्ग के देव)

भारतवर्ष में मालवा पवित्र व धनशाली देश है। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता देखने लायक होती है। स्वर्ग के देव भी यहाँ आकर मनचाहक सुख प्राप्त करते हैं। मालवे के सभी नगरों में बड़े विशाल जिनमन्दिर बने थे। उन मन्दिरों की ध्वजाएँ ऐसी दिख पड़ती थीं, मानो वे स्वर्ग का मार्ग बतला रही हों। जिस समय की यह कथा है, उस समय मालवा धर्म का केन्द्र बन रहा था। मालवे के धरगाँव नामक नगर में देविल नाम का एक धनी कुम्हार और धर्मिल नाम का एक नाई रहता था। उन दोनों ने मिलकर नगर में बाहर से आने वाले यात्रियों के ठहरने के लिये एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन की बात है। देविल ने एक मुनि को लाकर धर्मशाला में ठहरा दिया। जब यह बात धर्मिल को मालूम हुई तो उसने मुनि को निकालकर एक संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। ठीक ही है, दुष्टों को साधु सन्त अच्छे नहीं लगते। सवेरे जब देविल मुनि के दर्शन के लिये आया तो उन्हें धर्मशाला में न देख एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए देखा। उसे धर्मिल की दुष्टता पर बड़ा क्रोध हुआ। उसने धर्मिल को बुरी तरह फटकारा। धर्मिल भी क्रोधित हुआ। यहाँ तक झगड़ा बढ़ा कि वे लड़ कर मर मिटे। दोनों की क्रूरभावों से मृत्यु होने के कारण क्रम से सूअर और व्याघ्र हुये। ये दोनों विन्ध्य पर्वत की अलग अलग गुफाओं में रहते थे। एक दिन संयोग से पृथ्वी को पवित्र करते हुये दो मुनिराज इसी गुफा में आकर ठहरे। उन्हें देखते ही सूअर को जाति स्मरण हो गया। उसने मुनियों के उपदेश से कुछ व्रत ग्रहण कर लिये। गुफा में मनुष्यों की गन्ध पाकर धर्मिल का जीव व्याघ्र मुनियों को खाने के लिये झपटा। सूअर देख रहा था। वह द्वार रोककर खड़ा हो गया। दोनों में लड़ाई होने लगी। एक मुनियों का रक्षक था और दूसरा भक्षक। अतएव देविल का जीव मृत्यु प्राप्तकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। उसके शरीर की कान्ति चमकती हुई मन को मोहित करने लगी। वह ऋद्धि-सिद्धियों का धारक हुआ। जो लोग जिनभगवान् की प्रतिमाओं की कृत्रिम और अकृत्रिम मन्दिर में पूजा

करते हैं, तथा मुनियों की भक्ति करते हैं, उन्हें ऐसे ही सुख प्राप्त होते हैं। अतएव सुख चाहने वाले सत्पुरुषों को जिनपूजा, पात्रदान, व्रत-उपवासादि धर्म का पालन करना चाहिये। देविल को तो स्वर्ग मिला, पर धर्मिल अपने पाप से नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल जान कर सत्पुरुषों को उचित है कि वे पवित्र जैनधर्म में अपना विश्वास दृढ़ करें। **(सागार धर्मामृत)**

पाप पुण्य सों जीव जगत में, नित सुख दुःख भरता।
अपनी करनी आप भरै सिर, औरन के धरता।।
मोह कर्म को नाश, मेटकर सब जग की आसा।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो वासा।। (23)

बोधि-दुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्रानी।।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ संयम, पंचम गुणठाना।। (24)
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन, शुद्ध भाव करना।।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै।
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर, इस भव में आवे।। (25)

धर्म भावना

धर्म अहिंसा परमो धर्मः ही सच्चा जानो।
जो पर को दुख दे, सुख माने, उसे पतित मानो।।
राग द्वेष मद मोह घटा आतम रुचि प्रकटावे।
धर्म-पोत पर चढ़ प्राणी भव-सिन्धु पार जावे।। (26)
वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्रीजिन की वानी।
सप्त तत्त्व का वर्णन जा में, सबको सुखदानी।।
इसका चिंतवन बार-बार कर, श्रद्धा उर धरना।
'मंगत' इसी जतनतैं इकदिन, भव-सागर-तरना।। (27)

आलोचना-पाठ

वंदौ पांचों परम गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरण के काज।।
सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निर्वृत्ति काजा, तुम सरन लही जिनराजा।।
इक वे ते चउ इन्द्री वा, मनरहित-सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वै घात विचारी।।
समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ।
कृत कारित मोदन करिकै, क्रोधादि चतुष्टय धरिकै।।
शत आठ जु इमि भेदन तैं, अघ कीने परिछेदन तैं।
तिनकी कहु कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी।।
विपरीत एकांत विनय के, संशय अज्ञान कुनय के।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहिने।।
कुगुरुन की सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी।
या विधि मिथ्यात बढ़ायो, चहुंगतिमधिदोष उपायो।।
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, परवनिता सों दृगजोरी।
आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो।।
सपरस रसना घ्राननको, चखु कान विषय-सेवनको।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने।।
फल पंच उदम्बर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, विसयन सेये दुखकारे।।
दुइबीस अभख जिन गाये, सो भी निशदिन भुंजाये।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों-त्यों करि उदर भरायो।।
अनंतानुबंधी जु जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो।
संज्वलन चौकड़ी गुनिये, सब भेद जु षोडश गुनिये।।
परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग।
पनवीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम।।

निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय-वनधायो, नानाविध विष-फल खायो।।
आहार विहार निहारा, इनमें नहिं जतन विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिना सोधी वस्तु जु खाई।।
तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकल्प उपजायो।
कछु सुधि बुधि नाहिं रही है, मिथ्यामति छाय गयी है।।
मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहू में दोस जु कीनी।
भिनभिन अब कैसे कहिये, तुम ज्ञानविषैं सब पइये।।
हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रसजीवन राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उरमें करुना नहिं लीनी।।
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई।
पुनि बिनगाल्यो जलढोल्यो, पंखातैं पवन बिलोल्यो।।
हा हा! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा।।
हा हा! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामधि जे जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये।।
बींध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन-सोधि जलायो।
झाडू ले जागां बुहारी, चिंवटाऽदिक जीव बिदारी।।
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि-डारि जु दीनी।।
नहिं जल-थानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप उपाई।।
जलमल मोरिन गिरवायो, कृमिकुल बहुघात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये।।
अन्नादिक शोध कराई, तामें जु जीव निसराई।
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारैं धूप डराया।।
पुनि द्रव्य कमावन काजे, बहुत आरंभ हिंसा साजे।
किये तिसनावश अघ भारी, करुना नहिं रंच विचारी।।
इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता।

संतति चिरकाल उपाई, वानी तैं कहिये न जाई।।
ताको जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो।
फल भुँजत जिय दुख पावै, वचतैं कैसें करि गावै।।
तुम जानत केवलज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी।
हम तो तुम शरण लही है जिन तारन विरद सही है।।
इक गांवपती जो होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुख मेटहु अन्तरजामी।।
द्रोपादिको चीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुख मेटो अन्तरजामी।।
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोषरहित करि स्वामी, दुख मेटहु अन्तरजामी।।
इंद्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनि में नाहिं लुभाऊं।
रागादिक दोष हरीजे, परमातम निजपद दीजे।।
दोष रहित जिनदेवजी, निजपद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ै, आनंद-मंगल होय।।
अनुभव माणिक पारखी, 'जौहरी' आप जिनन्द।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरन-शरन आनन्द।।

स्ववैभव पाना ही मेरा धर्म व अधिकारः अन्य सभी पर व विभाव-व बेकार

आत्मवैभव के बिना चक्री तक भी अनाथ-(विवश-परवश)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1.आशा है मरी... 2.पायो जी मैंने...)

पाना है मुझे अनन्त वैभव पाना....2
जिस वैभव हेतु चक्रवर्ती भी राज्यवैभव को त्यागा...(स्थायी)
चक्री का भी वैभव न अनन्त है, नहीं शाश्वत सुख दाता।
शरीर इन्द्रिय व भौतिक आश्रित, हानि-लाभ आकर्षण-विकर्षण दुःख दाता।। (1)
ईन्धन संयोग से यथा अग्नि न बुझती, तथाहि भौतिक सुख से न मिले संतुष्ठी।

इस हेतु ही तो आक्रमण युद्ध होते, भरत बाहुबली युद्ध से ले शोषण मिलावट।। (2)
मोही रागी द्वेषी कामी क्रोधी स्वार्थी, करते जो भाव-व्यवहार नव कोटि से।
वे सभी भौतिक सुख-वैभव हेतु, जिससे वे न पाते आध्यात्मिक सुख-वैभव।। (3)
ऐसे जीव भले चतुर्गति के होते, वे होते पराधीन आहारभय मैथुन परिग्रह के।
इन्द्रिय मन व देह के दास बनकर, करते हर कार्य नव कोटि से विवशता से।। (4)
शलाका पुरुष तक होते हैं विवश, जब तक होते विशेषतः गृहस्थाश्रमी।
तद्भव मोक्षगामी भी होते हैं कुछ, जो होते विवश विशेष कर्म वशात्।। (5)
यथा राम पाण्ड़व व अंजन चोरादि, देशभूषण कुलभूषण व नारायण-प्रतिनारायण।
रूद्र नारद व सुभौम चक्री तक, भोगते हैं कर्म विवश से अनेक समस्यादि।। (6)
हुण्ड़ावसर्पीणी काल में तीर्थेश तक को, होते विविध उपसर्ग पार्श्व वीर को।
अन्तकृत उपसर्ग-विजयी केवली तक, छद्मस्थ अवस्था में सहे उपसर्ग धीर भी।। (7)
घातीकर्म क्षय से केवली होने पर, प्रगट होते आत्मा के अनन्त चतुष्टय।
इसके अनन्तर अक्षय काल तक भी, भोगते अव्याबाध अक्षय अनन्त ज्ञानानन्द।। (8)
सर्वकर्म क्षय से बनते शुद्ध बुद्ध, द्रव्यभाव नो कर्म क्षय से निकल परमात्मा।
जन्म जरा मृत्यु रोग शोक रहित, भोगते आत्मोत्थ स्वाधीन सुख वैभव।। (9)
अनन्त अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमेयत्व, अव्याबाधत्व व अगुरुलघुत्व-सूक्ष्मत्व वैभव।
प्रभुत्व-विभुत्व सत्य-समता-शान्ति, आत्मश्रद्धान ज्ञान चारित्र अहिंसा क्षमादि वैभव।। (10)
यह वैभव ही मेरा स्वभाव, अतः इसे प्राप्त करना मेरा धर्म व अधिकार।
इस के अतिरिक्त सभी पर व विभाव, अतः 'सूरी कनक' का लक्ष्य पाना स्व वैभव।। (11)

ग.पु.कॉ. 30-4-2020 रात्रि 12.02 व प्रातः 5.45

संदर्भ-

मिथ्यात्व की शक्ति एवं मिथ्यात्व का कार्य का वर्णन वीरसेन स्वामी ने निम्न प्रकार से किया है-

सूत्र-(सव्वतिव्वाणुभागा मिच्छतस्स उक्कस्साणुभागुदीरणा अणंताणुबंधीणमण्णदरा उक्कस्माणुभागुदीरणा तुल्ला अणंत गुण हीणा)।। (ज.ध.)

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात्

सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है उससे अनंतानुबंधियों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंत गुणी हीन है।

शंका-मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों हैं?

समाधान-''सव्व दव्व विसय सद्दहण गुण पडिबंधत्तादो।''

अर्थ-सर्व द्रव्य विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो उवसाम यस्स बोधव्वो।

उवसंते सामणे तेण परं होदि भयणिज्जो।। (धवला)

मिथ्यात्व का उपशान्त अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है।

मेरा अभिप्राय यह नहीं की मिथ्यात्व से ही बंध होता है कषाय आदि से नहीं। मिथ्यात्व से भी बंध होता है और कषाय आदि से भी बंध होता है परन्तु मिथ्यात्व को जैसे बंध प्रक्रिया में अकिंचित्कर मानते हैं मैं वैसे कषाय आदि को अकिंचित्कर नहीं मानता हूँ। आगमोक्त जो विधि है वह मेरे लिए मान्य है। मेरा कोई व्यक्ति विशेष प्रति या किसी के मत प्रति राग या द्वेष नहीं है, परन्तु वस्तु स्वरूप का निर्णय करना ही मेरा लक्ष्य हैं।

मोहक्षय करने वाला दुःख क्षय करता है

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।। (88) (प्रवचनसार)

He, who destroys delusion, attachment and aversion, after having grasped the discourse of the jina, escapes from all miseries within a short time.

आगे यह प्रकट करते हैं इस दुर्लभ जैन के उपदेश को प्राप्त करके भी जो कोई मोह-राग-द्वेषों को नाश करते हैं, वे ही सर्व दुःखों का क्षय करके निज स्वभाव को प्राप्त करते हैं।

विशेष यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परंपरा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त

होने वाले जैन तत्त्व के उपदेश को पाकर मोह राग द्वेष से विलक्षण अपने शुद्धात्मा के निश्चल अनुभव रूप निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अविनाभूत वीतराग चारित्र रूपी तीक्ष्ण खड्ग को मोह राग द्वेष शत्रुओं के ऊपर पटकता है वही वीर पुरुष परमार्थ रूप अनाकुलता लक्षण को रखने वाले सुख से विलक्षण सब दुःखों का क्षय कर देता है यह अर्थ है।

समीक्षा-आत्म स्वरूप से विपरीत परिणमन करने वाला कर्म मोहनीय कर्म है। दर्शन मोहनीय कर्म जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, गुण को विपरीत करता है तो चारित्र मोहनीय कर्म आत्म स्वरूप में रमण करने के लिए बाधक स्वरूप बनता है। इसलिए मोह कर्म से युक्त जीव आत्म स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है, जिसके कारण वह विभिन्न दुःखों को प्राप्त करता है, परन्तु जो सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित उपदेश से दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म को नष्ट कर लेता है, वह भावात्मक मोक्ष को प्राप्त करके समस्त दुःखों को नष्ट करके शाश्वतिक अनंत सुख को प्राप्त कर लेता है।

आचार्यश्री ने मोह क्षय से दुःख क्षय एवं सुख की उपलब्धि कहा है, इसका कारण यह है कि मोह क्षय होने पर अन्य तीन घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं एवं अघातिया कर्म अनंत चतुष्टय को घातने के लिए असमर्थ हो जाते हैं। कहा भी है-

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ।। (1) राजवार्तिकम्
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजकात्स्र्येन मोहनीयं प्रहीयते।। (2)

इस प्रकार तत्त्व परिज्ञान करके अत्यंत विरक्त आत्मा आस्रव रहित होने से नूतन कर्मसंतति के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त कारणों के द्वारा पूर्वार्जित कर्मों का क्षय कर संसार के बीजभूत मोहनीय कर्म को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है।

ततोऽन्तराज्ञानघ्र-दर्शनाघ्रान्यनन्तरम्।
प्रदीयन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः।। (3)
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति।
तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते।। (4)

उसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीनों कर्म अशेष रूप

से एक साथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे-गर्भसूची-मस्तकछत्र के (या जड़ के) नष्ट हो जाने पर (नष्ट होते ही) तालवृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही शेष तीन घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं।

ततः क्षीणचतुः कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः।। (5)

इसके बाद चार घातिया कर्मों का नाश कर अथा (यथा) ख्यात संयम को प्राप्त और बीज बंधन (कर्मबीज बंधन) से निर्मुक्त आत्मा स्नातक परमेश्वर बन जाता है।

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी न जिनो भवति केवली।। (6)

शेष चार अघातिया कर्मों का उदय रहते हुए भी आत्मा शुद्ध-बुद्ध निरामय सर्वज्ञ, सर्वदर्शी केवली जिन हो जाता है। मोह-क्षय के क्रम का वर्णन उत्तराध्ययन में निम्न प्रकार से किया है-

जहा य अण्डप्पभवा बलागा, अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हायणं वयन्ति।। (6) उत्तराध्ययन

जिस प्रकार अण्डे से बलाका (बगुली) पैदा होती है और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का जन्म स्थान तृष्णा है और तृष्णा का जन्म स्थान मोह है।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं ज जाई मरणं वयन्ति।। (7)

कर्म के बीज राग और द्वेष है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह कर्म जन्म और मरण का मूल है और जन्म एवं मरण ही दुःख है।

दुक्खं हेय जस्स न होई मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लाहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।। (8)

उसने दुःख को समाप्त कर दिया है, जिसे मोह नहीं है। उसने मोह को मिटा दिया, जिसे तृष्णा नहीं है। उसने तृष्णा का नाश कर दिया है, जिसे लोभ नहीं है।

उसने लोभ को समाप्त कर दिया है, जिसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, अर्थात् जो आकिंचन्य है।

पातञ्जलयोगदर्शन में भी अविद्या (मोह) के अभाव से कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि होती है ये कहा है। यथा-

तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।। (25)

उक्त अविद्या के नाशरूप अभाव होने से हेय दुःख का हेतु जो बुद्धि के साथ पुरुष का संयोग उसका अभाव होना अर्थात् मोक्ष कहा जाता है और वह होना ही दृशिरूप पुरुष का कैवल्य अर्थात् मोक्ष है।

भेद विज्ञान से मोह क्षय होता है

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तिणाहिसंबद्धं।

जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।। (89) (प्र.सा.)

He, who really knows his soul as constitued of knowledge and others as only related with it as substances, effects the destruction of delusion.

जीव तब तक अहित को स्वीकार करता है जब तक अहित का ज्ञान नहीं होता है। अहित का परिज्ञान तब तक नहीं होता है, जब तक जीव मोह अथवा अंधकार रूपी अज्ञान से व्याप्त रहता है। जिस प्रकार अंधकार में सर्प को भी रस्सी (रज्जू) मानकर प्रयोजन वश स्वीकार कर देता है, परन्तु प्रकाश होते ही उसे परिज्ञान हो जाता है कि यह सर्प है। यह मेरे लिए अपकारी है तब वह तत्क्षण उस सर्प को त्याग कर लेता है। इसी प्रकार जीव जब अज्ञान एवं मोह रूपी अंधकार से व्याप्त रहता है तब तक वह पर द्रव्य को स्व द्रव्य मानकर स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब स्व द्रव्य को एवं पर द्रव्य को निश्चय से जान लेता है, तब वह मोह को क्षय करता है। यदि ज्ञान होते हुए भी मोह का क्षय नहीं करता है, वह यथार्थ से ज्ञान नहीं है।

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो, सप्पादि दोस परिहरणं।

चक्खू होइ णिरत्थ दट्ठूण बिले पडंतस्स।। (12) भ.आरा.

चक्षु से देखने का सार सर्प आदि दोषों से दूर रहना है। देखकर भी आगे वर्तमान (विद्यमान) साँप के बिल में गिरने वाले मनुष्य की आँख व्यर्थ है।

अज्ञानान्मोहिने बन्धो नाऽज्ञानाद्वित मोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्स्मोहिनोऽन्यथा।। (98) देवागम स्तोत्र

मोह सहित अज्ञानता से बंध होता है, मोह रहित अज्ञानता से बंध नहीं होता है। मोह दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय की अपेक्षा दो प्रकार का है। दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय सहित अज्ञान-(अल्पज्ञ) से बंध होता है। परन्तु दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय रहित अज्ञानता से बंध नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि मोह रहित अल्प ज्ञान से मोक्ष हो सकता है, मोह सहित ज्ञान से अथवा विपुल ज्ञान से अथवा विपुल मिथ्याज्ञान से बंध होता है।

बंधाणं च सहायं वियाणिदु-अप्पणो सहावं च।

बंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदी।। (315) समयसार

बंध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर के जो पुरुष विरक्त होता है, वही कर्मों को काट सकता है। भाव बंध मिथ्यात्व और रागादिक है। उनके स्वभाव को जानकर हेय-उपादेय के विषय में विपरीत मान्यता अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना मिथ्यात्व कहलाता है। पंचेन्द्रियों के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर केवल बंध स्वभाव ही को नहीं परन्तु आत्मा के अनंत ज्ञानादि स्वभाव को जानकर द्रव्य बंध के हेतुभूत मिथ्यात्व और रागादि रूप भाव बंध है उनमें निर्विकल्प समाधि बल से रंजायमान नहीं होता सो वह कर्मों का नाश करता है।

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।

णाणेण कुणदि चरणं तम्हा णाणे हवे विणओ।। (मूलाचार)

ज्ञानी जानता है, ज्ञानी छोड़ता है और ज्ञानी नवीन कर्म को नहीं ग्रहण करता है, ज्ञान से चारित्र का पालन करता है, इसलिये ज्ञान में विनय होवें। जिस हेतु से ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा जानता है। गति अर्थ वाले धातु ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ वाले होते हैं ऐसा व्याकरण का नियम है। अतः यहाँ 'गच्छति' का जानना और प्राप्त करना अर्थ किया है, जिससे ज्ञानी पाप की वंचना-परिहार करता है और नवीन कर्मों से नहीं बंधता है तथा ज्ञान से चारित्र को धारण करता है इसलिये ज्ञान में विनय करना चाहिए।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।

णाणेण कुणदि णायं णाणं णाणविणीदो हवदि एसो।। (368) मूलाचार

ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है, इस प्रकार यह जो करता है वह ज्ञान से विनयी होता है।

ज्ञान शिक्षते विद्योपादानं करोति ज्ञान गुणयति परिवर्तनं करोति। ज्ञानं परस्मै उपदिशति प्रतिपादयति। ज्ञानेन करोति न्यायमुष्ठानं य एवं करोति ज्ञान विनीतो भवत्येष इति।

ज्ञान विद्या को प्राप्त करता है। ज्ञान अवगुण को गुण रूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय-सत्प्रवृत्ति करता है। जो ऐसा करता है वह ज्ञान विनीत होता है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानान्तर मुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।। (38) पुरुषार्थ

अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं होता है। इसलिए सम्यग्ज्ञान के अनंतर चारित्राराधना का कथन किया गया है।

''णाणम्मि असंतमि चरित्तं वि न विज्जए।'' व्यवहार भाष्य

जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ चारित्र भी नहीं रहता।

''सव्व जगुज्जोलयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं।।'' (व्यवहार)

ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही मनुष्य को कर्त्तव्य का बोध होता है।

''सुमस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेई।'' उत्तराध्ययन

ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अज्ञान का नाश करता है।

''विन्नाणेणं समगम्म धम्मसाहणमिच्छिउं।'' उत्तराध्ययन

विज्ञान के द्वारा धर्म के साधनों का उचित निर्णय करना चाहिए।

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।

अण्णाणी किं काही किंवा वाहिइ छेय पावगँ।। दशवैकालिक

पहले सम्यग्ज्ञान होना चाहिए उसके उपरांत सम्यग्ज्ञान के अनुसार दया पालन करना चाहिए अर्थात् सम्यग्चारित्र पालन करना चाहिए। इसी प्रकार चारित्र संपूर्ण

संयमियों को आचरण करने योग्य है। अज्ञानी क्या कभी इस प्रकार श्रेय (आचरणीय) पापात्मक अश्रेय जान सकता है अर्थात् बिना ज्ञान करणीय-अकरणीय का विवेक नहीं होने से अज्ञानी यथार्थ चरित्र पालन नहीं कर सकता है। इसलिए कहा है-

''बिन जानेते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये।''

सम्यग्ज्ञान की महानता का वर्णन करते हुए अमृत कलश में बताते है कि-

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।। (7)

जो अनंतानंत सिद्ध हुए हैं वे सब भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं। जो बंधे हुए है वे भेद विज्ञान के अभाव के कारण बंधे हुए हैं। कविवर दौलतराम जी ने कहा है-

ज्ञान समान न आन जगत् में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण।। (चतुर्थढाल)

भेद विज्ञान, जैनागम से होता है

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु इच्छदि णिम्मोहिं जदि अप्पणो अप्पा।। (90) (प्र.सा.)

विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्य भाव अपने को और पर को प्रकाशमान करने वाला है उसी की सहायता करके मैं शुद्ध ज्ञानदर्शन भाव को अपना आत्मा रूप जानता हूँ तथा पर जो पुद्गल आदि पाँच द्रव्य हैं तथा अपने जीव के सिवाय अन्य सर्व जीव हैं, उन सबको पररूप से जानता हूँ। इस कारण से जैसे एक घर में जलते हुए अनेक दीपकों का प्रकाश हैं किन्तु सबका प्रकाश अलग-अलग है। इसी ही तरह सर्व द्रव्यों के भीतर में मेरा सहज शुद्ध चिदानंदमय एक स्वभाव अलग है उसका किसी के साथ मोह नहीं है, यह अभिप्राय है।

मोह का क्षय करने के प्रति अभिमुख बुध-जन इस जगत् में निश्चय से आगम में कथित अनंत गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा-जो गुण अन्य (द्रव्य) के साथ योग (संबंध) रहित होने से असाधरणता को धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं, उनके द्वारा अनंत द्रव्य परंपरा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो (मोह का क्षय करने के इच्छुक पंडितजन आगम कथित अनंत गुणों में असाधारण लक्षणभूत गुणों

के अनंत द्रव्य परंपरा में ''यह स्वद्रव्य है यह परद्रव्य है'' ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है-

सत् और अकारण होने से स्वतः सिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाश वाला होने से स्व-पर का ज्ञायक, ऐसा जो यह मेरे साथ संबंध वाला मेरा चैतन्य है तथा जो (चैतन्य) समान-जातीय अथवा असमान जातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है उस (चैतन्य) के द्वारा मैं अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ, इस प्रकार पृथक् रूप से वर्तने वाले स्वलक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं उनके द्वारा-आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व-धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ (जैसे चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुव द्रव्य के रूप में जाना, उसी प्रकार अवगाह हेतुत्व, गति हेतुत्व इत्यादि लक्षणों से जो कि स्वलक्षणभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते उनके द्वारा आकाश धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न-भिन्न ध्रुव द्रव्यों के रूप में जानता हूँ) इसलिए न मैं आकाश हूँ, न धर्म हूँ, न अधर्म हूँ, न काल हूँ, न पुद्गल हूँ और न आत्मान्तर (अन्य आत्मा) हूँ क्योंकि मकान के एक ही कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाश की भाँति, इकट्ठे (एक क्षेत्रावगाही) रहने वाले द्रव्यों में भी मेरा चैतन्य, निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ, मुझको व पृथक् जानता (प्रगट करता) है। इस प्रकार निश्चित किया है। स्व-पर का विवेक जिसने-ऐसे आत्मा के वास्तव में विकार को उत्पन्न करने वाले मोहांकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता।

समीक्षा-अनादि काल से जीव मोह से पराभूत होने के कारण स्व-पर भेद-विज्ञान से रहित होता है, इसीलिये वह स्व को स्वरूप में एवं पर को पर रूप में नहीं जानता है, नहीं मानता है, नहीं आचरण करता है। इस भेद ज्ञान की प्रक्रिया के लिए जिसने इस प्रक्रिया को पूर्णरूप से करके सर्वज्ञ हितोपदेशी बना है, उसके उपदेश की आवश्यकता ही नहीं है परन्तु अनिवार्यता भी हैं। जिस प्रकार स्वयं के मुख दर्शन के लिए दर्पण की आवश्यकता है, उसी प्रकार स्व-स्वरूप के दर्शन के लिए जिनागम रूपी दर्पण की आवश्यकता है।

मोही दुःख को दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति होता है

जो इन्द्रिय सुख का लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापों में लगा रहता है जो दुःख के हेतु हैं जो दुःख के कारण हैं। इसलिये उनका सब काम दुःख का ही मूल होता है।

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो।
अधतेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो।। (1790)

उन हिंसा आदि दोषों को करने से जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है। कर्म बन्ध के पश्चात् उस कर्म का फल भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आग से निकलकर दूसरी आग में प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्व बद्ध कर्मों को भोगकर पुनः नवीन कर्म रूपी आग में जलता है।

बंधंतो मुच्चंतो एवं कम्म पुणो पुणो जीवो।
सुहकामो बहुदक्खं संसारमणादियं भमई।। (1791)

इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड़ देता है और कर्मों का फल भोगते समय होने वाले राग-द्वेष रूप परिणामों से नवीन कर्मों का बन्ध करता है। सुख की अभिलाषा रखकर बहुत दुःखों से भरे अनादि संसार में भ्रमण करता है।

अनाथ (पराधीन) एवं सनाथ (स्वाधीन)

गज-अश्व तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मुण्डिकुक्षि चैत्य उद्यान में विहार-हेतु यात्रा के लिए नगर से निकला, वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों एवं लंताओं से आकीर्ण था, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित था और विविध प्रकार के पुष्पों से भली-भाँति आच्छादित था। किंबहुना नन्दन वन के समान था। राजा के उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठे हुए समाधि-संपन्न, सुकुमार एवं सुखोचित-सुखोपयोग के योग्य संयत साधु को देखा, साधु के अनुपम रूप को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय विस्मय हुआ। अहो क्या वर्ण (रंग) है। क्या रूप (आकार) है! अहो, आर्य की कैसी सौम्यता है! अहो, अहो!, क्या शान्ति है, क्या मुक्ति-निर्लोभता है! भोगों के प्रति कैसी असंगता है! मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा न अति दूर न अति निकट अर्थात् योग्य स्थान में खडा रहा और हाथ जोड़कर मुनि से पूछने लगा-राजा श्रेणिक ''हे आर्य! तुम अभी युवा हो। फिर भी हे संयत! तुम भोग काल में दीक्षित हुए हो, श्रामण्य में उपस्थित हुए हो। इसका क्या कारण है, मैं सुनना चाहता हूँ।''

मुनिः-''महाराज! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ-अभिभावक एवं संरक्षक नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई सुहृदय-मित्र मैं नहीं पा रहा हूँ।'' यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हँसा और मुनि से बोला ''इस प्रकार तुम देखने में ऋद्धि सम्पन्न-सौभाग्यशाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई कैसे नाथ नहीं है?''

राजा श्रेणिकः-''भदन्त! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। हे संयत! मित्र और ज्ञानीजनों के साथ भोगों को भोगो। यह मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है।''

मुनि-''श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ हो। मगधाधिप! जब तुम स्वयं अनाथ हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे?'' राजा पहिले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अभूत पूर्व (पहले कभी नहीं सुना गया-''अनाथ'' यह) वचन सुनकर तो और भी अधिक संभ्रान्त-संशयाकुल एवं विस्मित हुआ।

राजा श्रेणिक-''मेरे पास अश्व है हाथी है-नगर और अन्तःपुर है। मैं मनुष्य जीवन के सभी सुख-भोगों को भोग रहा हूँ। मेरे पास आज्ञा-शासन और ऐश्वर्य-प्रभुत्व भी है।''

इस प्रकार प्रधान-श्रेष्ठ सम्पदा, जिसके द्वारा सभी काम भोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त हैं। इस स्थिति में भला मैं कैसे अनाथ हूँ? भदन्त! आप झूँठ न बोले।

मुनि ''पृथ्वी पति-नेरश! तुम 'अनाथ' के अर्थ और परमार्थ को नहीं जानते हो कि मानव अनाथ और सनाथ कैसे होता है?'' ''महाराज! अध्याक्षिप्त-अनाकुल चित से मुझे सुनिये कि यथार्थ में अनाथ कैसे होता है, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है?''

प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर...कौशाम्बी नामक नगरी है। वहाँ मेरे पिता थे। उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था महाराज! प्रथम वय में युवावस्था में मेरी आँखों में अतुल-असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव! उससे मेरे सारे शरीर में अत्यन्त जलन होती थी। ''क्रुद्ध शत्रु द्वारा जैसे शरीर के मर्म स्थानों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोंपने पर उससे जैसी वेदना होती है, वैसे ही मेरी आँखों में भयंकर वेदना हो रही थी।'' जैसे इन्द्र के व्रज प्रहार से भयंकार वेदना होती है। वैसे ही मेरे त्रिकटि

भाग में, अन्तरेच्छ हृदय में और उत्तमांग-मस्तक में अति दारुण वेदना हो रही थी। विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा औषधियों के विशारद, अद्वितीय शास्त्र कुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिए उपस्थित थे। उन्होंने मेरे हितार्थ वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक-रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सकों को उपहार स्वरूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दी, किन्तु वे मुझे दुःख से मुझे नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। महाराज! मेरी माता पुत्र शोक के दुःख से पीडित रहती थी किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है। महाराज! मेरे बडे और छोटे सभी सगे भाई मुझे दुःख से मुक्त नहीं करा सके। यह मेरी अनाथता है। महाराज! मेरी बडी और छोटी सभी बहिनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है। महाराज! मुझ में अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनों से मेरे उर ''स्थल (छाती) को भिगोती रहती थी। वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी अन्न, पान, स्नान, गंध, माल्य और विलेपन का उपयोग नहीं करती थी। वह एक क्षण के लिए भी मुझे से दूर नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी। महाराज! यह मेरी अनाथता है।'' तब मैंने इस प्रकार कहा-विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार असह्य वेदना का अनुभव करना होता है। इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ, तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारवृति में प्रव्रजित-दीक्षित हो जाऊँगा। नराधिप इस प्रकार विचार करके मैं सो गया। परिवर्तमान (वीतती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई। तदन्तर प्रातः काल में कल्प-नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति में प्रव्रजित हो गया।

सनाथ का स्वरूप

ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य।।

तब मैं अपना और दूसरों का त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा में नन्दणं वणं।।

मेरी अपनी आत्मा ही वेतरणी नदी है, कूट शाल्मलीवृक्ष है, काम दुधा-धेनु है और नन्दन वन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममितं च दुप्पट्ठिप-सुपट्ठिओ।।

आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता-भोक्ता है। सत् प्रवृति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है। और दुष्प्रवृति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

अनाथ साधु का स्वरूप

राजन्! एक और भी अनाथता है। शान्त और एकाग्रचित होकर उसे सुनो। बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते हैं जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं-स्वीकृत अनगार धर्म को सोत्साह पालन नहीं कर पाते हैं। जो महाव्रतों को स्वीकार कर प्रमाद के कारण उनका सम्यक् पालन नहीं करता है, इच्छाओं का निग्रह नहीं करता है, रसों में आसक्त है वह मूल से राग-द्वेष रूप बन्धनों का उच्छेद नहीं कर सकता है। जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप में और उच्चार-प्रसवण के परिष्ठापन में अयुक्तता सजगता नहीं है, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता, जो विरयात है-अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले हैं। जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है-वह चिर काल तक मुण्ड रुचि (और कुछ साधन न कर केवल सिर मूंडा देने वाला भिक्षु) रहकर और आत्मा को कष्ट देकर भी वह संसार से पार नहीं हो सकता। जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे-सिक्के की तरह अयान्त्रित-अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि-काच-मणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि से मूल्यहीन है। जो कुशील-आचार-हीनों का वेष, और ऋषि-ध्वज (रजो हरणादि मुनि चिन्ह पिच्छी) धारण कर जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आप को संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात-विनाश को प्राप्त होता है। पीया हुआ काल कूट-विष, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित वेताल-जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही विषय-विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है। जो लक्षण और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है; निमित्त शास्त्र और कौतुक-कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्याआश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेर विद्याओं से-जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है, वह

कर्म फल-भोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता। वह शील रहित साधु अपने तमस्तमस्-तीव्र अज्ञान के कारण विपरीत-दृष्टि को प्राप्त होता है, फलतः असाधु प्रकृति वाला यह साधु मौन-मुनि धर्म की विराधना कर सतत दुःख भोगता हुआ नरक और तिर्यंच गति में आवागमन करता रहता है। जो औद्देशिक, क्रीत-कृत, नियाग-नित्यपिण्ड आदि के रूप में थोड़ा सा-भी अनेषणीय आहार नहीं छोड़ता है, वह अग्नि की भाँति सर्व भक्षी भिक्षु पाप कर्म करके यहाँ से मरने के बाद दुर्गति में जाता है।

स्वयं की अपनी दुष्प्रवृति-शील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह गला काटने वाला शत्रु भी नहीं कर पाता है। उक्त तथ्य को निर्दय-संयम हीन मुनष्य मृत्यु के क्षणों में पश्चाताप करते हुए जान पाएगा। जो उत्तमादि में अन्तिम समय की साधना में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य में अभिरुचि व्यर्थ है। उसके लिए न यह लोक न परलोक है। दोनों लोक के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह उभय-भ्रष्ट निरन्तर चिन्ता में घुलता जाता है। इसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशील साधु भी जिनोत्तम-भगवान् के मार्ग की विराधना कर वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोग-रसों में आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।

सनाथ साधु का (लक्षण) स्वरूपः–मेधावी साधक इस सुभाषित को एवं ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सब मार्गों को छोड़कर, महान् निर्ग्रन्थों के पथ पर चले। चारित्राचार और ज्ञानादि गुणों से संपन्न निर्गन्थ निराश्रव होता है। अनुत्तर शुद्ध संयम का पालन कर वह निराश्रव (राग-द्वेषादि बन्ध-हेतुओं से मुक्त) साधक कर्मों का क्षय कर, विपुल, उत्तम एवं शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार उग्र-दान्त, महान् तपोधन महा-प्रतिज्ञ, महान्-यशस्वी उस महामुनि ने इस महा निर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा। राजा श्रेणिक संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला भगवन् अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने ठीक तरह समझाया है।

राजा श्रेणिक–हे महर्षि! तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल है, तुम्हारी उपलब्धियाँ सफल हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनेश्वर, के मार्ग में स्थिर हो। हे संयत! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग! मैं

तुम से क्षमा चाहता हूँ। मैं तुम से अनुशासित होने की इच्छा रखता हूँ। मैंने तुम से प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया, उन सब के लिए मुझे क्षमा करें। इस प्रकार राजसिंह श्रेणिक राजा अनगार-सिंह मुनि की परम भक्ति से स्तुति कर अन्तःपुर (रानियों) तथा अन्य परिजनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। राजा के रोम कूप आनन्द से उच्छ्वसित-उल्लसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा और सिर से वन्दना करके लौट गया। वह गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरक्त, मोह मुक्त मुनि पक्षी की भाँति विप्रमुक्त-अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे। (उत्तराध्यन सूत्र)

विभिन्न शरीर धारी जीव

काय (शरीर) की परिभाषा

जातिनाम कर्म के उदय के अविनाभावी त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा की त्रस रूप और स्थावर रूप पर्याय को काय कहते हैं। वह काय पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय के भेद से छह प्रकार का जिनमत में कहा है।

'कायते' अर्थात् व्यवहारी पुरुषों के द्वारा 'त्रस' स्थावर इस प्रकार से कही जाती है; वह काय है। 'त्रस' धातु का अर्थ उद्वेग रूप किया है, उससे त्रस शब्द निष्पन्न हुआ है और स्थान क्रिया से स्थावर शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः त्रस और स्थावर का लक्षण निरुक्ति सिद्ध है। अथवा 'चीयते' अर्थात् पुद्गलस्कन्दों के द्वारा जो पुष्टि को प्राप्त हो वह काय है; अर्थात् औदारिक आदि शरीर काय में स्थित आत्मपर्याय को भी उपचार से काय कहते हैं। जातिनाम कर्म, त्रसनामकर्म और स्थावर कर्म जीवविपाकी होने से उनका कार्य जीव पर्याय काय है, यह व्यवहार सिद्ध है। पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्म के उदय का कार्य होने से यहाँ काय शब्द से शरीर ही ग्रहण नहीं है। **(गो.जी.)**

मानस विज्ञान निरुपण

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में मानस विज्ञान-नाम से स्वतंत्र रूप से अलग से कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है। परंतु अष्टांग आयुर्वेद में अनेक मानस रोगों, ग्रहबाधा

एवं भूतविद्या आदि का स्वतंत्र रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुतः सम्पूर्ण आयुर्वेद ही मानस संबंधी विषयों एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। आयुर्वेद में मानस रोगों के क्रम में उन्माद, अपस्मार, ग्रहावेश, भय, हर्ष एवं शोक आदि का वर्णन तथा राजस एवं तामस प्रकृतियों के वर्णन के माध्यम से सभी मानसिक विकारों का सविस्तार वर्णन मिलता है।

आत्मा को चैतन्य स्वरूप में बनाये रखने में मन की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जब आत्मा, मन के साथ संयुक्त होती है एवं मन, इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तथा इन्द्रियां अपने विषयों से जुड़ती है तभी पुरुष को संबंधित विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुख, दुःख इत्यादि के ज्ञानार्थ साधनभूत इंद्रिय को मन कहते हैं।

आयुर्वेदीय अवधारणा के अनुसार मन जीव का अभिन्न अंश है। आचार्य चरक ने आयु को परिभाषित करते हुय स्पष्ट किया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के संयोग से ही जीव की उत्पत्ति होती है। मन, आत्मा एवं शरीर नामक त्रिस्थूण पर ही जीव की स्थिति आधारित होती है। इस प्रकार मन जीव का अभिन्न अंश होने से ही स्वास्थ्य एवं सभी शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों में मनोभावों की प्रमुख भूमिका होती है।

आयुर्वेद मतानुसार आश्रय भेद से व्याधियों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया गया है-

1. शारीरिक व्याधियां 2.मानस व्याधियां

शारीरिक एवं मानस विकार प्रायः एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। शारीरिक विकार प्रायः निज कारणों से उत्पन्न होते हैं तथा मानस विकारों का कारण अधिकतर आगन्तुज होता है। परंतु शारीरिक एवं मानस विकार एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। इसी वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद में एक समग्र मनोदैहिक दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है। आचार्य चरक ने शरीर एवं मन को एक दूसरे के अनुरूप बताया है। आयु स्वयं में मन, आत्मा एवं शरीर का संयुक्त स्वरूप है। अतः प्रत्येक व्याधि में मन, आत्मा एवं शरीर का प्रभावित होना स्वभाविक है। अतः वे रोग जिनमें प्रधान रूप से शारीरिक विकार उत्पन्न होते हों उन्हें 'शारीरिक रोग'

कहा जाता है तथा जिन रोगों में प्रधानतः मनोविकार उत्पन्न होता है और लक्षण भी शारीरिक न होकर मुख्यतः मानसिक ही होते हैं उन्हें 'मानस रोग' कहा जाता है। जैसे कास, श्वास, अतिसार इत्यादि को शारीरिक व्याधि एवं उन्माद, अपस्मार, अतत्वाभिनिवेश, भ्रम, शोक एवं हर्ष इत्यादि को मानस विकार स्वीकार किया जाता है। जबकि दोनों ही प्रकार के विकारों में न्यूनाधिक मात्रा में शरीर एवं मन दोनों ही समान रूप से प्रभावित होते हैं।

'मन' पद की निरुक्ति

वाचस्पत्यम शास्त्र में मन की निम्नलिखित निरुक्ति दी गयी है-

1. 'मनस मन्यतेऽनेनेति मनः करणेऽसुन' (वाचस्पत्यम्)

अर्थात् मनस शब्द मन बोध धातु के साथ करण (साधन) अर्थ में 'असुन' प्रत्यय होने से बनता है जिसका अर्थ है जिसके द्वारा बोध हो।

2. मन्यतेऽनेन इति मनः (मन ज्ञाने)

3. मनुते इति मनः (मनु अवबोधने)

इन धातुओं से 'मन' शब्द बनता है तथा जिसका अर्थ है 'जिससे ज्ञान होता है उसे मन कहते हैं।'

मन का स्थान

मन के निम्न दो स्थान माने गये हैं-

1. हृदय 2. मस्तिष्क या सिर

1. हृदय-संहिताओं में इन्द्रिय, आत्मा एवं मन का स्थूल रूप में स्थान बताया गया है। आचार्य चरक ने हृदय का वर्णन करते हुऐ स्पष्ट कहा है कि षडङ्गों से युक्त शरीर, विज्ञान (बुद्धि), इन्द्रियां, इन्द्रियों के सभी विषय, सगुण आत्मा, मन एवं मन के विषय इन सभी का आधार स्थल हृदय होता है।

चिकित्सा स्थान अध्याय 24 में भी आचार्य चरक ने मन का स्थान हृदय बताया है।

यथा-रस, वातादि के मार्ग, सत्व (मन), बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और पर ओज का स्थान हृदय है। मदात्यय प्रकरण में भी आचार्य चरक ने कहा है कि

मद्य के द्वारा जब हृदय विकृति हो जाती है तो उसमें रहने वाली रसादि धातओं, मन, बुद्धि, आत्मा तथा ओज का स्वाभाविक कार्य विकृत हो जाता है। आचार्य वाग्भट ने भी मन का स्थान हृदय को ही माना है। इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत ने शरीर अध्याय 3 में बुद्धि एवं मन का स्थान हृदय ही बताया है। महर्षि भेल ने सर्व प्रकार की बुद्धियों एवं मन को हृदय में अवस्थित होना बताया है।

आयुर्वेद में स्पष्ट वर्णित है कि ओज मन की क्रियाशीलता एवं गतिशीलता को सतत रूप से बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाता है जिसके फलस्वरूप जीवन व्यापार निर्बाध गति से चलता रहता है। ओज को शरीर का बल मानते हुए उसे शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलापों का प्रणेता माना गया है। यहां पर स्पष्ट किया गया है कि ओज की हानि विशेष रूप से मानस विकारों के कारण होती है।

ओज क्षय में सर्वप्रथम मन एवं मानसिक क्रियाकलापों में विकृति उत्पन्न होती है। जैसा कि ओजक्षय के लक्षणों में स्पष्टतः वर्णित है। आयुर्वेद में ओज का स्थान हृदय बताया गया है। अतः ओज का स्थान हृदय होने से मन का स्थान भी हृदय सिद्ध होता है। इसके अनन्तर उच्च स्तरीय मानस क्रियाओं का प्रेरक साधक पित्त का स्थान भी हृदय होने से मन का स्थान हृदय ही है ऐसा माना जा सकता है।

2. मस्तिष्क या सिर

भले संहिता में मन का स्थान शिर बताते हुए स्पष्ट किया गया है सभी इन्द्रियों में उत्तम मन, शिर और तालु में रहता है। शिर एवं तालु में रहते हुये ही मन समीप में रहने वाली इन्द्रियों के रस इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है।

आचार्य चरक ने सभी इन्द्रियों का प्रधान आश्रय शिर को ही बताया है। चूंकि सभी इन्द्रियां मन से संबद्ध हैं अतः मन का स्थान शिर है ऐसा स्पष्ट होता है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के आधार पर हृदय एवं मस्तिष्क अथवा शिर दोनों को ही मन का स्थान मानना उचित प्रतीत होता है।

मन के गुण

मन के निम्न दो गुण होते हैं-

1. अणुत्व 2. एकत्व

1. मन का अणुत्व गुण-अणुत्व का तात्पर्य है सूक्ष्म। अर्थात् जो विभु या सर्व शरीर व्यापक नहीं हो। विभु परिमाण वाली आत्मा है जिसमें गति नहीं है अतः अणु परिमाण वाला द्रव्य ही सम्पूर्ण गति सम्पन्न करता है एवं मन के अतिरिक्त और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। अणुत्व का एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। मन अपनी सूक्ष्मता, चंचलता तथा तीव्र गति के कारण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्रतीत होता है। अणुत्व गुण के कारण ही मन एक विषय में इतनी शीघ्रता से प्रवेश करता है कि इसका ज्ञान ही नहीं होता है। इसीलिए मन की गति को सबसे तीव्र बताया गया है।

1. मन का एकत्व गुण-मन का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ संयोग करता हुआ उसी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। वस्तुतः मन में अणुत्व गुण के कारण एक विषय से दूसरे विषय तक इतनी शीघ्रता से गति होती है कि काल का ज्ञान न होने से मन की अनेकता की प्रतीती होती है। परन्तु यह भ्रम की स्थिति है जो मन के अणुत्व गुण के कारण होती है।

प्रत्येक शरीर में भिन्नता होने के कारण मन को अनन्त माना जा सकता है परंतु प्रत्येक शरीर में रहने वाला मन एक ही है। उस शरीर की सम्पूर्ण प्रक्रियाऐं उसी पर आधारित हैं। भूत गुणों की न्यूनाधिकता से अधर्म आदि संस्कारों द्वारा एवं कर्म विपाक द्वारा भिन्न-भिन्न स्वरूपों में मन परिवर्तित हो जाता है फिर भी मूल रूप में एक ही रहता है। मन की अनेकता का भ्रमन निम्न कारणों से होता है-

i. स्वार्थ व्यभिचार के कारण

मन अपने अर्थों के व्यभिचरण से अनेक प्रतीत होता है जैसे एक ही व्यक्ति कभी धर्म का तो कभी काम का चिन्तन करता है। इस प्रकार अर्थ व्यभिचार से मन की अनेकता का संदेह होता है।

ii. इन्द्रियार्थ व्यभिचार के कारण

मन विभिन्न इन्द्रियों के अर्थों में व्यभिचरण करता रहता है जैसे कभी चक्षु

इन्द्रिय से रूप का ग्रहण करता है, कभी घ्राण इन्द्रिय से संयुक्त होकर गंध ज्ञान को ग्रहण करता है।

iii. संकल्प के व्यभिचार के कारण

संकल्प का अर्थ है गुण एवं दोष पूर्वक चिन्तन करना। मन के द्वारा एक ही विषय वस्तु को कभी अत्यन्त गुणवान मान तो कभी उसे दोष पूर्ण देखना। इस प्रकार का भिन्न चिन्तन मन के एकत्व गुण में संदेह उत्पन्न करता है।

iv. रज, तम एवं सत्व गुण के कारण

मन अत्यन्त चंचल होता है। मन में कभी रजोगुण की प्रधानता रहती है तो कभी तमो गुण या सत्व गुण प्रबल हो जाता है। इस प्रकार की भिन्नता मन की एकत्वता को खण्डित करती प्रतीत होती है।

v. समुच्यात

पूर्व में वर्णित सभी कारणों के सम्मिलित स्वरूप से भी मन की अनेकता प्रतीत होती है।

इस प्रकार की शंकाओं का निम्न प्रकार से समाधान किया जा सकता है-

मन की अनेकता की प्रतीती केवल मिथ्या है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो मन एक है एवं अणु है। अणु एवं एक होने के कारण ही वह एक साथ अनेक विषयों को ग्रहण नहीं करता है। मन की गति तीव्रतम होने के कारण अत्यल्प समय में ही अनेक इन्द्रियों से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। उदाहरणार्थ कमल के सौ पत्रों को एक पर एक रखकर सुई वेधन करने पर ऐसा लगता है कि सभी पत्रों का वेधन एक ही समय में हो गया है परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता है, सभी पत्रों का वेधन अलग-अलग लेकिन शीघ्रता से होता है इसलिए भ्रांति होती है।

मन के कर्म

आचार्य चरक के अनुसार मन के कार्य निम्नलिखित हैं-

1. इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उनका संचालन करना।
2. अहित विषयों से उन्हें रोकना।
3. स्वयं को अहितकर विषयों में जाने से रोकने का प्रयास करना।

4. विभिन्न कार्यों की सम्भावनाओं के प्रति तर्क वितर्क करना।

5. हित एवं अहित का विचार करना।

यहां पर आचार्य चरक ने स्पष्ट रूप से इन्द्रियाभिनिग्रहः, स्वस्य निग्रह को मन के कर्म के रूप में स्वीकार किया है। परंतु दूसरी पंक्ति में ''उहो विचारश्च'' कहा है। अनेक व्याख्याकार उह्य, विचारादि को मन के कर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि चिन्त्य, विचार, उह्य, ध्येय, संकल्प इत्यादि मन के अपने विषय हैं। इनका ग्रहण मन के द्वारा बिना इन्द्रियों की सहायता से ही हो जाता है। मन का प्रमुख कार्य इन्द्रियों एवं उनके कार्यों का नियंत्रण तथा स्वयं का नियंत्रण करना है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मन के विषय वह सभी हैं जो मन के द्वारा बिना इन्द्रियों की सहायता से ग्राह्य हैं, परंतु मन का प्रमुख कार्य इन्द्रियाभिग्रह एवं स्वस्य निग्रह हैं।

i. इन्द्रियाभिग्रह

इन्द्रिय युक्त समस्त मनोव्यापार को इन्द्रियाभिग्रह कहते हैं। यहां पर इन्द्रियाभिग्रह का अर्थ इन्द्रिय निग्रह से किया गया है। जब इन्द्रियार्थों के असात्म्य संयोग की अवस्था होती है तो उस संयोग का मन निग्रह करता है अर्थात मन ही इनके असात्म्य संयोग को रोक सकता है। उसके अन्तर्गत ज्ञान एवं चेष्टा से संबंधित मनोव्यापार इन्द्रिय की संयुक्तावस्था से ही सम्पादित होती हैं तथा मन का प्रथम कार्य इन्द्रियाभिग्रह अर्थात् इन इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर इनका सम्यक रूपेण संचालन करना है।

ii. स्वस्य निग्रह

मनोव्यापार का जो क्षेत्र इन्द्रिय निरपेक्ष है उसका निग्रह मन स्वयं करता है। चिन्त्य, विचार, ध्येय, संकल्प आदि मन के विषय हैं तथा यह इन्द्रिय निरपेक्ष मनोव्यापार है।

मन के विषय

आचार्य चरक ने निम्निलिखित मन के विषयों का वर्णन किया है-

चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प तथा अन्य जो भाव मन के द्वारा जाने

जाते हैं उन्हें मन का विषय कहते हैं। मन के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले विषयों को चिन्त्य कहा जाता है जैसे क्या करने योग्य है अथवा क्या अयोग्य है। किसी विषय वस्तु के लाभ-हानि अथवा गुण दोष की विवेचना करने को विचार्य कहा जाता है तथा युक्ति अथवा तर्क द्वारा परीक्षण किये जाने वाले विषय को उह्य कहते हैं। एकाग्र मन से किसी विषय का ध्यान किया जाना ध्येय है। संकल्प करने योग्य विषय को संकल्प्य कहा जाता है। अर्थात् गुण एवं दोष का ज्ञान करके कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य से अभीष्ट की प्राप्ति का निश्चय करना ही संकल्प है।

मानस रोगों के सामान्य निदान

1. आयुर्वेद सिद्धांत के अनुसार सभी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के तीन मुख्य कारण होते हैं। यह निम्नलिखित हैं-

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग 2. प्रज्ञापराध 3. परिणाम

शारीरिक दोष वात, पित्त एवं कफ होते हैं। इनमें वात दोष सबसे प्रधान तथा सभी क्रियाओं का नियन्ता होता है। इसी प्रकार मानस दोषों में रज की प्रधानता होती है। रज दोष के बिना तम दोष की प्रवृत्ति नहीं होती।

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग

ज्ञानेन्द्रियां पांच होती हैं-श्रोत्, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषय के साथ अतियोग (अधिक संयोग होना), अयोग (पूर्णतः संयोग नहीं होना), अथवा मिथ्यायोग (कभी संयोग होना और कभी संयोग न होना) होना असात्मेन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। इन्द्रियां पांच होती हैं तथा प्रत्येक में तीन विकार अतियोग, अयोग, एवं मिथ्यायोग हो सकता है। अर्थात् कुल 15 प्रकार से असात्मेन्द्रियार्थ संयोग हो सकता है।

i. कर्णेन्द्रिय

1. अत्यधिक ऊंचे शब्द जैसे मेघ गर्जन, नगाड़े की आवाज, अत्यंत तीव्र आवाज में संगीत सुनना इत्यादि कर्णेन्द्रिय का अपने विषय के साथ अतियोग है।

2. कर्णेन्द्रिय से किसी प्रकार के शब्दों का सुनायी नहीं देना अयोग कहलाता है।

3. अप्रिय, निन्दित, कठोर, दुःख कारक शब्दों को सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

ii. त्वक् इन्द्रिय

1. अत्यधिक शीतल अथवा अत्यंत उष्ण द्रव्यों का त्वचा के साथ संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का अतियोग है।

2. शीत, उष्ण, अभ्यंग, परिषेक आदि का त्वचा से सर्वथा स्पर्श न होना त्वचा का अयोग है।

3. अपवित्र वायु का स्पर्श, या आघात लगना अथवा विषाक्त द्रव्यों का त्वचा से संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का मिथ्या योग है।

iii. दर्शनेन्द्रिय

1. अत्यंत चमक वाली वस्तु जैसे सूर्य, विद्युत बल्ब, आकाशीय विद्युत, टेलीविजन पर तेज चमक में चलचित्र देखना दर्शनेन्द्रिय का अतियोग है।

2. किसी वस्तु का सर्वथा न देखना दर्शनेन्द्रिय का अतियोग है।

3. अतिसमीप, अतिदूरस्थ, भयंकर, उग्र, वीभत्स, विचित्र, विकृत शव इत्यादि का देखना दर्शनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

iv. रसनेन्द्रिय

1. मधुर, अम्ल, लवण आदि रसों का अत्यधिक सेवन रसनेन्द्रिय का अतियोग है।

2. किसी भी रस का सेवन न करना अथवा रसहीन पदार्थ का सेवन रसनेन्द्रिय का अयोग है।

3. अपथ्य, अखाद्य द्रव्यों का सेवन, अष्टाहारविधि विशेषायतन एवं द्वादशासन विधियों का उल्लंघन करना रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

v. घ्राणेन्द्रिय

1. अत्यंत तीव्र अथवा अत्यंत उग्र गन्ध का सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है।

2. किसी भी प्रकार की गन्ध को नहीं सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अयोग है।

3. दुर्गन्ध युक्त, अपवित्र गन्ध, विषाक्त गन्ध को सूँघना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

2. प्रज्ञापराध

प्रज्ञा का अर्थ ''धी'' होता है। धी, धृति एवं स्मृति के विभ्रंस होने के फलस्वरूप जब पुरुष ऐसे अनुपयुक्त कार्य करने लगता है जो दोषों को प्रकुपित करते हैं तो उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। यहाँ पर ''बुद्धि (धी)'' के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ''धृति'' के द्वारा प्राप्त ज्ञान का धारण किया जाता है एवं ''स्मृति'' के द्वारा आवश्यकता होने पर संचित ज्ञान का स्मरण किया जाता है।

मन, वाणी एवं शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है। इन तीनों की प्रवृत्ति का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग प्रज्ञापराध कहा जाता है।

i. कर्म का अतियोग

मन, वाणी एवं शरीर कर्मों का अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना कर्म का अतियोग है।

ii. कर्म का अयोग

वाणी, मन अथवा शरीर के जो भी स्वाभाविक कर्म है उनमें प्रवृत्त नहीं होना कर्मों का अयोग है।

3. परिणाम

काल को ही परिणाम कहा जाता है क्योंकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे अथवा बुरे कर्मों को धर्म-अधर्म रूप से परिणत कर यथा समय उनका फल देने वाला होता है।

काल के लक्षणों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग, सभी प्रकार के शरीर या मानस रोगों का निमित्त कारण होता है।

i. काल का अतियोग

शीतकाल में शीत का अथवा उष्ण काल में गर्मी का और वर्षाकाल में वर्षा का अत्यधिक होना काल का अतियोग है।

ii. काल का अयोग

शीत काल में शीत का पूर्णतः न होना या अत्यल्प मात्रा में शीत होना, ग्रीष्म काल में गर्मी का अभाव और वर्षा ऋतु में बारिश का न होना अत्यल्प होना काल का अयोग है।

iii. काल का मिथ्यायोग

शीतकाल में गर्मी होना अथवा वर्षा होना, ग्रीष्म ऋतु में शीत अथवा वर्षा होना, और वर्षा ऋतु में ग्रीष्म या शीत होना काल का मिथ्यायोग है।

बदलते वातावरण एवं दूषित होते हुए पर्यावरण के फलस्वरूप आजकल काल का मिथ्यायोग अधिक हो रहा है जैसे खाड़ी देशों में इस वर्ष भारी वर्षा हुई जो कि अद्‌भूत था, क्योंकि पिछले सैकड़ों वर्षों के बाद रेगिस्तान में वर्षा हुई है।

अतः यह कहा जा सकता है कि असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण कारण होते हैं।

II. रज एवं तम मानस दोष एवं मनोरोग

मानस दोष दो होते हैं रज एवं तम। रज दोष सर्वाधिक क्रियाशील होता है एवं मन के दूसरों अंशों को भी क्रियाशील करता है। मनुष्य शरीर में प्रत्येक इच्छा, आकांक्षा के उत्पत्ति का मूल कारण रज दोष ही है एवं यही विभिन्न प्रकार के मानस विकारों को उत्पन्न करता है।

तम दोष गुरु तथा स्थिर स्वभाव वाला होता है। यह इन्द्रिय ग्रहण एवं मानसिक प्रक्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करता है। तम के कारण ही मिथ्याज्ञान, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा इत्यादि की उत्पत्ति होती है।

III. चित्तवत्तियाँ एवं मनोरोग

पातञ्जल योग सूत्र में पांच प्रकार की चित्तभूमि बतायी गयी हैं। इनके नाम एवं मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं-

1.मूढ़ : तम दोष

2.क्षिप्त : रज दोष

3.विक्षिप्त : रज एवं तम दोष

4.एकाग्र : सत्व गुण

5.निरुद्ध : सत्व गुण

उपरोक्त वर्णन में प्रथम दो चित्त भूमियों में रज एवं तम का बाहुल्य तथा तीसरे में रज एवं तम दोष की साम्यावस्था है। एकाग्र एवं निरुद्ध में सत्व गुण के कारण यह

मानस रोग उत्पादक नहीं है। अधिकतर मानस रोगों की उत्पत्ति मूढ़ एवं क्षिप्त अवस्थाओं में ही होती है।

IV. मानस प्रकृतियाँ एवं मानस रोग

मानस रोगों का मूल कारण राजस एवं तामस दोष हैं। मानस प्रकृतियाँ 16 होती हैं जिनमें सत्व गुण से सात प्रकृतियाँ, राजस दोष से छः प्रकृतियाँ तथा तामस दोष से तीन प्रकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्व गुण कल्याणकारी होता है तथा दोष रहित होता है। राजस मन में रोष (क्रोध) अंश की प्रधानता होती है अतः वह दोषकारक होती है। तामस अंश में मोह अंश की प्रधानता होती है अतः वह भी दोष युक्त होती है।

अतः राजस एवं तामस प्रकृतियाँ मानस रोग का कारण होती हैं।

V. अल्प सत्वता एवं मानस रोग

सत्व निम्न तीन प्रकार का होता है-

1.प्रवर सत्वः मानसिक रूप से सत्व

2.मध्यम सत्वः थोड़े उपायों से पूर्ण सत्व

3.अवर सत्व अथवा हीन मनोबल (निकृष्ट)

अल्प सत्व वाले व्यक्ति अपने भावों को नहीं रोक पाते हैं तथा मामूली सी समस्याओं से ही अत्यधिक परेशान एवं बेचैन हो जाते हैं। अल्प सत्व वाला व्यक्ति शारीरिक रूप से शक्तिशाली तो हो सकता है परंतु मानसिक रूप से अत्यन्त दुर्बल होता है। उसके मन में भय, शोक, लोभ, मोह आदि विकार भरे रहते हैं। वे विकृत, रौद्र, घृणित विषय अथवा रक्त, मांस आदि को देखकर ही विषाद, मूर्च्छा, उन्माद, शिरोभ्रम से घिर जाते हैं जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मानस विकारों के शिकार हो जाते हैं।

VI. सद्वृत की उपेक्षा एवं मानस रोग

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में सद्वृत का विस्तृत वर्णन मिलता है। सद्वृत का समुचित रूप से पालन करना मानस स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होता है। संहिता ग्रंथों में अनेक प्रकार के सद्वृत्त का सम्मिलित रूप में विस्तृत वर्णन है। इसके अंतर्गत, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, व्यवहारिक आदि घटकों को सम्मिलित किया गया है।

समुचित रूप से सद्वृत्त पालन से मानस रोगों से बचाव किया जा सकता है परंतु सद्वृत्त एवं आचार रसायन का पालन नहीं करने से अनेक प्रकार के मानस रोग उत्पन्न होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम को भी सद्वृत्त के अंतर्गत मानकर इनके नियमित पालन से मानस रोगों की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

VII. मानस भाव एवं मानस रोग उत्पादन में उनकी भूमिका

मानस दोष रज एवं तम के प्रकोप होने के फलस्वरूप अनेक मनोभाव उत्पन्न होते हैं जो मानस रोगों की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। मनोविकारों के कारण मनुष्य अपने मूल मार्ग एवं उद्देश्य से भटक जाता है एवं अनेक प्रकार की मानस व्याधियों अथवा मनोदैहिक विकारों से ग्रस्त हो जाता है। मानस रोगों की उत्पत्ति में भाग लेने वाले कुछ प्रमुख विकार निम्नलिखित हैं-

1. काम (Lust)	2. क्रोध (Anger)
3. लोभ (Greed)	4. मोह (Delusion)
5. ईर्ष्या (Jealousy)	6. मान (Pride)
7. मद (Neurosis)	8. शोक (Grief)
9. चिन्ता (Depression)	10. उद्वेग (Anxiety)
11. भय (Fear)	12. हर्ष (Euphoria)
13. दैन्य (Misery)	14. अमर्ष (Intolerence)
15. आवेग (Excitement)	16. ग्लानि (Disgust)
17. शंका (Uncertainity)	18. घृणा (Hatred)
19. जड़ता (Dullness)	20. उग्रता (Fierceness)
21. हठ (Obstinacy)	22. विलाप (Groaning)
23. श्रम (Fatigue)	24. उत्सुकता (Eagerness)

25. स्मृति (Recollection/Memory)

उपरोक्त सभी मनोभाव शरीर एवं मानस में विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करते हैं। इनमें से अनेक मनोभाव ऐसे हैं जो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे मनोभावों को उत्पन्न करते हैं। कुछ प्रमुख मनोभावों का वर्णन नीचे किया जा रहा है-

1. लोभ (Greed)

किसी वस्तु विशेष के प्रति अत्यधिक प्रीति अथवा लालच उत्पन्न हो जाना ही

लोभ की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति का मानस स्वास्थ्य प्रभावित होता है तथा यदि वह व्यक्ति अपने स्वभाव को यथाशीघ्र संतुलित करने में असफल रहता है तो धीरे-धीरे वह मानसिक रोगी हो जाता है।

2. मोह (Delusion)

यदि लोभ ग्रस्त व्यक्ति की समुचित चिकित्सा नहीं की जाये अथवा लोभ अत्यधिक बढ़ गया हो, तो यह अवस्था ही मोह कहलाती है। मोह अत्यंत विकृत मानस स्थिति है। उसमें व्यक्ति अज्ञानता से घिर जाता है तथा उस व्यक्ति के लिए हानि-लाभ अथवा उचित-अनुचित का निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

3. क्रोध (Anger)

किसी के प्रति अभिद्रोह करना अथवा मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा विरोध करना अथवा मन के मनोभावों एवं उमंगो (Emotions) द्वारा मन में अत्यंत भयंकर क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है। यदि क्रोध पर तत्काल समुचित नियंत्रण नहीं हो पाता है तो यह अत्यंत घातक हो सकता है तथा अनेक प्रकार की सामाजिक कठिनाईयाँ एवं व्यक्तिगत परेशानियों के माध्यम से मानस स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

4. शोक (Grief)

मानव मस्तिष्क में दीनता के भाव उत्पत्ति को शोक कहा जाता है जो व्यक्ति के मुखमण्डल द्वारा स्पष्टतः परिलक्षित होता है। शोक के अनेकों कारण हो सकते हैं। वस्तुतः इच्छित वस्तु की समयानुकूल अप्राप्ति ही शोक का मूल कारण है जो अनेक मनोविकारों को उत्पन्न करता है जैसे व्यग्रता, उदासी, रुदन, व्यक्ति का अपने सामाजिक परिवेश से कट जाना इत्यादि।

5. विलाप (Groaning)

विलाप का तात्पर्य रुदन से है। यह प्रायः शोक की व्यक्तावस्था होती है। जब व्यक्ति शोक की अवस्था को सहन करने में असमर्थ हो जाता है तो वही स्थिति अश्रु के रूप में विलाप द्वारा प्रकट होती है जिसके फलस्वरूप अनेक मनोदैहिक विकार उत्पन्न होते हैं। यह अत्यंत दीनता की स्थिति है।

6. प्रीति (Attachment)

जब मनुष्य किसी के आचरण, क्रिया कलाप एवं व्यवहार को पसंद करता

है एवं उसके प्रति मन में संतोष की भावना उत्पन्न होती है इस अवस्था विशेष को प्रीति का सूचक माना जाता है। प्रीति प्रारम्भिक अनुराग, प्रेम अथवा लगाव की सूचक होती है। प्रीति के विशिष्ट स्वरूप अथवा अवस्था को हर्ष कहते हैं। अर्थात् केवल संतोष प्रकट करना प्रीति है तथा विशिष्ट अथवा आनंददायक कार्य को हर्ष कहा जाता है।

7. भय (Fear)

किसी कार्य, व्यक्ति, परिस्थिति अथवा मानस दुर्बलता से किसी व्यक्ति को होने वाली हानि की सम्भावना से उसे व्यक्ति में भय उत्पन्न होता है। पुरुष के भय ग्रस्त होने का पता उसके विषाद युक्त मुख मण्डल से हो जाता है। भय के कारण उसके नेत्रों में कातरता उत्पन्न हो जाती है। वह अपने को सुरक्षित छिपाना चाहता है परंतु किसी का साथ भी नहीं छोड़ना चाहता है। भयग्रस्त व्यक्ति को अत्यधिक पसीना आता है, वाणी स्तम्भित हो जाती है एवं अनेक प्रकार के मानस रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

8. ईर्ष्या (Jealousy)

जब व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है तो वह ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का हो जाता है फलस्वरूप मन में धीरे-धीरे रोष एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या में व्यक्ति अंदर ही अंदर कुपित होता रहता है तथा अपने क्रोध एवं व्यग्रता को समय-समय पर व्यक्त करता है एवं अन्ततः अनेक प्रकार की मानस व्याधियों से घिर जाता है।

9. श्रद्धा (Devotion)

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को देखकर उसके प्रति हृदय में अनुराग की भावना उत्पन्न होना ही श्रद्धा है। यह अनुराग अथवा श्रद्धा किसी के भी प्रति हो सकती है। श्रद्धा के अंतर्गत किसी वस्तु विशेष की प्राप्ति की इच्छा नहीं होकर भक्ति भावना अथवा आदर एवं सम्मान देने की इच्छा होती है, यही श्रद्धा है। श्रद्धा से मानस स्वास्थ्य उन्नत होता है एवं सत्व गुण की वृद्धि होती है।

10. स्मृति (Recollection)

पूर्व काल में दृष्ट, श्रुत अथवा अनुभूत ज्ञान का स्मरण करना ही स्मृति

कहलाती है। यथार्थ ज्ञान का स्मरण करने से चिन्ता, शोक, दुःख आदि मानस भावों की उत्पत्ति नहीं होती है जैसे यह शाश्वत सत्य है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। इस यथार्थ का ज्ञान होने पर दुःख नहीं होता है।

स्मृति के कारण

आचार्य चरक ने स्मृति के 8 कारण बतायें हैं जो निम्न प्रकार हैं-

1. निमित सेः जैसे कारण को देखकर कार्य का स्मरण होना
2. रूप ग्रहण से
3. सादृश्यता से
4. विपरीत वस्तु को देखने से
5. मन को स्मरण करने योग्य विषयों में लगाने से
6. अभ्यास से
7. ज्ञान योग से
8. सुने हुऐ विषयों को पुनः सुनने से स्मृति उत्पन्न होती है।

स्मृति में विकृति होने से मानव मस्तिष्क अत्यधिक प्रभावित होता है तथा अनेकशः मानस विकृतियां उत्पन्न होती हैं।

11. धैर्य (Tolerance)

दुःखद एवं विषाद युक्त विपरीत परिस्थितियों में अपने मानसिक संतुलन को बनाये रखना ही धैर्य कहलाता है। मानस स्वास्थ्य को बनाये रखने में धैर्य की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धैर्य धारण करने से व्यक्ति क्रोध, शोक, दीनता, विषाद आदि मनोविकारों के संघर्ष में विजयी होता है एवं जीवन को विषम परिस्थितियों से से बाहर ले आने में सफल रहता है।

12. हर्ष (Joy)

मानस स्वास्थ्य को और अधिक समुन्नत करने के लिए हर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। हर्ष का ज्ञान व्यक्ति के आभामण्डल से ही हो जाता है। हर्षित व्यक्ति का मुखमण्डल प्रफुल्लित, उल्लासपूर्ण एवं सदैव प्रसन्नचित रहता है। हर्षित व्यक्ति नृत्य, गीत, संगीत, वाद्य इत्यादि क्रियाओं में संलग्न तथा अत्यंत उत्साह से अपने कार्यों में

प्रवृत्त होता है। व्यक्ति में सत्व गुण की वृद्धि हो जाती है तथा उसके मानस विकारों में कमी आती है एवं मस्तिष्क में अच्छे भावों का संचार होता है।

13. भ्रांति (Confusion)

मिथ्या ज्ञान को भ्रांति कहते हैं। विचार शून्यता अथवा भाव शून्यता के कारण रोगी के मन में कोई गलत अवधारणा स्थापित हो जाती है जिसके फलस्वरूप उसे सदैव हानि पहुंचने का भय बना रहता है। वह मित्र को भी शत्रु समझने लगता है। उसका अपने स्वजनों पर से भी विश्वास उठ जाता है। यह एक अत्यंत गम्भीर मानस विकार है जिसमें रोगी को महत्वपूर्ण चिकित्सकीय सलाह की आवश्यकता होती है। भ्रांति में रोगी के मन की मिथ्या अवधारणा को समाप्त करना सर्वाधिक महत्वूपर्ण होता है।

14. शील (Temperament)

शील का तात्पर्य स्वभाव से होता है। स्वभाव भी एक मानस भाव है तथा यह उस व्यक्ति की प्रकृति एवं आस-पास के वातावरण तथा संस्कार पर निर्भर करता है। शील की व्यक्तता अनुराग के रूप में सहज स्वरूप में होती है। शील अथवा स्वभाव के कारण ही व्यक्ति स्वप्रेरित होकर आचरण करता है। व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण ही किसी से प्रेम अथवा द्वेष करता है तथा स्वयं की नीति निर्धारण करता है।

15. शौच (Physical and Mental Purification of body)

शौच का तात्पर्य शुद्धि से होता है। यह शुद्धि शारीरिक एवं मानसिक होती है। अतः जीवन के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास करना शौच कहलाता है। शरीर, वस्त्र, आवास आदि को शुद्ध करना बाह्य शुद्धि की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार अन्न, धन, आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त कर शुद्ध भोजन आदि करना तथा सबके साथ समुचित व्यवहार करना भी बाह्य शुद्धि की श्रेणी में आता है। जप, तप, वैराग्य आदि सुंदर विचारों के द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, शोक, क्रोध आदि मानस भावों को नष्ट करना आभ्यांतर शौच कहलाता है। आयुर्वेद में बाह्य शुद्धि के लिए अंग प्रक्षालन, स्नान, दन्तधावन, कवल ग्रह, गण्डूष, आदि कर्म बताये गये हैं।

VIII. पूर्वजन्म कृत कर्म एवं मानस रोग

आयुर्वेद में कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणा को मान्यता प्राप्त है। पूर्व जन्म में

किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्म इस जन्म में अनेक रोगों का कारण बनते हैं। पूर्वजन्म कृत रोगों में मानस रोगों का अधिक महत्व है एवं इनमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का निर्देश किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी कुछ मानस रोगों को आनुवंशिक मानता है जो प्रायः असाध्य होते हैं।

IX. मानस रोगों के अन्य प्रमुख कारण

मानस रोगों के अधिकांश महत्वपूर्ण कारणों का शास्त्रीय वर्णन ऊपर किया जा चुका है। परंतु निम्नलिखित कारण भी मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

1. वातावरण का मानस स्वास्थ्य पर प्रभाव

शिशु के जन्म से लेकर उसके वयस्क होने तक उसके आस-पास के वातावरण का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वह जिस प्रकार के वातावरण, परिवेश तथा सहयोगियों के बीच रहता है, धीरे-धीरे उनके विचारों से प्रभावित होता है।

2. रुचि के अनुसार कार्य नहीं मिलना।

3. व्यक्तिगत कठिनाईयां एवं असफलताऐं।

4. अत्यधिक संवेदनशील मनः स्थिति वाला व्यक्तित्व होना।

5. कार्य का अत्यधिक दबाव एवं कार्य स्थल का मनोनुकूल नहीं होना।

6. विभिन्न प्रकार की अंतःस्त्रावी ग्रंथियों की विकृतियां।

7. सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं आर्थिक कारण।

8. व्यक्ति गत कारण जैसे उच्च शिक्षा प्राप्त के बाद भी उचित रोजगार का अभाव, श्रम की अधिकता, आघात इत्यादि कारणों से भी मानस विकार उत्पन्न होते हैं।

मानस रोगों के सामान्य लक्षण

मानस रोगों का सुव्यवस्थित लक्षण संहिता ग्रंथो में नहीं मिलता है। वस्तुतः आयुर्वेद में मानस रोगों के अंतर्गत उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वाभिनिवेश का ही विस्तृत वर्णन मिलता है एवं अन्य मानस भावों का वर्णन संहिताओं में यत्र तत्र विकीर्ण रूप में ही मिलता है। मानस रोगों में सामान्य रूप से मिलने वाले लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. भय, मानस रोगी प्रायः अत्यंत भय ग्रस्त रहता है

2. सन्त्रास अथवा घुटन

3. असहिष्णुता

4. मनःक्षोभ

5. अव्यवस्थित चित्तता-अनियन्त्रित वाणी का प्रयोग

6. अनेक प्रकार की भावभंगिमाओं का प्रदर्शन करना। जैसे अनवरत हास-परिहास, नृत्य, वादन, गायन, रुदन, चिल्लना इत्यादि अनेक प्रकार के अवांछित कार्य व्यवहार करना।

7. अनेक प्रकार के मानस भावों की उत्पत्ति जैसे शोक, क्रोध, ईर्ष्या, मान, द्वेष काम, लोभ, मोह, मद, चिन्ता, उद्वेग इत्यादि।

8. भाव विभ्रशंता जैसे मनोविभ्रंश, बुद्धि विभ्रंश, संज्ञाविभ्रंश, ज्ञान विभ्रंश, स्मृति विभ्रंश, भक्ति विभ्रंश, शील विभ्रंश, चेष्टा विभ्रंश एवं आचार विभ्रंश इत्यादि अनेक प्रकार के मनोविकार उत्पन्न होते हैं।

9. जीवन से पलायन की भावना 10. भ्रम 11. विभ्रम

12. अनेक प्रकार की मानस विकृतियों की उत्पत्ति।

मानस रोगों के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य सुश्रुत ने दोष, धातु, मल, अग्नि, आत्मा तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता को स्वास्थ्य एवं आरोग्य का मूल कहा है। आयुर्वेद में दोषों की साम्यावस्था को आरोग्य तथा दोष वैषम्यता को व्याधि माना गया है। तीन शारीरिक दोष, दो मानस दोष, सात धातुओं एवं मलों की साम्यावस्था आरोग्य अथवा सुख है एवं इनकी विषमावस्था दुःख अथवा व्याधि है। इस प्रकार चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य धातुओं में साम्यावस्था लाना है।

मानस एवं शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा को तीन वर्गों के अंतर्गत वर्णित किया गया है जो निम्न प्रकार है-

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा

2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा

3. सत्वावजय चिकित्सा

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा-दैव व्यपाश्रय चिकित्सा एक प्राचीन चिकित्सा पद्धति है। अथर्ववेद एवं कौशिक सूत्र दैव व्यपाश्रय चिकित्सा के मुख्य स्रोत है। आचार्य चरक के अनुसार पूर्वजन्म कृत कर्मों से ही भाग्य अथवा दैव का निर्माण

होता है। वर्तमान जन्म के कर्मों को 'पुरुषकर' कहते हैं। दैव एवं पुरुषकर कर्मों पर ही जीवन आधारित है। आचार्य चरक के अनुसार दैवकृत व्याधियों को पुरुषकर कर्मों से कम किया जा सकता है।

दैव व्यपाश्रय चिकित्सा की विधियां निम्न प्रकार हैं-

1. ईश्वर के मंत्र का पुनः पुनः जप करना।

2. व्याधिनाशक औषधियों एवं मणियों को धारण करना।

3. मंगल एवं कल्याणकारी पूजा पाठ करना।

4. देवताओं को उनके प्रिय पदार्थ का भोग लगाना एवं बलि चढ़ाना।

5. घृत, तैल, यव, शर्करा एवं शुष्क फलों जैसे नारियल इत्यादि की आहुति देना जिससे वातावरण शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है।

6. नियम अर्थात् पातञ्जल योग सूत्र में वर्णित शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का समुचित रूप में पालन करना

7. प्रायश्चित करना

8. उपवास

9. स्वस्त्यनन (वेदोक्त कर्म का समुचित पालन)

10. प्रणिपात (देवता, गुरु, द्विज, गौ आदि पूज्यों के सामने सष्टांग प्रणाम तथा विनम्रता का व्यवहार करना)

11. तीर्थ गमन अर्थात् विभिन्न धार्मिक स्थलों का भ्रमण करना एवं पुण्य अर्जित करना।

2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा-युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा वातादि दोषों के प्रतिहार के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसके अंतर्गत दो प्रकार की योजना के अनुसार चिकित्सा करते हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. आहार का निर्धारण।

2. औषधि की योजना तैयार कर प्रयुक्त करना।

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा मानस एवं शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के अंतर्गत तीन तरह के कर्मों का प्रयोग किया जाता है-

1. अंतःपरिमार्जन 2. बहिः परिमार्जन 3. शस्त्र प्रणिधान

1. अंतःपरिमार्जन चिकित्सा-अंतः परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत दो प्रकार से चिकित्सा की जाती है जो निम्नलिखित हैं-

(अ) संशोधन चिकित्सा (ब) संशमन चिकित्सा

(अ) संशोधन चिकित्सा-संशोधन चिकित्सा के अंतर्गत मुख्यतः पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार वमन, विरेचन, अनुवासन बस्ति, आस्थापन बस्ति, शिरोविरेचन (नस्य) का युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जाता है। वात दोष का प्रकोप होने पर सर्व प्रथम स्नेहन का प्रयोग करना चाहिऐ। इसी प्रकार स्त्रोतावरोध की स्थिति में स्नेहन के साथ मृदु संशोधन भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए। कफज एवं पित्तज दोषों की प्रबलता की स्थिति में वमन एवं विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। तदुपरान्त निरुह, अनुवासन अथवा नस्य कर्म का यथोचित प्रयोग करना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो शिरोधारा, शिरोबस्ति इत्यादि केरलीय पंचकर्म विधियों का प्रयोग भी मानस रोग चिकित्सा में सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

(ब) संशमन चिकित्सा-मानस रोगों में संशमन चिकित्सा के रूप में निम्न औषधि योगों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करना चाहिये-

1. रस/भस्म पिष्टी

मात्रा	: 250 मि.ग्रा.
अनुपान	: कोष्ण जल
(i) स्मृति सागर रस	: वचा, पारद, गंधक
(ii) रसराज रस	: पारद, रस सिन्दूर, अभ्रक, स्वर्ण
(iii) उन्माद गजकेशरी रस	: पारद, गंधक मनःशिला, धतूरा बीज
(iv) उन्माद गजांकुश रस	: पारद, धूतरा, ताम्र, गंधक
(v) उन्माद भञ्जन रस	: त्रिफला, त्रिकुट
(vi) चतुर्भुज रस	: रस सिन्दूर, स्वर्ण, मनःशिला
(vii) भूताङ्कुश रस	: पारद, लौह, रजत, ताम्र, मुक्ता

2. चूर्ण

मात्रा : 3-6 ग्राम

अनुपान : कोष्ण जल

(i) वचा चूर्ण : वचा

(ii) अश्वगंधा चूर्ण : अश्वगंधा

(iii) जटामांसी चूर्ण : जटामांसी

(iv) शंखपुष्पी चूर्ण : शंखपुष्पी

(v) ज्योतिष्मती चूर्ण : ज्योतिष्मती

3. वटी

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.

(i) आरोग्यवर्धिनी वटी : कुटकी

(ii) ब्राह्मी वटी : ब्राह्मी

4. घृत/तैल योग

मात्रा : 10-20 मि.ली.

अनुपान : उष्णोदक

(i) हिंग्वादि घृत : गोघृत, गोधूम, हिंगु, शुण्ठी

(ii) कल्याणक घृत : त्रिफला, इन्द्रवारुणी, त्रिफला

(iii) महाकल्याणक घृत : त्रिफला, इन्द्रवारुणी, गोदुन्ध

(iv) महापैशचिक घृत : जटामांसी, हरीतकी, कौंच

(v) ब्राह्मी घृत : ब्राह्मी, गोघृत

(vi) अल्प चैतस घृत : लघुपंचमूल, श्योनाक, बिल्व, गोघृत

5. अवलेह /पाक

मात्रा : 10-20 ग्राम

अनुपान : कोष्ण जल या दुग्ध

(i) च्यवनप्राश अवलेह : दशमूल, आमलकी, घृत

(ii) ब्रह्म रसायन : हरीतकी, आमलकी, दशमूल

(iii) आमलक्यादि अवलेह : आमलकी

(iv) कपिकच्छु पाक : कौंच बीज

6. एकल औषधियां

(i) ब्राह्मी (vi) शंखपुष्पी

(ii) वचा (vii) आमलकी

(iii) कुष्माण्ड (viii) एरण्ड

(iv) ज्योतिष्मती (ix) जटामांसी

(v) अश्वगंधा (x) बला इत्यादि

उपरोक्त औषधियां की युक्तियुक्त योजना से मानस रोगों में अत्यंत लाभ मिलता है। मानस रोग चिकित्सा में निरामिष, मद्य रहित आहार द्रव्य एवं मनोनुकूल, स्वच्छ, मनोरम, रमणीय स्थलों पर विहार करना चाहिये।

ii. बहिः परिमार्जन चिकित्सा

बहिः परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत अनेक प्रकार के औषधियुक्त तैल एवं अन्य औषधि योगों का वाह्य प्रयोग किया जाता है। वाह्य परिमार्जन के अंतर्गत अभ्यंग, प्रलेप उद्वर्तन, उद्घर्षण, अवगाहन, स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

अनेक प्रकार के अगद का प्रयोग भी नस्य, अञ्जन, स्नान एवं अभ्यंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के धूमवर्ती इत्यादि का प्रयोग भी किया जाता है।

मानस रोगों में बहिः परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत व्यायाम का प्रयोग भी कराया जा सकता है। मुख्यतः अवसाद पीड़ित रोगियों में व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान से आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

iii. शस्त्र प्रणिधान

अनेक मानस रोग में छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, पाटन, प्रच्छान, सीवन एवं एषण इत्यादि कर्मों का प्रयोग का शास्त्रीय निर्देश प्राप्त होता है। जैसे उन्माद रोग में सीमन्त की शिरा का वेधन, अपस्मार में हनुसंधि के मध्य का शिरा का वेधन इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है।

3. सत्वावजय चिकित्सा

सत्वावजय मुख्यतः मानस रोगों में प्रयुक्त होने वाली एक विशेष चिकित्सा

विधि है जिसमें रोगी के मन को अहितकर विषयों (शब्द, स्पर्श, रस, गंध, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध एवं मोह इत्यादि) से हटाकर हितकर कार्यों के प्रति आकृष्ट किया जाता है। वस्तुतः मानस रोगों की चिकित्सा में धी, धैर्य, स्मृति एवं समाधि इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। सत्वावजय चिकित्सा में प्रयुक्त कुछ प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं-

1. धी, धैर्य, स्मृति, ज्ञान, विज्ञान आदि द्वारा सत्वाविजय चिकित्सा।

2. मनोनिग्रह के लिऐ अष्टांग योग जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का समुचित एवं व्यवहारिक प्रयोग।

3. समुचित अष्टाहार विधि विशेषायतन एवं द्वादशासन के निर्धारित विधियों के अनुसार आहार ग्रहण करना।

4. समाज में एक समान दृष्टि रखते हुए आर्तजनों की सेवा करना, उनके प्रति करुणा की भावना रखना एवं उपेक्षित लोगों में प्रसन्नता एवं दया की भावना का प्रसार करना।

5. किसी का अपमान नहीं करते हुये सम्यक् दृष्टि से सभी के प्रति सद्व्यवहार करना।

6. किसी व्यक्ति को किसी प्रियजन अथवा प्रिय वस्तु की हानि से क्षोभ होकर व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उसे अभिलषित वस्तु अथवा आश्वासन देकर उनकी सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिए।

7. मंगल आचरण, उत्साह, क्षमा, दया, मितभाषिता, अतिथि पूजन, धर्मात्मा एवं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की भावना के द्वारा सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिऐ।

इस प्रकार उपरोक्त चिकित्सा विधियों की सहायता से समस्त मानस रोगों की युक्तियुक्त चिकित्सा की जा सकती है। **(प्रो. अजय कुमार शर्मा)**

आगम-अनुभव से जाना धर्म-अधर्म-धर्मबाह्य

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-आत्मशक्ति....)

आगम अनुभव से जाना मैंने, आत्मविशुद्धि ही है परमधर्म।
इस से ही मिलती है परममुक्ति, इस हेतु आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र।
आत्मविश्वास है स्वशुद्धात्मश्रद्धान, ''मैं हूँ शुद्ध बुद्ध आनन्द घन।''

इस हेतु ही देवशास्त्रगुरु श्रद्धान, षट् द्रव्य, सप्ततत्व, नव पदार्थ ज्ञान।।(1)
श्रद्धानुसार ज्ञान तथाहि आचरण, इस हेतु श्रावक व श्रमण धर्म।
दोनों का ही लक्ष्य मोक्ष गमन, अन्यथा नहीं है सच्चा श्रावक श्रमण।।
इस हेतु ही व्रततपयम नियम, दयादान सेवा से ले पंचकल्याण।
तीर्थयात्रा चातुर्मास से ले विधान, पूजा आरती से ले सभी धार्मिक काम।।(2)
संसार शरीर भोग आकांक्षा शून्य, ख्याति पूजालाभ व मान सम्मान।
रागद्वेष मोह ईर्ष्या तृष्णादि शून्य, होता है धर्म अन्यथा अधर्म।।
प्रत्यक्ष अनुभव व प्रायोगिक से, होता अधर्म या धर्मबाह्य भाव काम।
आत्मविशुद्धि या मोक्ष लक्ष्य बिना, पालते धर्म ढ़ोंग पाखण्ड पूर्ण।।(3)
रुढ़ि परम्परा ख्याति वर्चस्व हेतु, पालते धर्म अधिकतर कामना हेतु।
धन जन मान सम्मान भोग चाहते, चन्दा चिट्ठा बोली से धन चाहते।।
ईर्ष्यातृष्णा घृणा भेदभाव करते, अन्यपंथमत जाति से घृणा करते।
सरल सहजनम्र सहिष्णु न होते, परनिन्दा अपमान से सहित होते।।(4)
संकीर्ण कट्टर अनुदार क्रूर भी होते, विधर्मी अन्यधर्मी से द्वेष करते।
उनके अनुसार जो (भाव) काम नहीं करते, उन से नानाविध कुकर्म करते।।
इससे वे स्वयं को श्रेष्ठ धार्मिक मानते, इस से स्वर्ग मोक्ष पाना चाहते।
संकीर्णता आदि को वे बढ़ाते ही जाते, कम करने को वे अधर्म मानते।।(5)
तन मन आत्मा को स्वच्छ न रखते, तथाहि वातावरण से ले भोजनादि।
किन्तु घृणा से वे छुआछूत करते, अन्य धार्मिक से ले अन्य जाति आदि।।
ऐसे धार्मिक अधिक नास्तिक होते, भद्रनास्तिक ऐसे कुकर्म न करते।
अधिकतर वैज्ञानिक भी नास्तिक होते, समाजसुधारक भी नास्तिक होते।।(6)
तथापि वे उदार विनम्र भी होते, दयादान सेवा परोपकारी सहिष्णु होते।
अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार रहित होते, कट्टर धार्मिक तो आन्तकवादी तक होते।।
''स्वभाव मार्दवंच'' से वे स्वर्ग भी जाते, कट्टर धार्मिक तो नरक तक जाते।
धर्म-अधर्म धर्मबाह्य भी ज्ञेय, स्वात्मोपलब्धि ही 'सूरीकनक' का ध्येय।।(7)

ग.पु.कॉ. 26-4-2020 प्रातःकाल 8.56

संदर्भ-

विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्तिदेश के अन्तर्गत उज्जयिनी बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगरी है। जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय उसके राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे, सब शास्त्रों के अच्छे विद्वान् थे, विचारशील थे, और अच्छे शूरवीर थे। वे दुराचारियों को उचित दण्ड देते और प्रजाका नीति के सहित पालन करते। सुतरां प्रजा उनकी बड़ी भक्त थी।

उनकी महारानी का नाम था श्रीमती। वह भी विदुषी थी। उस समय की स्त्रियों में वह प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी। उसका हृदय बड़ा दयालु था। वह जिसे दुःखी देखती, फिर उसका दुःख दूर करने के लिए जी जानसे प्रयत्न करती। महारानी को सारी प्रजा देवी समझती थी।

श्री वर्मा के राजमंत्री चार थे। उनके नाम थे बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि। ये चारों ही धर्म के कट्टर शत्रु थे। इन पापी मंत्रियों से युक्त राजा ऐसे जान पड़ते थे मानों जहरीले सर्प से युक्त जैसे चन्दन का वृक्ष हो।

एक दिन ज्ञानी अकम्पनाचार्य देश-विदेशों में पर्यटन कर भव्य पुरुषों को धर्मरूपी अमृत से सुखी करते हुए उज्जयिनीं में आये। उनके साथ सातसौ मुनियों का बड़ा भारी संघ था। वे शहर के बाहर एक पवित्र स्थान में ठहरे। अकम्पनाचार्य को निमित्तज्ञान से उज्जयिनी की स्थिति अनिष्ट कर जान पड़ी। इसलिए उन्होंने सारे संघ से कह दिया कि देखो, राजा वगैरह कोई आवे पर आप लोग उनसे वादविवाद न कीजियेगा। नहीं तो सारा संघ बड़े कष्ट में पड़ जायेगा, उस पर घोर उपसर्ग आवेगा। गुरु की हितकर आज्ञा को स्वीकार कर सब मुनि मौन के साथ ध्यान करने लगे। सच है-

शिष्यास्तेत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
प्रतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ते कुपुत्रवत्।। ब्रह्म. नेमिदत्त

अर्थात्-शिष्य वे ही प्रशंसा के पात्र हैं, जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं। इसके विपरीत चलने वाले कुपुत्र के समान निन्दा के पात्र हैं।

अकम्पनाचार्य के आने के समाचार शहर के लोगों को मालूम हुए। वे पूजाद्रव्य लेकर बड़ी भक्ति के साथ आचार्य की वन्दना को जाने लगे। आज एकाएक अपने शहर में आनन्द की धूमधाम देखकर महलपर बैठे हुए श्रीवर्मा ने मंत्रियों से पूछा - ये सब लोग आज ऐसे सजधजकर कहाँ जा रहे हैं? उत्तर में मंत्रियों ने कहा - महाराज, सुना जाता है कि अपने शहर में नंगे जैन साधु आये हुये हैं। ये सब उनकी पूजा के लिए जा रहे हैं। राजा ने प्रसन्नता के साथ कहा- तब तो हमें भी चलकर उनके दर्शन करना चाहिए। वे महापुरुष होंगे! यह विचार कर राजा भी मंत्रियों के साथ आचार्य के दर्शन करने को गए। उन्हें आत्मध्यान में लीन देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने क्रम से एक-एक मुनि को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञानुसार मौन रहे। किसी ने भी उन्हें धर्मवृद्धि नहीं दी। राजा उनकी वन्दना कर वापिस महल लौट चले। लौटते समय मंत्रियों ने उनसे कहा- महाराज, देखा साधुओं को? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौनी बैठे हुए हैं। उन्हें देखकर सर्व साधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं, बड़े तपस्वी हैं। पर यह इनका ढोंग है। अपनी पोल न खुल जाय, इसलिए उन्होंने लोगों को धोखा देने को यह कपटजाल रचा है। महाराज, ये दाम्भिक हैं। इस प्रकार त्रैलोक्यपूज्य और परमशान्त मुनिराजों की निन्दा करते हुए ये मलिनहृदय मंत्री राजा के साथ लौट के आ रहे थे कि रास्ते में इन्हें एक मुनि मिल गए, जो कि शहर से आहार करके वन की ओर आ रहे थे। मुनि को देखकर इन पापियों ने उनकी हँसी की, महाराज, देखिए वह एक बैल और पेट भरकर चला आ रहा है। मुनि ने मंत्रियों के निन्दावचनों को सुन लिया। सुनकर भी उनका कर्त्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सके। कारण वे आहार के लिए शहर में चले गये थे, इसलिए उन्हें अपने आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम न थी। मुनि ने यह समझ कर, कि इन्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, उसे मैं चूर्ण करूँगा, कहा- तुम व्यर्थ क्यों किसी की बुराई करते हो? यदि तुममें कुछ विद्या हो, आत्मबल हो, तो मुझसे शास्त्रार्थ करो! फिर तुम्हें जान पड़ेगा कि बैल कौन है? भला वे भी तो राजमंत्री थे, उस पर भी दुष्टता उनके हृदय में कूट-कूटकर भरी हुई थी; फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधु के वचनों को सह सकते थे? अभिमान में आकर उन्होंने कह तो

दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चों का सा खेल नहीं है। एक ही मुनि ने अपने स्याद्वाद्व के बल से बात की बात में चारों मंत्रियों को पराजित कर दिया। सच हैं- एक ही सूर्य सारे संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए समर्थ है।

विजय लाभकर श्रुतसागरमुनि अपने आचार्य के पास आये। उन्होंने रास्ते की सब घटना आचार्य से ज्यों की त्यों कह सुनाई। सुनकर आचार्य खेद के साथ बोले- हाय! तुमने बहुत ही बुरा किया, जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथों से सारे संघ का घात किया, संघ की अब कुशल नहीं है। अस्तु, जो हुआ अब यदि तुम सारे संघ की जीवन रक्षा चाहते हो, तो पीछे जाओ और जहाँ मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ है, वहीं जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करो। आचार्य की आज्ञा को सुनकर श्रुतसागर मुनिराज जरा भी विचलित नहीं हुए। वे संघ की रक्षा के लिए उसी समय वहाँ से चल दिये और शास्त्रार्थ की जगह पर आकर मेरु की तरह निश्चल हो बड़े धैर्य के साथ कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे।

शास्त्रार्थ मुनि से पराजित होकर मंत्री बड़े लज्जित हुए। अपने मानभंग का बदला चुकाने का विचार कर मुनिवध के लिये रात्रि समय वे चारो शहर से बाहर हुए। रास्ते में श्रुतसागर मुनि ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होंने अपने मानभंग करने वाले ही को परलोक पहुँचा देना चाहा। उन्होंने मुनि की गर्दन काटने को अपनी तलवार को म्यान से खींचा और एक ही साथ उनका काम तमाम करने के विचार से उन पर वार करना चाहा कि, इतने में मुनि के पुण्य प्रभाव से पुरदेवी ने आकर उन्हें तलवार उठाये हुए ही कील दिये।

प्रातःकाल होते ही बिजली की तरह सारे शहर में मंत्रियों की दुष्टता का हाल फैल गया। सब शहर उनके देखने को आया। राजा भी आये। सबने एक स्वर से उन्हें धिक्कारा। है भी तो ठीक, जो पापी लोग निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं वे इस लोक में भी घोर दुःख उठाते हैं, और परलोक में नरकों के असह्य दुःख सहते हैं। राजा ने उन्हें बहुत धिक्कार कर कहा - पापियों, जब तुमने मेरे सामने इन निर्दोष और संसारमात्र का उपकार करने वाले मुनियों की निन्दा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वासपर निर्भर रहकर यह समझा था कि संभव है मुनि लोग ऐसे ही हों, पर आज

मुझे तुम्हारी नीचता का ज्ञान हुआ, तुम्हारे पापी हृदय का पता लगा। तुम इन्ही निर्दोष साधुओं की हत्या करने को आये थे? पापियों, तुम्हारा मुख देखना भी महापाप है। तुम्हें तुम्हारे इस घोर कर्म का उपयुक्त दण्ड तो यही देना चाहिये था, कि जैसा तुम करना चाहते थे, वही तुम्हारे लिये किया जाता। पर पापियों, तुम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियाँ मेरे यहाँ मंत्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं, इसलिये उसके लिहाज से तुम्हें अभय देकर अपने नौकरों को आज्ञा करता हूँ कि वे तुम्हें गधों पर बैठाकर मेरे देश की सीमाओं से बाहर कर दें। राजा की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। चारो मंत्री देश से निकाल दिये गये। सच है- पापियों की ऐसी दशा होना उचित ही है।

धर्म के ऐसे प्रभाव को देखकर लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा। वे अपने हृदय में बढ़ते हुए हर्ष के वेग को रोकने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने जयध्वनि के मारे आकाशपाताल को एक कर दिया। मुनिसंघ का उपद्रव टला। सबके चित्त स्थिर हुए। अकम्पनाचार्य भी उज्जयिनी से विहार कर गये।

हस्तिनापुर नामका एक शहर है। उसके राजा हैं महापद्म। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नामके दो पुत्र हुए।

एक दिन राजा संसार की दशा पर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। उन्हें संसार दुःखमय दिखने लगा। वे उसी समय अपने बड़े पुत्र पद्म को राज्य देकर अपने छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ वन में चले गये और श्रुतसागर मुनि के पास पहुँचकर दोनों पिता-पुत्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली। विष्णुकुमार बालपन से ही संसार से विरक्त थे, इसलिये पिता के रोकने पर भी वे दीक्षित हो गये। विष्णुकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों बाद तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई।

पिता के दीक्षित हो जाने पर हस्तिनापुर का राज्य पद्मराज करने लगे। उन्हें सब कुछ होने पर भी एक बात का बड़ा दुःख था। वह यह कि, कुंभपुर का राजा सिंहबल उन्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया करता था। उनके देश में अनेक उपद्रव किया करता था। उसके अधिकार में एक बड़ा भारी सुदृढ़ किला था। इसलिये वह पद्मराज की प्रजा पर एकाएक धावा मारकर अपने किले में जाकर छुप जाता है। तब पद्मराज

उसका कुछ अनिष्ट नहीं कर पाते थे। इस कष्ट की उन्हें सदा चिन्ता रहा करती थी।

इसी समय श्रीवर्मा के चारों मंत्री उज्जयिनी से निकलकर कुछ दिनों बाद हस्तिनापुर की ओर आ निकले। उन्हें किसी तरह राजा के इस दुःख सूत्र का मालूम हो गया। वे राजा से मिले और उन्हें चिन्ता से निर्मुक्त करने का वचन देकर कुछ सेना के साथ सिंहबलपर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानी से किले को तोड़कर सिंहबल को उन्होंने बाँध लिया और लाकर पद्मराज के सामने उपस्थित कर दिया। पद्मराज उनकी वीरता और बुद्धिमानी से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें अपना मंत्री बनाकर कहा- कि तुमने मेरा उपकार किया है। तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो वह मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ। उत्तर में बलि नाम के मंत्री ने कहा- प्रभों, आपकी हम पर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका। इस पर भी आपका आग्रह है, तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे ही।

इसी समय श्री अकम्पनाचार्य अनके देशों में विहार करते हुए और धर्मोपदेश द्वारा संसार के जीवों का हित करते हुए हस्तिनापुर के बगीचे में आकर ठहरे। सब लोग उत्सव के साथ उनकी वन्दना करने को गये। अकम्पनाचार्य के आने का समाचार राजमंत्रियों को मालूम हुआ। मालूम होते ही उन्हें अपने अपमान की बात याद हो आई। उनका हृदय प्रतिहिंसा से उद्विग्न हो उठा। उन्होंने परस्पर में विचार किया कि समय बहुत उपयुक्त है, इसलिये बदला लेना ही चाहिये। देखो न, इन्हीं दुष्टों के द्वारा अपने को कितना दुःख उठाना पड़ा था? सबके हम धिक्कार पात्र बने और अपमान के साथ देश से निकाले गये। पर हाँ अपने मार्ग में एक काँटा है। राजा इनका बड़ा भक्त है। वह अपने रहते हुए इनका अनिष्ट कैसे होने देगा? इसके लिए कुछ उपाय सोच निकालना आवश्यक हैं। नहीं तो ऐसा न हो कि ऐसा अच्छा समय हाथ से निकल जाय? इतने में बलि मंत्री बोल उठा कि, हाँ इसकी आप चिन्ता न करें। अब सिंहबल के पकड़ लाने का पुरस्कार राजा से पाना बाकी है, उसकी एवज में उससे सात दिन का राज्य ले लेना चाहिये।

फिर जैसा हम करेंगे वही होगा। राजा को उसमें दखल देने का कुछ अधिकार न रहेगा। यह प्रयत्न सबको सर्वोत्तम जान पड़ा। बलि उसी समय राजा के पास पहुँचा

और बड़ी विनीतता से बोला-महाराज, आप से हमारा एक पुरस्कार पाना बाकी है। आप कृपाकर अब उसे दीजिये। इस समय उससे हमारा बड़ा उपकार होगा। राजा उसका कूट कपट न समझ और यह विचार कर, कि इन लोगों ने मेरा बड़ा उपकार किया था, अब उसका बदला चुकाना मेरा कर्त्तव्य है, बोला- बहुत अच्छा, जो तुम्हे चाहिए वह माँग लो, मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके तुम्हारे ऋण से उऋण होने का यत्न करुँगा।

बलि बोला- महाराज, यदि आप वास्तव में ही हमारा हित चाहते हैं, तो कृपा करके सात दिन के लिए अपना राज्य हमें प्रदान कीजिये।

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थ की आशंका हुई। पर अब वश ही क्या था? उसे वचनबद्ध होकर राज्य दे देना पड़ा। उन्होंने मुनियों को मारने के लिए यज्ञ का बहाना बनाकर षड्यंत्र रचा, जिससे कि सर्वसाधारण न समझ सकें।

मुनियों को बीच में रखकर यज्ञ के लिए एक बड़ा भारी मंडप तैयार किया गया। उनके चारों ओर काष्ठ ही काष्ठ रखवा दिया गया। हजारों पशु इकट्ठे किये गये। यज्ञ आरम्भ हुआ। वेदों के जानकार बड़े-बड़े विद्वान् यज्ञ कराने लगे। वेदध्वनि से यज्ञमण्डप गूँजने लगा। बेचारे निरपराध पशु बड़ी निर्दयता से मारे जाने लगे। उनकी आहुतियाँ दी जाने लगी। देखते-देखते दुर्गन्धित धुएँ से आकाश परिपूर्ण हुआ। मानों इस महापाप को न देख सकने के कारण सूर्यअस्त हुआ। मनुष्यों के हाथ से राज्य राक्षसों के हाथों में गया।

सारे मुनिसंघपर भंयकर उपसर्ग हुआ। परन्तु उन शान्ति की मूत्तिर्यों ने इसे अपने किये कर्मो का फल समझकर बड़ी धीरता के साथ सहना आरम्भ किया। वे मेरु समान निश्चल रहकर एक चित्त से परमात्मा का ध्यान करने लगे। सच है- जिन्होंने अपने हृदय को खूब उन्नत और दृढ़ बना लिया है, जिनके हृदय में निरन्तर यह भावना बनी रहती है-

अरि मित्र, महल मसान, कंचन काँच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन।।

वे क्या कभी ऐसे उपसर्गों से विचलित होते हैं? पाण्डवों को शत्रुओं ने लोहे

के गरम-गरम भूषण पहना दिये। अग्नि की भयानक ज्वाला उनके शरीर को भस्म करने लगी। पर वे विचलित नहीं हुए। धैर्य के साथ उन्होंने सब उपसर्ग सहा। जैन साधुओं का यही मार्ग है कि वे आये हुए कष्टों को शान्ति से सहें और वे ही यथार्थ साधु हैं। जिनका हृदय दुर्बल है, जो रागद्वेषरूपी शत्रुओं की जीतने के लिए ऐसे कष्ट नहीं सह सकते, दुःखों के प्राप्त होने पर समभाव नहीं रख सकते, वे न तो अपने आत्महित के मार्ग में आगे बढ़ पाते हैं और न वे साधुपद स्वीकार करने योग्य हो सकते हैं।

मिथिला में श्रुतसागर मुनि को निमित्तज्ञान से इस उपसर्ग का हाल मालूम हुआ। उनके मुँह से बड़े कष्ट के साथ वचन निकले - हाय! हाय!! इस समय मुनियों पर बड़ा उपसर्ग हो रहा है। वहीं एक पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक भी उपस्थित थे। उन्होंने मुनिराज से पूछा - प्रभो, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है? उत्तर में श्रुतसागर मुनि बोले- हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उसके संरक्षक अकम्पनाचार्य है। उस सारे संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।

क्षुल्लक ने फिर पूछा- प्रभो, कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे यह उपसर्ग दूर हो?

मुनि ने कहा- हाँ उसका एक उपाय है। श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई। वे अपनी ऋद्धि के बल से उपसर्ग को रोक सकते हैं।

पुष्पदन्त फिर एक क्षणभर भी वहाँ न ठहरे और जहाँ विष्णुकुमार मुनि तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर उन्होंने सब हाल विष्णुकुमार मुनि से कह सुनाया। विष्णुकुमार को ऋद्धि प्राप्त होने की खबर नहीं हुई थी। पर जब पुष्पदन्त के द्वारा उन्हें मालूम हुआ, तब उन्होंने परीक्षा के लिये एक हाथ पसारकर देखा। पसारते ही उनका हाथ बहुत दूर तक चला गया। उन्हें विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाई से बोले- भाई, आप किस नींद में सोये हुए हो? जानते हो, शहर में कितना बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है? अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले किसी ने भी अपने कुल में ऐसा घोर अनर्थ आज तक किया है? हाय! धर्म के अवतार, परम शान्त और किसी से कुछ लेते देते नहीं, उन मुनियों पर यह अत्याचार? और वह भी तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में? खेद! भाई, राजाओं का धर्म तो यह कहा गया है कि वे सज्जनों की, धर्मात्माओं की

रक्षा करें और दुष्टों को दण्ड दें। पर आप तो बिलकुल इससे उल्टा कर रहे हैं। समझते हो, साधुओं का सताना ठीक नहीं। ठण्डा जल भी गरम होकर शरीर को जला डालता है। इसलिये जब तक आपत्ति तुम पर न आवे, उसके पहले ही उपसर्ग शान्ति करवा दीजिये।

अपने भाई का उपदेश सुनकर पद्मराज बोले- मुनिराज, मैं क्या करूँ? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे? अब तो मैं बिलकुल विवश हूँ। मैं कुछ नहीं कर सकता। सात दिन तक जैसा कुछ ये करेंगे वह सब मुझे सहना होगा। क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ। अब तो आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिये। आप इसके लिये समर्थ भी हैं और सब जानते हैं। उसमें मेरा दखल देना तो ऐसा है जैसा सूर्य को दीपक दिखलाना। आप अब जाइये और शीघ्रता कीजिये। विलम्ब करना उचित नहीं।

विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन ब्राह्मण का वेष बनाया और बड़ी मधुरता से वेदध्वनि का उच्चारण करते हुए वे यज्ञ मंडप में पहुँचे। उनका सुन्दर स्वरूप और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए। बलि तो उन पर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा। उसने बड़ी प्रसन्नता से उनसे कहा- महाराज, आपने पधारकर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी। मैं बहुत खुश हुआ। आपको जो इच्छा हो, माँगिये। इस समय मैं सब कुछ देने को समर्थ हूँ।

विष्णुकुमार बोले- मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी जैसी कुछ स्थिति है, उसमें सन्तोष है। मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं। पर आपका जब इतना आग्रह है, तो आपको असन्तुष्ट करना भी मैं नही चाहता। मुझे केवल तीन पैर पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप कृपा कर उतनी भूमि मुझे प्रदान कर देंगे तो मैं उसमें टूटी-फूटी झोंपड़ी बनाकर रह सकूँगा। स्थान की निराकुलता से मैं अपना समय वेदाध्ययनादि में बड़ी अच्छी तरह बिता सकूँगा। बस, इसके सिवा मुझे और कुछ इच्छा नहीं है।

विष्णुकुमार की यह तुच्छ याचना सुनकर और-और ब्राह्मणों को उनकी बुद्धि पर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने कहा भी कृपानाथ, आपको थोड़े में ही सन्तोष था, तब भी आपका यह कर्त्तव्य तो था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जाति भाईयों का ही

उपकार करते? उसमें आपका बिगड़ क्या जाता था?

बलि ने भी उन्हें समझाया और कहा कि आपने तो कुछ भी नहीं माँगा। मैं तो यह समझा था कि आप अपनी इच्छा से माँगते हैं, इसलिए जो कुछ माँगेगें वह अच्छा ही माँगेंगें; परन्तु आपने तो मुझे बहुत ही हताश किया। यदि आप मेरे वैभव और मेरी शक्ति के अनुसार माँगते तो मुझे बहुत सन्तोष होता। महाराज, अब भी आप चाहें तो और भी अपनी इच्छानुसार माँग सकते हैं। मैं देने को प्रस्तुत हूँ।

विष्णुकुमार बोले- नहीं, मैंने जो कुछ माँगा है, मेरे लिए वही बहुत है। अधिक चाह नहीं। आपको देना ही है तो बहुत से ब्राह्मण मौजूद हैं; उन्हें दीजिए। बलि ने कहा कि जैसी आपकी इच्छा। आप अपने पाँवों से भूमि माप लीजिए। यह कहकर उसने हाथ में जल लिया और संकल्प कर उसे विष्णुकुमार के हाथ में छोड़ दिया। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरू की। पहला पाँव उन्होंने सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, अब तीसरा पाँव रखने को जगह नहीं। उसे वे कहाँ रक्खें? उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठी, सब पर्वत काँप गए और देवगण आश्चर्य के मारे भौंचके से रह गए। वे सब विष्णुकुमार के पास आये और बलि को बाँधकर बोले- प्रभो, क्षमा कीजिये!! यह सब दुष्कर्म पर बहुत पश्चात्ताप किया।

विष्णुकुमार मुनि ने संघ उपद्रव दूर किया। सबको शान्ति हुई। राजा और चारों मंत्री तथा प्रजा के सब लोग बड़ी भक्ति के साथ अम्पनाचार्य की वन्दना करने को गये। उनके पाँवों में पड़कर राजा और मंत्रियों ने अपना अपराध उनसे क्षमा कराया और उसी दिन से मिथ्यात्वमत छोड़कर सब अहिंसामयी पवित्र जिनशासन के उपासक बने।

देवों ने प्रसन्न होकर विष्णुकुमार की पूजन के लिये तीन बहुत ही सुन्दर स्वर्गीय वीणायें प्रदान कीं, जिनके द्वारा उनका गुणानुवाद गा-गाकर लोग बहुत पुण्य उत्पन्न करेंगे। जैसा विष्णुकुमार ने वात्सल्य अंग का पालन कर अपने धर्म बन्धुओं के साथ प्रेम का अपूर्व परिचय दिया, उसी प्रकार और भव्य पुरुषों को भी अपने और दूसरों के हित के लिये समय समय पर दूसरों के दुःखों में शामिल होकर वात्सल्य, उदारप्रेम का परिचय देना उचित है।

इस प्रकार जिनभगवान् के परमभक्त विष्णुकुमार मुनि ने धर्म प्रेम के वश हो मुनियों का उपसर्ग दूरकर वात्सल्य अंग का पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्ष गये। वे ही विष्णुकुमार मुनिराज मुझे भवसमुद्र से पार कर मोक्ष प्रदान करें।

अफवाह है लोकमूढ़ता/अन्धानुकरण

''लोकानुगतिक लोक : न लोक : पारमार्थीकः''

(अफवाह से अनेक अनर्थ अतः इस से अप्रभावी होते हैं विवेकी)

(चालः- 1. आत्मशक्ति.... 2. क्या मिलिए ...)

अफवाह है मिथ्याप्रचार जो सत्य-तथ्य से रहित है।
लोकमूढ़ता से सहित जीव उस का प्रसार-प्रचार करते हैं।।
लोकमूढ़ता से सहित जीव होते गृहीत मिथ्यात्वी।
अगृहीत मिथ्यात्व के कारण होते हैं दृढ़तम अंधविश्वासी।।(1)।।
मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे कह सकते हैं क्राउडसाईकोलॉजी।
भेड़चाल या अन्धानुकरण देखा-सुना करने की दुष्प्रवृत्ति।।
इन में न होता हिताहित विवेक, संयम, सदाचार की प्रवृत्ति।
क्रूर भेड़िया के सम झुण्ड बनाकर करते भी हैं क्रूरतम प्रवृत्ति।।(2)
ऐसे लोग स्वस्वार्थ के कारण करते हैं अन्याय अत्याचार।
संख्याबल से मदमस्त होकर स्वकुकृत्यों को भी मानते श्रेष्ठाचार।।
ऐसी प्रवृत्ति होती राजनीति से ले संकीर्ण मिथ्या धर्म में।
'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होता है देश व विदेशों में।।(3)।।
इस के कारण भी सीता का अपवाद किया था रजक (धोबी) ने।
फैशन, आडम्बर, दिखावा आदि भी होते हैं ऐसे कारणों से।।
अफवाह है दावाग्नि सम फैलता है दिग्-दिगन्तरों में।
नीति-नियम, सदाचार, मर्यादा आदि को नाश करने में।।(4)।।
भूकम्प, बवण्डर, सुनामी, महामारी समान अफवाह होता है।
हिलाना, डुलाना, कम्पाना, विध्वंस विप्लव करना काम है।।

अफवाह से अप्रभावी होते हैं जो होते सज्जन सत्यग्राही।
हिताहित विवेकी, परीक्षा प्रधानी, धैर्यशील व सम्यग्दृष्टि।।(5)।।
अफवाह से जो प्रभावित होते, उन में न होते उपरोक्त गुण।
वे होते मंथरा व शकुनि सम, गोमुख व्याघ्र सम करते काम।।
ऐसे लोक हैं दुष्ट, दुर्जन, असभ्य, बर्बर अनुदार, अदुरदृष्टि।
इस से बचना सर्वत्र श्रेय आगम अनुभव से जाना 'कनकनन्दी'।।(6)।।
''लोकानुगतिक लोक : न लोक : पारमार्थीकः'' है प्रसिद्ध सुक्त।
रुढ़ि परम्परा, लोकमान्यता, संकीर्ण-पंथमत इस से जात।।
कोरोना वायरस के समान फैलता है भीड़तंत्र में।
सत्य, तथ्य व आत्मतत्व का ज्ञान न होता है भीड़तंत्र में।।(7)।।
सत्य-तथ्य व आत्मतत्व हेतु चर्की भी बनते श्रमण।
राज्य वैभव त्यागकर एकान्त मौन में करते ध्यान-अध्ययन।।
वैज्ञानिक दार्शनिक से ले आध्यात्मिक शोध व बोध।
भीड़तंत्र व अफवाह परे सत्य-तथ्य पर होता आधारित।।(8)।।
मैं न मानता हूँ अफवाह को न मान्यता देता हूँ भीड़तंत्र को।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र युक्त 'कनक' माने सत्य-साम्य को।।

ग.पु. कॉ. 21-4-2020 रात्रि 12:59 व प्रातः 7:45

पालघर लिंचिंग : सीआईडी के स्पेशल आईजी ने जांच शुरू की, गृह मंत्रालय ने रिपोर्ट मांगी

मुंबई/नई दिल्ली/लखनऊ। पालघर के गडचिंचली इलाके में दो साधुओं सहित तीन लोगों की पीट-पीटकर हत्या की घटना की जांच महाराष्ट्र सरकार ने सीआईडी के स्पेशल आईजी को सौंप दी है। सोमवार को केंद्रीय गृह मंत्रालय ने महाराष्ट्र सरकार से विस्तार से रिपोर्ट देने को कहा है। अब तक 5 प्रमुख हमलावरों सहित 101 अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया है। इनमें 9 नाबालिग भी हैं। मुख्यमंत्री उद्धव ठाकरे ने कहा, सोमवार सुबह केंद्रीय गृहमंत्री अमित शाह से फोन पर बात कर पूरी जानकारी दी। उत्तरप्रदेश के सीएम योगी आदित्यनाथ से भी बात हुई

है। यह घटना सांप्रदायिक व धार्मिक नहीं है। इसे जाति रंग देना भी गलत है। थाने के असिस्टेंट इंस्पेक्टर आनंदराव काले और सब इंस्पेक्टर सुधीर कटारे को निलंबित किया गया है। सभी अभियुक्तों को 30 अप्रैल तक पुलिस हिरासत में रखने का आदेश दिया है। 9 नाबालिगों को बाल सुधारगृह भेज दिया गया है।

मुख्यमंत्री उद्धव ठाकरे ने बताई घटना वाली रात की दास्तां

मुख्यमंत्री उद्धव ठाकरे ने बताया कि यह सही है कि साधुओं के साथ घटना महाराष्ट्र के पालघर जिले में हुई। परंतु गडचिंचली इलाका जिला मुख्यालय से करीब 110 किमी दूर केंद्र शासित राज्य दादरा-नगर हवेली से चंद मीटर दूर है। दोनों साधु लॉकडाउन की वजह से दुर्गम रास्ते से गुजरात जा रहे थे। दादरा-नगर हवेली के बॉर्डर पर साधुओं को रोका गया और लौटा दिया गया। वापसी में गडचिंचली के अत्यंत दुर्गम इलाके से वे गुजर रहे थे। वहां गलतफहमी में इन पर हमला हुआ और भीड़ ने हत्या कर दी। यदि उस रात दादरा-नगर हवेली के बॉर्डर पर उन्हें रोक लिया गया होता और सुबह महाराष्ट्र पुलिस को सौंपा होता, तो यह घटना नहीं घटती।

घटनास्थल भाजपा का गढ़ : सावंत

पालघर की घटना की आड़ में महाराष्ट्र की महाविकास आघाड़ी सरकार को यूपी के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ द्वारा घेरने के बाद कांग्रेस प्रवक्ता सचिन सावंत ने कड़ा प्रहार किया है। उन्होंने कहा, जिस गांव में साधुओं की हत्या हुई, वह भाजपा का गढ़ है। गडचिंचली ग्राम पंचायत पर 10 वर्षों से भाजपा का कब्जा है। वहां की सरपंच भाजपा की चित्रा चौधरी हैं। इतना ही नहीं, गिरफ्तार ज्यादातर लोग भाजपा से ही जुड़े हैं।

गांव में फैली हुई थी 3 अफवाह

गडचिंचली गांव में कुछ दिनों से तीन अफवाह फैली हुई थी। पहली, रात में चोरों के गिरोह की सक्रियता ; दूसरी, एक धर्म विशेष के लोगों द्वारा बच्चों का अपहरण कर किडनी निकालने की ; तीसरी, एक धर्म विशेष के लोग कुएं में थूककर कोरोना फैलाना चाहते हैं।

यूपी आ जाएं साधु-संत

साधु-संतों से अपील है कि यदि वे खुद को महाराष्ट्र में सुरक्षित महसूस नहीं

करते तो यूपी आ जाएं। सभी 13 अखाड़ों के साधु-संतों से अनुरोध है कि लॉकडाउन के दौरान कोई संत-महात्मा ब्रह्मलीन होता है, तो उनकी समाधि में न जाएं। लॉकडाउन के खत्म होने के बाद सभी अखाड़ों के सदस्यों को लेकर महाराष्ट्र सरकार का घेराव करेंगे। **-महंत नरेन्द्र गिरी, अध्यक्ष, अखाड़ा परिषद**

भोगोपभोगासक्तों की दुर्दशा (मधु बिन्दु)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. क्या मिलिए....)

एक था पथिक हो पथभ्रष्ट पहुँच गया घोर जंगल में।
वहाँ एक हाथी हो मदमस्त मारने हेतु दौड़ा अति क्रूद्ध में।।
आत्मरक्षा हेतु पथिक दौड़ा जिससे गिरा वह एक कुआँ में।
लटके हुए वटवृक्ष के मूल को पकड लिया व अतिशीघ्र में।।(1)।।
उस कुऐं में एक अजगर के साथ-साथ थे चार विषधर सर्प।
जिस मूल/(जटा)(प्ररोह) को वह पकडा हुआ था
उस को काट रहे थे श्वेत-श्याम इन्दुर।।
हाथी आकर हिलाया वृक्ष को पटककर मारने हेतु पथिक को।
उस वृक्ष की मधुमक्खी छत्ते से मधुमक्खी उड़ी उसे डसने को।।(2)।।
मधुमक्खी छत्ते से मधु बिन्दु गिर कर जा गिरी पथिक के मुख में।
जिसका स्वाद वह चखकर भूल गया सभी विपत्तियों को।।
मधुमक्खियाँ उसे डस रही पीडा हो रही उसे मरणान्तक भी।
हाथी हिला रहा है वृक्ष से गिरने पर उसे डसेंगें सर्प भी।।(3)।।
महाकष्ट से चिल्ला रहा था मुझे कोई उबारों इस विपत्ति से।
उस समय में एक विधाधर आकाश में जा रहा था विमान में।।
करुण ध्वनि सुनकर विधाधर उसे पार करना चाहा उस विपत्ति से।
तथापि वह मोही कह रहा था बार-बार आ रहा हूँ और एक बिन्दु चखकर।। (4)
बारबार पुकारने पर भी विधाधर द्वारा वह न मोह त्याग मधु बिन्दु को।
जिससे विधाधर वहाँ से चला गया जानकर उसकी मोहासक्ति को।।

हाथी जोर से वृक्ष को हिलाने पर वह गिर गया उस कुएँ में।
पाँचों सर्प उसे डंसे जिससे वह मरा मधु बिन्दु आसक्ति में।।(5)
यह है रुपक अलंकार मय कथा वास्तविक दशा मोही जीवों की।
पथिक है मोही जीव, जंगल है संसार क्रुद्धहाथी है मरण के।।
दोनो चुहे है दिन-रात, मूल है आयुकर्म, कुआँ है संसार भ्रमण के।
अजगर है निगोद, चार सर्प है चारों गति, मधुमक्खी है कुटुम्ब जन।।(6)।।
मधु बिन्दु है सांसारिक सुख विधाधर है परोपकारी श्रमण/सन्त।
हितोपदेश बार-बार देने पर भी मोही न त्यागता भोगोपभोग।।
जिससे वह पाप बान्धकर संसार चक्र में भोगता है अनन्त दुःख।
भव्यों को संबोधन करने हेतु प्रथमानुयोग में वर्णन ऐसे प्रकरण।।(7)
''प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपिपुण्यं'' कथितमशास्त्रम्''
पाप-पापी व उस के कुफल जानकर भोगोपभोग त्यागकर बनो श्रमण।
वास्तविक कथा या काल्पनिक कथा द्वारा प्राप्त करने योग्य ज्ञान वैराग्य।
जिससे संसार के दुःख दूर होवे ऐसे ही भावना भायें सूरी ''कनक''।।(8)

ग.पु.कॉ. 1-5-2020 अपराह्न 5:42

संदर्भ-

परमसार्वभौम स्वतंत्रता के कारण

यद्यदाचिरीतं पूर्वतत्तदज्ञान चेष्टितम्।
उत्तरोत्तर विज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते।। (251) आत्मानुशासन

पूर्व में जो आचरण किया है, प्रकट किया है- वह सब योगी के लिए आगे-आगे विवेक ज्ञान की वृद्धि होने से अज्ञानता पूर्ण किया गया प्रतीत होता है।

अभिप्राय यह है कि जब तक विवेक बुद्धि का उदय नहीं होता है तब तक ही व्यक्ति हीन आचरण करता है। किन्तु आगे ज्यों-ज्यों उसका विवेक बढ़ता है त्यों त्यों उसे वह अपना पूर्व आचरण अज्ञानतावश किया गया स्पष्ट प्रतीत होने लगता है इसीलिए तब वह अपने आत्मगुणों के विकास का ही अधिकाधिक प्रयत्न करता है।

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तत्तेषामेर्ध्व विशुद्धयति।। (255)

हृदय में स्थित जो महान् मोह अनादि काय से समान वृद्धि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है उसको जिन महापुरुषों ने समीचीनी समाधि के द्वारा वान्त कर दिया है- नष्ट कर दिया है- उनका आने का भाव विशुद्ध होता है। किसी व्यक्ति के उदर में यदि बहुत काल से संचित होकर मल की वृद्धि हो जाती है तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जाता है ऐसी अवस्था में यदि वह बुद्धिमान है तो योग्य औषधि के द्वारा वमन-विरेचन आदि करके उस संचित मल को नष्ट कर देता है। इससे वह स्वस्थ हो जाता है और उसका आगे का समय भी स्वस्थता के साथ आनन्द पूर्वक बीतता है। ठीक इसी प्रकार से सब संसारी जीवों के अनादि काल से महामोह की वृद्धि हो रही है। इससे वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। उनमें जो विवेकी हैं वे बाह्य वस्तुओं से राग और द्वेष को छोड़कर तप का आचरण करते हुए इस मोह को कम करते हैं। इस प्रकार अन्त में समीचीन ध्यान (धर्म व शुक्ल) के द्वारा उस महामोह को सर्वथा नष्ट करके वे भविष्य में अविनश्वर अनुपम सुख का अनुभव करते हैं।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं।
तदैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छितये।
सर्वारम्भपरिग्रह परित्यागी स वन्द्यः सताम्।।(262)

प्राणी ने पूर्व भव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणा से प्राप्त हुए दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है- पाप कार्यों को छोड़कर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है- वह भी अभिष्ट है- प्रशंसा के योग्य है। किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य-पाप) को ही नष्ट करने के लिए समस्त आरम्भ व परिग्रह रूपी पिशाच को छोड़कर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वन्दनीय है।

सुखु दुःख वा स्यादिह विहित कर्मोदयवशात्।
कुतः प्रीति स्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं।
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव।।(263)

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुःख होता है उससे

प्रीति क्यों और खेद भी क्यो, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है- राग और द्वेष से रहित होता है- तो उसका पुराना कर्म तो निर्जीण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के समान प्रकाश मान होता है- स्व और पर को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान से सुशोभित होता है।

पूर्व में जिस शुभ अथवा अशुभ कर्म का बन्ध किया है उसका उदय आने पर सुख अथवा दुःख प्राणी को प्राप्त होता ही है। किन्तु जो अज्ञानी जीव है वह चूंकि पुण्य के फल स्वरूप सुख में तो अनुराग करता है और पाप के फलभूत दुःख में द्वेष करता है, इसीलिये उसके पुनः नवीन कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु जो जीव विवेकी है वह यह विचार करता है कि पूर्वकृत पुण्य के उदय से यह जो सुख प्राप्त हुआ है वह अस्थायी है- सदा रहने वाला नहीं है। इसलिये उसमें अनुराग करना उचित नहीं है। इसी प्रकार दुःख पाप कर्म के उदय से होता है यदि पूर्व में पाप कर्म का संचय किया है तो उसके फल को भोगना ही पडेगा। फिर भला उसमें खेद क्यो? इस प्रकार के विचार से विवेकी जीव सुख और दुःख में चूंकि हर्ष और विषाद से रहित होता है, अतः एव उसके पुनः नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता है। साथ ही उसके पूर्व संचित कर्म की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार से वह संवर एवं निर्जरा से युक्त होकर समस्त कर्मों से रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है।

सकलविमल बोधो देह गेहे विनिर्यन्।
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मायित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्।
भवति हि यतिवृतं सर्वर्थाश्चर्यभूमिः।।(264)

सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) शरीर रूप ग्रह प्रगट होकर जिस प्रकार लकडी में प्रगट हुई अग्नि निर्दयता पूर्वक उस लकड़ी को भस्म करके उसके अभाव में फिर भी निर्धूम जलती रहती है उसी प्रकार वह भी शरीर को पूर्णतया नष्ट करके उसके अभाव में भी निर्मलतया प्रकाशमान रहती है। ठीक है- मुनियों का चरित्र सब प्रकार से आश्चर्य जनक है। जिस प्रकार लकड़ी में लगी हुई अग्नि जब तक वह लकडी शेष रहती है, तब तक वह जलती ही है किन्तु उसके पश्चात् भी- उक्त लकड़ी के निःशेष

हो जाने पर भी वह निर्मलता से जलती ही रहती है, उसी प्रकार शरीर में प्रगट हुआ केवलज्ञान जब तक वह शरीर रहता है तब भी-आर्हन्त्य अवस्था में भी प्रकाशित रहता है तथा उस शरीर के नष्ट हो जाने पर सिद्धावस्था में भी वह स्पष्टतया अनन्तकाल तक प्रकाशित रहता है। यह क्षीणकषाय एवं अयोगी जिन के उस यथाख्यात चारित्र का प्रभाव है जो छद्मस्थ जीवों को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तःकर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः।।(266)

आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जन्म से और मरण से भी रहित होकर अनादिनिधन है। वह शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अमूर्त होकर रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से रहित है। वह व्यवहार की अपेक्षा शुभ व अशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा निश्चय से अपने चेतन भावों का ही कर्त्ता है। इसी प्रकार वह व्यवहार नय से पूर्वकृत कर्म के फलभूत सुख व दुःख का भोक्ता तथा निश्चय से वह अनन्त सुख का भोक्ता है। वह स्वभाव से सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहार से प्राप्त हुए हीनाधिक शरीर के प्रमाण तथा निश्चय से वह असंख्यातप्रदेशी लोक के प्रमाण है वह जब कर्म मल से रहित होता है तब स्वभावतः उर्ध्व गमन करके तीनों लोकों का प्रभु होता हुआ सिद्ध शिला पर स्थिर हो जाता है।

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्विकः स ताम्।
करोति तत्त्वं विच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम्।।(104)

मूर्ख पुरुष लक्ष्मी को छोडता हुआ शोक करता है, तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मी को छोडता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्व का जानकार उसके परित्याग में न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है। जो मूर्ख जन पुरुषार्थ से रहित होते हैं उनकी सम्पत्ति यदि दुर्भाग्य से नष्ट हो जाती है तो वे इससे बहुत दुःखी होते हैं। वे पश्चात्ताप करते हैं कि बडे परिश्रम से यह धन कमाया था वह कैसे नष्ट हो गया, हाय अब उसके बिना कैसे जीवन बितेगा आदि। इसके विपरीत जो पुरुषार्थी मनुष्य होते हैं वे जैसे धन को कमाते हैं वैसे ही उसका दानादि में सदुपयोग भी करते हैं। इस प्रकार के त्याग में उन्हें एक प्रकार का स्वाभिमान ही होता है। वे विचार किया करते हैं कि जब मैंने इसे कमाया है तो उसे सत्कार्य में खर्च भी

करना चाहिए। इससे वह कुछ कम होने वाला नहीं हैं। मैं अपने पुरुषार्थ से फिर भी उसे कमा सकता हूँ आदि। यदि कदाचित् वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है तो भी अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्हें इसमें किसी प्रकार का खेद नहीं होता है। परन्तु इन दोनों के विपरीत जो तत्त्वज्ञानी हैं वे विचार करते हैं कि ये सब धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थ हैं, ये न मेरे हैं और न मैं इनका स्वामी हूँ। कर्म के उदय से उनका संयोग और वियोग हुआ ही करता है। ऐसा विचार करते हुए उन्हें सम्पत्ति के परित्याग में न तो शोक होता है और न अभिमान भी।

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत्कलेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यादि भवति मुक्तिश्रीय जडधीः
स कस्त्युक्तं नालं खलजनसमायोग सदृशम्।।(105)

गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त यह जो समस्त शरीर सम्बंधित आचरण है वह व्यर्थ में प्रचुर क्लेश, अपवित्रता, मल और तिरस्कार आदि से परिपूर्ण है; ऐसा जानकर विद्वानों को उसका परित्याग करना चाहिये। उसके त्याग से यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर वह कौन-सा मूर्ख है जो दुष्ट जन की संगति के समान उसे छोडने के लिए समर्थ न हो?

अर्थात् विवेकी प्राणी उसे छोड़ते ही हैं। हे भव्य! तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों-सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्यागसमाधि संततेः पथी प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयतयवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदुरं परमं किमप्यसौ।।(107)

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय-दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित हैं। दीन दुःखी प्राणियों को देखकर उनके साथ जो हृदय में सहानुभूति का भाव उदित होता है वह दया कहलाती है। यह धर्म की जड है, क्योंकि उसके बिना धर्म स्थिर रह नहीं सकता। कहा भी है-

धर्मो नाम कृपा मूलं सा तु जीवानुकंपनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम्।।क्ष.चू.

अर्थात् धर्म की आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियों के साथ सहानुभूति। इसलिए जो अरक्षित प्राणियों की रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है। दूसरे शब्द से इस दया को अहिंसा कहा जा सकता है और उस अहिंसा में चूंकि सत्यादि का भी अर्न्तभाव होता है अतएव वह दया पंचव्रतात्मक ठहरती है। दम का अर्थ है राग-द्वेष के दमन पूर्वक इन्द्रियों का दमन करना-उन्हें अपने नियंत्रण में रखना अथवा स्वेच्छाचार में प्रवृत्त न होने देना। इसे दूसरे शब्द से संयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है। त्याग से अभिप्राय बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग एवं दान का है। समाधि से तात्पर्य धर्म और शुक्ल रूप समीचीन ध्यान से है। इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारों की परम्परा का अनुसरण करता है वह निश्चय से अविनश्वर पद को प्राप्त करता है।

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरूते।।(108)

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है।

मुहुं प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः।।(177)

आत्म तत्त्व का जानकार मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसा कि पदार्थों का स्वरूप है उसी रूप से उनको देखता हुआ राग और द्वेष को दूर करके ध्यान करें। अभिप्राय यह है कि आत्महितैषी जीव को सबसे पहले सम्यग्ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा होने पर आत्म स्वरूप की जानकारी हो जाने पर उसकी उस ओर रुची होगी। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि के न रहने से राग-द्वेष रूप

प्रवृत्ति भी नष्ट हो जावेगी जिससे की वह एकाग्र चित्त होकर ध्यान में लीन हो सकेगा। कारण यह है कि राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति के होते हुए उस ध्यान की सम्भावना नहीं है।

वेष्टनोद्वष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः।।(178)

मथानी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सी के बन्धने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उस रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

यहाँ जीव को मन्थनदण्ड (मथानी) के समान बतलाया है। उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्ड के ऊपर लिपटी हुई रस्सी के समान हैं, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृत्ति उक्त रस्सी को एक ओर से खींचने और दूसरी ओर से कुछ ढीली करने के सामान है, तथा उससे होने वाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उक्त रस्सी के बंधने और उकलने के समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानी में लिपटी हुई रस्सी को एक ओर खींचने और दूसरी ओर से ढीली करने पर वह रस्सी बंधती व उकलती ही रहती है तथा इस प्रकार से वह मन्थनदण्ड बराबर घूमता ही रहता है उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। हां, यदि उस रस्सी को एक ओर सर्वथा छोड़कर दूसरी ओर से पूरा ही खींच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकार से बंधना और उकलना चालू नहीं रह सकेगा। तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर-परिभ्रमण से रहित-हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार से जब तक जीव की राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति चालू रहती है तब तक वह कर्मों का बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है। कारण यह कि राग-द्वेष से जिन नवीन कर्मों का बंध होता है उनके उदय में आने पर जीव तत्कृत सुख-दुःख रूप फल को भोगता हुआ फिर भी राग-द्वेष रूप परिणमन करता है। इस प्रकार से यह क्रम जब तक चालू रहता है तब तक प्राणी चतुर्गति-रूप इस संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु यदि वह राग-द्वेष से बांधे गये उन कर्मों को तपश्चरणादि के द्वारा अविपाक निर्जरा स्वरूप से नष्ट कर देता है तो फिर राग-द्वेष रूप परिणति से रहित हो जाने के कारण उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक प्राणी राग-द्वेष रूप परिणमन

करता है तब उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता है, और जब तक चित्त स्थिर नहीं होता है तब तक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से रहित होना अनिवार्य है।

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्।।(179)

छोड़ी जाने वाली रस्सी की फांसी के द्वारा मथानी के समान जीव के नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकार से छोड़ना चाहिए कि जिससे फिर से बन्धन और परिभ्रमण न हो सके। जिस प्रकार मथानी में फांसी के समान लिपटी हुयी रस्सी यदि एक ओर से खींचने के साथ दूसरी ओर से ढीली की जाती है तब तो मथानी का बंधना व घूमना बराबर चलता ही रहता है। किन्तु यदि उस रस्सी को दोनों ओर ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानी के घूमने की क्रिया सर्वथा बंद हो जाती है। ठीक इसी प्रकार से जीव की फाँसी स्वरूप सम्बद्ध कर्म को यदि सविपाक निर्जरा के द्वारा राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के साथ छोड़ते हैं-निजीर्ण करते हैं- तब तो जीव के नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता है। परन्तु यदि उक्त कर्मरूप फांसी को अविपाक निर्जरा पूर्वक राग-द्वेष से रहित होकर छोड़ा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण दोनों ही रूक जाते हैं। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना-चाहिए।

रागद्वेष कृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्य वृत्तिभ्याम्।
तत्वज्ञान कृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः।।(180)

राग और द्वेष के द्वारा की गयी प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव के बन्ध होता है तथा तत्वज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है।

जीव जब तक बाह्य पर पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करता है तब तक उसके जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के संयोग में हर्ष और उसके वियोग में विषाद होता है इसी प्रकार अनिष्ठ पदार्थों के संयोग में द्वेष और उसके वियोग में हर्ष भी होता है। इस प्रकार से जब तक उसकी इष्ट वस्तु के ग्रहणादि में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु के विषय में निवृत्ति होती है तब तक उसके कर्मों का बन्ध भी अवश्य होता है। इसके

विपरीत जब वह तत्त्व ज्ञान पूर्वक अनिष्ट हिंसा आदि के परिहार और इष्ट (तप-संयम आदि) के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव (संवर) और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि **'रागी बन्धाति कर्माणि वीतरागो विमुच्येते।'** अर्थात् रागी जीव तो कर्म बांधता है और वीतरागी उससे मुक्त होता है- निर्जरा करता है। इसी प्रकार पुरुषार्थसिद्धयुपाय (212-214) में भी राग को बन्ध का कारण और रत्नत्रय को बन्धाभाव का कारण बलाया गया है।

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्।।(181)

गुण के निमित्त से की गई द्वेष बुद्धि तथा दोष के निमित्त से की गई अनुराग बुद्धि इनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के निमित्त से होने वाली अनुराग बुद्धि और दोष के निमित्त से होने वाली द्वेष बुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता है तथा उन दोनों से रहित-अनुराग-बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा होती है। जीव की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है- अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमें अशुभ प्रवृति व्रत-संयमादि से द्वेष रखकर दुर्व्यसनादि में अनुराग रखने से होती है और वह पापबन्धन की कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादि को अनिष्ट समझकर व्रत-संयमादि में अनुराग रखने से होती है और वह पुण्य बन्ध का ही कारण है इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनों से रहित होकर जो आत्मध्यानरूप जीव की प्रवृत्ति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृत्ति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनों के ही नाश का कारण होती है। यह अन्तिम प्रवृति (शुद्धोपयोग) ही जीव को उपादेय है। परन्तु जब तक वह शुद्धोपयोग रूप प्रवृति सम्भव नहीं है तब तक जीव के लिए उस अशुभ प्रवृति को छोड़कर शुभ प्रवृति को अपनाना भी योग्य है परन्तु अशुभ प्रवृति तो सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरण के रूप में जैसे ब्रह्मचर्य सर्वथा और सर्वदा ही उपादेय है परन्तु जो उसका सर्वथा पालन नहीं कर सकता है उसके लिए वह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्या को सहधर्मिर्णी के रूप में स्वीकार करके अन्य स्त्रियों की ओर से विरक्त होता हुआ केवल उसी के साथ अनासक्ति पूर्वक विषय सुख का अनुभव

करे। इसके विपरीत स्वस्त्री और परस्त्री आदि का भेद न करके स्वेच्छा चारिता से आसक्ति के साथ विषयभोग करना, वह सर्वथा ही निन्द्य समझा जाता है- उसकी प्रशंसा कभी भी किसी के द्वारा नहीं की जाती है। बस यही भाव यहाँ अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग के विषय में समझना चाहिये।

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।। (182)

जिस प्रकार बीज से जड और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा उस मोह रूप बीज को जला देना चाहिए। जिस प्रकार वृक्ष की जड और अंकुर का कारण बीज है उसी प्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण मोह (अविवेक) है। अतएव जो वृक्ष के अंकुर और जड को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्ष के बीज को ही जला देता है उसी प्रकार जो आत्महितैषी उन राग और द्वेष को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है उसे उनके कारण भूत उस मोह को ही सम्यग्ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार से वे राग-द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे।

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्धयति रोहति।। (183)

मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीड़ा कारक है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का), शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा नस से रहित और पीड़ा देने वाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर-पीव आदि से रहित होकर-भर जाता है। उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादि काल से जीव के साथ रहने वाला, परिग्रह के ग्रहण रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्ट दायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) उर्ध्वगमन (मुक्ति प्राप्ति) में सहायक होता है।

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः।। (186)

इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दुःख होता है तथा उसके लाभ से राग और फिर उससे सुख होता है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य को इष्ट हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए। दुःख का कारण शोक और उस शोक का भी कारण इष्ट सामग्री का अभाव है। इसी प्रकार सुख का कारण राग और उस राग का भी कारण उक्त इष्ट सामग्री की प्राप्ति है। परन्तु यथार्थ में विचार करे तो कोई बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट भी-यह भी अपनी रुचि के अनुसार प्राणी की कल्पना मात्र है। कहा भी है-

अनादौ सति संसारे कास्य केन न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना।। क्ष.चू.

अर्थात् संसार अनादि है। उसमें जो किसी समय बन्धु रहा है वही अन्य समय में शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस अनादि संसार में न तो वास्तव में कोई मित्र है और न कोई शत्रु भी। यह सब प्राणी की कल्पना मात्र है। इसीलिए विवेकी जन ममत्व बुद्धि से रहित होकर इष्ट की हानि में कभी शोक नहीं करते। इससे वे सदा ही सुखी रहते हैं।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।। (224)

इन्द्रिय विषयों में विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शांति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण, जिन भगवान् में भक्ति, और प्राणियों पर दयाभाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि संसार रूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मासारः।। (225)

जो यम-यावज्जीवन धारण किये गये व्रत तथा नियम में-परिमित काल के लिये धारण किये गये व्रत में-उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) बाह्य इन्द्रिय विषयों से निवृत हो चुकी है, जो ध्यान में निश्चल रहता है, सब प्राणियों के विषय में दयालु है, आगमोक्त विधि से हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करने वाला है, निद्रा से रहित है, तथा जो अध्यात्म के रहस्य को जान चुका है; ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जड़मूल से नष्ट कर देता है।

समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः।
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्व संकल्पमुक्ताः।
कथ्यमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।। (226)

जो समस्त हेय उपादेय तत्व के जानकार हैं, सब प्रकार की पाप क्रियाओं से रहित हैं, आत्महित में मन को लगाकार समस्त इन्द्रिय व्यापार को शान्त करने वाले हैं स्व और पर के लिए हितकर वचन का व्यवहार करते हैं तथा सब संकल्पों-विकल्पों से रहित हो चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहाँ कैसे मुक्ति के पात्र न होंगे? अवश्य होंगे।

भावयामी भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः।। (238)

मैंने संसार रूप भँवर में पड़कर पहिले कभी जिन सम्यग्दर्शन आदि भावनाओं का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर चुका हूँ उनका अब मैं चिन्तन नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओं को छोड़कर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ, क्योंकि, इस प्रकार की भावनायें संसार विनाश का कारण होती है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम्।। (239)

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख, इस प्रकार यह छह हुए। इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन-शुभ, पुण्य और सुख-आत्मा के लिए हितकारक होने से आचरण के योग्य है तथा शेष तीन अशुभ, पाप और दुःख

अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य है। अभिप्राय यह है कि जिन पूजादि रूप शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होता है और उस पुण्य कर्म के उदय को प्राप्त होने पर उससे सुख की प्राप्ति होती है। इस के विपरीत हिंसा एवं असत्यसंभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओं के द्वारा पाप बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय के प्राप्त होने पर उससे दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए उक्त छह में से शुभ, पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन हेय हैं।

तत्राप्याद्यंपरित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे व्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।। (240)

पूर्व श्लोक में जिन तीन को-शुभ, पुण्य और सुख को-हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

ऊपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोका का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-श्लोक 239 में जो अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहितकारक बतलायें गये हैं उनमें भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिए। कारण यह है कि ऐसा होने पर शेष दोनों पाप और दुःख-स्वयमेव नहीं रह सकेगें, क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है।

इस प्रकार जब मूल कारण भूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्य भूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्य भूत दुःख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है-नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहित कारक तीन के नष्ट हो जाने पर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तव में हितकारक नहीं है उनको हितकारक अनुष्ठेय ही बतलाया गया है यथार्थ में तो वे भी परतन्त्रता के ही कारण हैं। भेद इतना ही है कि जहाँ अशुभादिक जीव को नारक एवं तिर्यंच पयार्य प्राप्त कराकर केवल दुःख का ही अनुभव कराते है वहाँ वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर दुःख मिश्रित सुख का अनुभव कराते हैं। इसीलिये यहाँ यह बतलाया है कि उन शुभादिक तीन को छोड़ देने के पश्चात्

शुद्धोपयोग में स्थित होकर उस शुभ को भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाभावी पुण्य व सांसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्बोध मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला है।।

मिथ्यात्वोपचितात्स एवं समलः कालादिलब्धाँ क्वचित्।
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते।। (241)

आत्मा है और वह अनादि परम्परा से प्राप्त हुए बन्धनो में स्थित है। वे बन्धन मन, वचन एवं शरीर की शुभाशुभ क्रियाओं रूप आस्रवों से प्राप्त हुए है; वे आस्रव क्रोधादि कषायों से किये जाते हैं; वे क्रोधादि प्रमादों से उत्पन्न होते हैं और वे प्रमाद मिथ्यात्व से पुनः हुई अविरति के निमित्त से होते हैं। वही कर्म-मल से सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्याय में कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादों का अभाव, कषायों का विनाश और योग निरोध के द्वारा उपर्युक्त बन्धनों से मुक्ति पा लेता है।

सज्जन व दुर्जन संगति के सुफल-कुफल

(सज्जन संगति से विकास तो दुर्ज्जन संगति से विनाश)

(चालः 1.वैष्णवजन तो...)

सज्जन महान् तो तेने कहिए! जो सत्य समता सहित है।
अन्तरंग-बहिरंग शुचि सह, मन वच काय से साम्य है।। (1)
गुण-गुणी प्रशंसक गुण ग्राहक, पर दुर्गुणों के न उद्घाटक है।
अष्टमद रहित आत्म प्रशंसक, आध्यात्मिक गुण उद्घाटक है।। (2)
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री परे, नैतिक आत्मिक गुण प्रशंसक है।
दुर्गणों को सुगुण नहीं माने हैं, तो भी दुर्गुणों से घृणा न करें हैं।। (3)
दबाव प्रलोभन भय स्वार्थ रिक्त, गुण प्रशंसक गुण निमित्त है।
'वन्दे तद्गुणलब्धये' हेतु ही, ''गुण गण कथा दौषवादे च मौनम्'' है।। (4)
नीति नियम सदाचार सहित, पर दुःख कातरता सहित है।
स्व दुःख सम पर दुःखों को माने, अपाय-विपाक विचय धर्म ध्यान है।। (5)
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाये, आर्त-रौद्र ध्यान रहित है।

संसार शरीर भोगों से विरक्त, कमलदलवत् सदा निर्लिप्त है।। (6)
गुण गुणी पूज्यों का विनय करे, छोटों के प्रति आदर/(स्नेह) भाव धरे।
शालीनता मधुरता मर्यादा पाले, क्रूरता कठोरता रहित हैं।। (7)
अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार रिक्त, शोषण मिलावट ठगी रहित।
गृहस्थ है तो सद्गृही धर्म पाले, साधु हो तो सुसाधुगुण सह है।। (8)
इन गुणों से जो रहित होते, वे दुर्ज्जन गृही या साधु है।
केवल बाह्य दिखावा मात्र से, कोई न सज्जन गृही व साधु है।। (9)
सज्जन संगति व सेवा से मिले, विवेक सदाचार शान्ति है।
संतुष्ठी, तृप्ति व कीर्ति भी मिले, परम्परा से स्वर्ग-मोक्ष है।। (10)
दुर्ज्जन संगति सेवा से मिला, अविवेक दुराचार अशान्ति है।
विपत्ति, दुर्गति, अकीर्ति भी मिले, परम्परा से नरक-तिर्यंचगति है।। (11)
अतएव करणीय सज्जन संगति, दुर्ज्जन संगति से सदादूर है।
स्वभावना लक्ष्यानुसार होती संगति, 'कनक' करे सदा सज्जन संगति है।। (12)

ग.पु.कॉ. दि. 30-3-2020 रात्रि-9.18

(यह कविता दिनेश शाह के कारण बनी।)

संदर्भ-

सज्जनता के विषय में उपेदश-

सौजन्य मेव विदधाति यशाश्च यं च।
स्वश्रेयस च विभवं च भव क्षयं च।।
दौर्जन्यमावहति यत् कुमते तदर्थम्।
धान्योऽनलं दिशति तज्जलसेक साध्ये।। (62) (सिंदूर प्रकरण)

सज्जनता ही मनुष्यों की कीर्ति का साधन है, अपने हित का साधन भी सज्जनता ही है। नरक दुःख और भव भ्रमण का नाश कर मोक्ष सुख की प्राप्ति सज्जनता से ही होती है। लोक में सज्जनता ही धन्य, धान्य, स्त्री, पुत्र, पौत्र राजादि वैभवों का कारण है। उस कीर्ति को प्राप्त करने के लिये हे दुर्बुद्धि। हरी भरी फसल में अग्नि का सिंचन कर धान्य की आशा करता है। धान्य की प्राप्ति तो शीतल पानी देने

पर ही होगी इसी प्रकार समस्त उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति तो सज्जनता से ही होगी, दुर्जनता से नहीं ऐसा तू जान!

वरं विभजं वंध्यता सुजन भाव भाजां नृणा।
मसाधु चरितार्जिता न पुनः रुर्जितः संपदः।।
कुशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुंदरं।
विपाक विरसा न तु श्रयथु संभवा स्थूलता।। (63)

सज्जन अथवा परोपकार करने की जिनकी भावना है उन मानवों को धन के बिना ही श्रेष्ठ माना जाता है। ठगी बेईमानी चोरी करके उपार्जन की गयी लाख करोड़ रुपया की सम्पत्ति भी अच्छी नहीं लगती है क्योंकि वह दुर्जनता पूर्वक अर्जित की गयी है। कैसी है सम्पत्ति? जैसे स्वभाव से दुर्बलता भी अच्छी लगती है परन्तु मोटा होना अच्छा नहीं लगता। जब आगामी काल में जीव के द्वारा किये गए कर्मों का उदय काल आ प्राप्त होगा तब वह दारुण दुःखों को देने वाला होगा इसलिये दुर्जनता सर्वत्र छोड़ने योग्य है।

जो सौजन्यता से युक्त हैं उनके गुणों को कहते हैं-

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहम्।
संतोषं वहते परर्द्धिषु परावधासु धत्तेशुचम्।।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्य मुल्लंघ्य।
त्युक्तोऽप्य प्रियमक्षमां न सचयत्येतच्चारित्रं सतां।। (64)

सदाचारी पुरुष के विशेष गुण होते हैं कि वे दूसरे के दोषों को नहीं देखते हैं वे देखे हुए व जाने हुए दोषों को प्रकट नहीं करते हैं। दूसरों के अल्प गुणों का भी बार-बार चिंतवन करते हैं। पर की सम्पत्ति को देखकर वे मत्सर भाव को न रखकर संतोष को धारण करते हैं। पर की पीड़ा व दुःख को देखकर उसको निवारण करने का चिन्तवन करते हैं। अपने द्वारा किये गये अच्छे कार्यों की वे प्रशंसा नहीं करते हैं। वे न्याय का त्याग नहीं करते हैं और मर्यादा का भी उल्लंघन नहीं करते हैं। वे अप्रिय, निंद्य, कर्कश, मर्म भेदक वचनों का प्रयोग नहीं करते हैं। यदि कदाचित् अनुचित कार्य हो जाये तो उसकी वे तुरन्त क्षमा मांग लेते हैं। यदि कोई निंदा करते हैं तो उनके प्रति क्रोध नहीं करते हैं ऐसा सज्जनों का स्वभाव होता है।

गुणीजनों की संगति का कथन

धर्म ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तं पुमान्।
काव्यं, नि; प्रतिभस्तपः शमदयाशून्योऽल्पमेधा श्रुतम्।।
वस्त्वालोकम लोचनश्चलमना ध्यानं च वांछत्यसौ।
यः संगं गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकांक्षति।। (65)

जो दुर्बुद्धि गुणवानों की संगति का त्याग कर कल्याण की इच्छा करता है वह दया धर्म का त्याग कर पुण्य की इच्छा करने के समान है। क्योंकि बिना दया के पुण्य की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है अन्याय व पापों को करके कीर्ति की इच्छा करता है वह महामूर्ख है क्योंकि अन्याय करने से कीर्ति नहीं परन्तु न्याय मार्ग पर चलने से ही कीर्ति होती है। प्रमादी होकर वह धन की इच्छा करता है। जिसने ज्ञानार्जन नहीं किया वह कविता कैसे बना सकता है? समभाव और दया रहित मानव तप करने की इच्छा करता है। जो बुद्धि रहित होकर श्रुतज्ञानी बनना चाहता है या पढ़ना चाहता है वह उसी प्रकार है जैसे कि नेत्रों से रहित अन्धा पुरुष पदार्थों को देखना चाहता है। जिसका मन अत्यंत चंचल है वह ध्यान करने की इच्छा करता है सो कैसे संभव है? आचार्य कहते हैं कि सज्जन धर्मात्मा व साधुजनों की संगत के बिना कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

हरति कुमतिं भित्ते मोहं करोति विवेकितां।
वितरति रतिं सूते नीति तनोति गुणावलिम्।।
प्रथयति यशो धत्ते धर्म्म व्यापोहति दुर्गति।
जनयति नृणां कि नाभीष्टं गुणोत्तमं संयमः।। (66)

टीकार्थ-जो मानव गुणों से युक्त होते हैं वे ही सज्जन कहलाते हैं। सज्जनों की संगति से क्या-क्या इच्छित फलों की प्राप्ति नहीं होती है? अर्थात् सभी फलों की प्राप्ति होती है। उत्तम गुणों के धारक मानवों की संगति मिलने से दुर्बुद्धि नष्ट हो जाती है। मोह रूप अज्ञानाधंकार को नाश करके विवेक पने को प्राप्त कराती है। विवेक होने पर तत्त्व अतत्त्व का, धर्म अधर्म का, कृत्य अकृत्य का, पुण्य और पाप का विवेक होकर अतत्त्व का त्याग और तत्त्व में रुचि होती है। लोभकषाय का मर्दन होकर संतोष की वृद्धि होती है। संत्संगति न्याय को उत्पन्न करती है और गुणों को प्रकट

करती है। कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। धर्म की विशेष रुचि वृद्धि को प्राप्ति होती है। नरक व तिर्यंच गति का निराकरण कर देती है। इस प्रकार सज्जनों की संगत से ऐसा कौन सा पदार्थ है जिसकी प्राप्ति नहीं होती है? अपितु सभी की प्राप्ति होती है।

लब्धुँबुद्धि कलापमपदमपाकर्त्तु विहर्त्तुं पथि।
प्राप्तुं कीर्तिमसाधुतां विधुवितुं धर्म समासेवितितुम्।।
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्ग श्रियं।
चेत्त्वं चित्त समीहसे गुणवतां संगंतदंगीकुरू।। (67)

हे मन! तू बुद्धि के समूह को यदि चाहता है तो गुणवान महाशयों की संगत कर। यदि तू आपदाओं का निराकरण करना चाहता है तो गुणवानों का आश्रय ले। यदि न्याय मार्ग में चलने की इच्छा करता है और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है, दुर्जनता को दूर करना चाहता है, पुण्य सेवन करना चाहता है, अशुभ कर्म के उदय से आस्रव को रोकना चाहता है, देवलोक के वैभव अणिमादि ऋद्धियों को और कर्मविपाक रहित मुक्तिरमा की इच्छा करता है तो सदा भगवान व साधुजनों की संगत कर। ऐसा उपदेश है।

निर्गुण जनों की संगत त्याग

हिमति महिमांभोजे चंडानिलत्युदयांबुदे।
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति।।
समिधति कुमत्यग्नौ कंदत्यनीति लतासुः यः।
किमभिलषता श्रेयः श्रेयः सः निर्गुण संगमः।। (68)

जिन मानवों को अपने आत्म कल्याण करने की भावना है और जन्म मरण के भय से घबड़ाये हुए हैं उनको कल्याणकारी क्या है और अकल्याणकारी क्या है? ऐसे प्रश्नों पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि निर्गुण जनों कि संगति कभी भी हितकारी नहीं होती है इसलिये निर्गुणों की संगति नहीं करना चाहिये। निर्गुणी संगत से हानि? जो कमल अपनी सुगंध से दशों दिशाओं को सुगंधित कर रहे थे जब पाला पड़ा तो कमल, पत्ते और पुष्प सब नष्ट हो गये। उसी प्रकार निर्गुणी की संगत है। धन, धान्य के प्रताप यश व वृद्धि का भेदन जैसे बादलों की तीव्र वायु चलकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार दुर्गुणी की संगति दया रूपी बगीचा जो फल, फूल व पत्तों से हरा-भरा था उसको

नवजवान बिगड़ा हुआ हाथी का बच्चा उजाड़ कर देता है अथवा उखाड़ कर इधर-उधर फेंक देता है उसी प्रकार निर्गुणी की संगत। कुशलता रूपी पर्वत का भेदन उसी प्रकार करती है जैसे कि वज्र पड़ने पर पर्वत के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। कुमति रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने में ईंधन (काष्ठ व तृण) के समान ही निर्गुणी मानव है। जिसको कल्याण की इच्छा है वे निर्गुणी की संगति का सर्वदा त्याग करें।

विध्वंसकारी प्रशंसा व निन्दा

(नारद-रावण संवाद)

णरसिरकरखंडणु कहिं तं भंडणु एम भणंतु जि संचरइ।
तहिं विप्पियगारउ आयउ णारउ अत्थाणंतरि पइसरइ।। ध्रु वकं।। छ।।

वह लड़ाई कहाँ है कि जिसमें मनुष्यों के सिर, हाथों का खंडन होता है, इस प्रकार कहता हुआ जो विचरता रहता है, ऐसा लोगों का अप्रिय करने वाला नारद वहाँ आता है, और दरबार के भीतर प्रवेश करता है। (महापुराण)

जिसने अपने पीले जटा समूह को ऊपर बाँध रखा है, जिसका कमंडलु पद्मराग मणियों का बना है, जिनका शरीर स्वच्छ हिमकण के हार के समान सफेद है, मानो चन्द्रमा हो या शारदीय मेघ। स्वच्छ स्फटिक मणि के वलय से अंकित वह, ऐसा मालूम होता है, मानो उसके पुरुष रूप की विधाता ने स्वयं रचना की है, आता हुआ वह ऐसा दिखार्द देता है कि जैसे राजा के रण में कायर यौद्धाओं के लिए भय उत्पन्न करने वाला हो। उसके कटितल में स्वर्णमेंखला थी। जो बहुत हँसता बोलता, ईर्ष्या से युक्त और युद्ध में आसक्ति रखनेवाला था। उत्तरीय को पहने हुए उसका वक्षस्थल उज्ज्वल था। घूमते हुए, और युद्ध की इच्छा रखते हुए, उसकी कौपीन वृक्षों की छाल से बनी हुई थी जो युद्ध न होने से अत्यन्त क्षीण हो गया था। रावण ने उसे देखा और स्वागत किया। गुरु-भक्ति के साथ आसन पर बैठाया। राजा ने दूसरों के मन के लिए शूल के समान उससे पूछा-यह बात बताइए कि कौन मेरे प्रतिकूल है? यह सुनकर जिसे संग्राम प्यारा है, ऐसा नारद रावण से कहता है-

यद्यपि इन्द्र सुमेरु पर्वत के शिखर पर रहता है, वह धरती पर शोभित नहीं होता। वह कुबेर का धन संचित करता है, फिर भी रात को उसे नींद नहीं आती। ऐसा मालूम होता है जैसे तुमसे भीत मन उसे अच्छा नहीं लगता।

आग तुम्हारे यहाँ मानो रसोइये का काम करती है। यम दग्ध हो जाए, तुम शत्रुओं के लिए यम हो, नैऋत्य दिशा को रोकता है तब तक कि जब तक तुम्हारा प्रताप नहीं फैलता। समुद्र जो गरजता है वह मूर्ख है, क्योंकि तीनों लोकों में एक तुम्हीं महासुभट हो। तुम्हारे निश्वास से हवा चलती है। तुम्हारे नागपाश में नागराज बँध जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे घर के दीपक हैं। सिंह बेचारा वन में निवास करता है और श्वापद भी। देवताओं और मनुष्यों सहित खग और जग तुमसे डरता है, लेकिन एक आदमी ऐसा है कि जो तुम्हें जीतने की इच्छा रखता है। दशरथ का बेटा, हाथ में मूसल का हथियार रखनेवाला, पररमणी का परिहार करनेवाला (राम) और जिसका भाई शत्रु सेना के प्रबल पानी में बडवाग्नि के सामन है, और जिसका मुख वीर रस से विकसित है ऐसा लक्ष्मण लाखों योद्धाओं को क्षुब्ध करने वाला है, और भी जिसे राजा जनक ने अपनी विशाल पीन स्तनों वाली बाला प्रदान की है, जिसके रूप में विधाता का नैपुण्य स्थित है।

वह स्त्री लता के समान सुन्दर अंग वाली तुम्हारे योग्य है। अपने चातुर्य से उसे बलपूर्वक किंकरों से छीन लीजिए। क्यों कि गंगा नदी मछलियों से भरे समुद की होती है, वह जन्म भर तलाबों की नहीं होती।

जिसका मुख चमक रहा है, ऐसे शेर के समान वह रावण यह सुनकर बोला-मैं धीर, मर्यादा से हीन हाथी के सूंड़ के समान भुजाओं वाले दुष्ट बलवान, चंचल दशरथ के बेटे राम और श्यामल लक्ष्मण को, जो हाथी के समान श्याम हैं, ऐसे सुभटों को तुमुल-युद्ध में मारूँगा और मैं गुणों और मणियों के संचय की खान अभिनव हरिणियों के समान नेत्र वाली कामदेव की भूमि, उसका अपहरण करूँगा। नारद मुनि कहते हैं-हे रावण, गर्व से विह्वल प्रलाप से क्या? क्योंकि वन में श्वापद और सिंह का संहार कौन कर सकता है? काल और कृतान्त को कौन मार सकता है? सूर्य और चन्द्र को आकाश के प्रांगण से कौन स्खलित कर सकता है? युद्ध के प्रांगण में राम और लक्ष्मण को कौन छू सकता है? हे राजन्, जानकी का कौन अपहरण कर सकता है? तब राजा कहता है-अपराध करनेवाले वाराणसी नगरी के राजा उन दोनों बालकों के सिर कमलों को जब मैं काटूँगा, हे मुनि तब आप वहाँ आना।

फिर तीनों लोकों में भयंकर शत्रुओं का नाश करनेवाला रावण धनुष की टंकार करता है। और कहता है-विद्याधरों के वक्षस्थलों को चीरने वाली मेरी बाणों की परम्परा युद्ध में राम के कवच को छिन्न-छिन्न करेगी।

तब इस कलह के कारण को जानकर कि अब अवश्य ही महायुद्ध होगा, नारद अपने मन में संतुष्ट होकर चला गया और रावण भी परामर्श के लिए महल में प्रविष्ट हुआ। उसने यह दुष्ट अनिष्ट बात विद्वान् मंत्री से नहीं कही, अपनी बुद्धि से ही इस बात का विचार किया कि शरीर के सौन्दर्य और वर्ण की नदी रघुकुलनाथ की गृहणी का हरण किया जाए, उन भयंकर भाइयों को मार दिया जाए। यह मारीच से कहा। यह सुनकर मारीच बोला, हे राजन्, परवधू से रमण करना अनुचित है, परवधू का रमण धर्म का नाश करने वाला होता है, परवधू का रमण आत्मीय जनों को संताप पहुँचाने वाला होता है। परवधू का रमण कीर्ति का नाश करने वाला होता है। परवधू का रमण पवित्र कुल को दोष लगाने वाला है। परवधू का रमण दूसरों का अपकार करने वाला है, परवधू का रमण नरक में प्रवेश कराने वाला है।

परस्त्री अत्यन्त नीच दुःख की पोटली होती है। दुर्गम और खोटे यश की समूह है, अनेक लोकों में घुमानेवाली एवं मोक्ष गति का निवारण करनेवाली और पापाश्रय विधि का वास घर होती है।

जो मूर्ख व्यक्ति परवधू से रमण करता है, वही नहीं तरने योग्य मोह रूपी महासमुद्र में जा गिरता है। तुम अनेक शास्त्रार्थों को जानने वाले हो, और फिर सकल धरती के राजा हो। जो तुम्हारे प्रतिकूल है, उन्हें तुम्हें मारना चाहिए। लेकिन परवधू का रमण तुम्हें स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। तब दशानन कहता है-जनक ने जान-बूझकर (मुझे छोड़कर) किसी अन्य जन-सामान्य को जानकी दे दी है। स्त्रीजन में श्रेष्ठ नेत्रों के लिए प्यारी, चंपक के समान गोरी, हृदय को चूर कर देने वाली ऐसी उसका, मैं (रावण) पर्वत शिखरों के संचालन से प्रचंड अपने भुजदंड़ों के द्वारा यदि उसका आलिंगन करता हूँ तो मनुष्य जीवन पाने का फल पा लेता हूँ। इसलिए यदि उसका मुखकमल मैं नहीं चूमता तो मैं अपने को विडम्बित क्यों करता हूँ? बेकार कर्म (निष्प्रयोजन) से क्या? मेरे राज्य से क्या और धरती से क्या?

कानों के लिए सुख की मात्रा के समान उस मृगनयनी के वार्तामात्र से मेरे मन

में हलचल मच गई है। रति में कायर रावण विरह से अस्त-व्यस्त होकर काँप उठता है, और बार-बार कहता है।

नारायण श्रीकृष्ण-नारद

एक समय की घटना है। महाराज श्रीकृष्ण अपने बन्धुवर्ग के साथ राज-सभा में आसीन थे। उस समय देश तथा राज्य-सम्बन्धी वार्तालाप चल रहा था। अपनी विलक्षण प्रज्ञा से वे समस्त मित्र मण्डली को आनंद प्रदान कर रहे थे। इसी समय आकाश-मार्ग से एक तेज-पुंज आता दिखा। सभा में उपस्थित व्यक्ति आश्चर्यचकित हो गये-'यह तेज सूर्य का है या अग्निमय? सूर्य का गमन टेढ़ा होता है एवं अग्नि की ज्वाला ऊपर की ओर, पर यह तो निम्नगामी है' इसलिये दर्शकों को महान आश्चर्य उत्पन्न हुआ। जब वह तेज-पुंज नीचे उतरा, तो मनुष्य-सी आकृति प्रतीत हुई। निकट आने पर ज्ञात हुआ कि वह यथार्थ में मनुष्य ही है। वह थे नारद मुनि। उनके शीश पर जटा थी, कोपीन धारण किए हुए थे एवं हाथ में कुशासन था। वे स्वभावतः कलह-प्रिय (झगड़ा कराने वाले), जिन धर्म में लीन, स्वाभिमानी, निष्पाप, हास्य में आसक्त एवं जिन-वन्दना में सदा निरत थे।

नारद मुनि को अवलोक कर महाराज श्रीकृष्ण के साथ समस्त सभा अभ्यर्थना में खड़ी हो गयी। श्रीकृष्ण ने करबद्ध प्रणाम किया। उन्होंने मुनि के चरण पखारे, अर्घप्रदान किया एवं तत्पश्चात् सिंहासन पर विराजमान कर भक्ति-भाव से स्तुति की अर्थात् अतिथि का समुचित सम्मान किया।

महाराज श्रीकृष्ण ने कहा-'हे मुनिराज! तप द्वारा आप विशुद्ध हैं। यह हमारा सौभाग्य कि आपके शुभागमन से मेरा घर पवित्र हुआ है। भाग्यहीन व्यक्ति को स्वप्न में भी यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। अतः निश्चित है कि मैंने पूर्व भव में विशेष पुण्य संचित किया है। मुझे आशा है कि इस पुण्योदय से मेरे पूर्व पाप नष्ट हो जायेंगे। वस्तुतः आपने मुझे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान में योग्य पात्र बनाया। यदि ऐसा न होता तो आपका यहाँ आना सम्भव नहीं था। वे धन्य हैं, जिन्हें आप जैसे महानुभावों के दर्शन एवं स्वगृह पर आगमन का सौभाग्य प्राप्त होता है।' महाराज श्रीकृष्ण ने नारद की प्रशंसा करते हुए अपने सौभाग्य की सराहना की। पुनः मुनि की आज्ञा पाकर वे सिंहासन पर आरूढ़ हुए। नारद ने कहा-'हे राजन्! आप ध्यान देकर सुनें। मैं

आपसे मिलने के लिए आया हूँ। यदि आप जैसे सत्पुरुषों के दर्शन से वंचित रहूँ, तो मेरे जीवन की आवश्यकता ही क्या? जिनेन्द्र, बलदेव, नारायण, पुरुषोत्तम-ये सभी आराध्य होते हैं। इनके दर्शन के बिना जन्म निष्फल है।' इस प्रकार वार्तालाप होने के उपरान्त नारद मुनि ने देश-देशान्तरों के सम्वाद सुनाये तथा अनेक तीर्थों से प्राप्त आशीषें उन्हें दीं।

सौभाग्य से नारद मुनि तथा महाराज श्रीकृष्ण के सम्वाद के समय ही श्री नेमिनाथ कुमार का आगमन हुआ। भावी जिनेश्वर को देखकर सारी सभा सम्मान में खड़ी हो गयी। स्वयं नारदजी ने उन्हें योग्य उत्तम सिंहासन पर विराजमान कर भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति प्रारम्भ की-'हे जिनेश्वर! आप विजयी हों। हे पापनाशक! आपकी सदा जय होती रहे। आप जरा-मरण के दुःखों से मुक्त करने वाले हैं। आप जिनागम के प्रकाशक, भव्य कमलों को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हैं, अन्धकार के विनाशक चन्द्र हैं। देवों द्वारा पूजित हे त्रिभुवनपति! आप को नमस्कार है। हे कल्याणकर्ता गणधारादि के नाथ! आपको नमस्कार है। आप कामरूपी गज के लिए सिंह के समान हैं। आप मोहरूपी सर्प के लिए गरुड़ हैं। हे जरा-मरण विनाशक! आपको बारम्बार नमस्कार।' ऐसे वन्दना-स्तुति कर नारद मुनि अपने योग्य एक सिंहासन पर बैठ गये। परस्पर कुशल प्रश्नादि के बाद नेमिनाथ, श्रीकृष्ण, बलभद्र सब को अतीव आनन्द हुआ। नारदजी की उपस्थिति से सबको प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था।

तदुपरान्त नारद ने महाराज श्रीकृष्ण से कहा-'आप मेरा कथन ध्यान से सुनें। मैं अनेक देशों में भ्रमण करता हुआ जिन-वन्दना करता रहता हूँ। आप भी मुझे विस्मृत नहीं करते। मेरी सदा यही अभिलाषा रहती है कि आप सुख से रहें। मुझे आपके सुख-से-सुख तथा दुःख-से-दुःख का अनुभव होता है। इसीलिये मुझ में अन्तःपुर (रनिवास) में जाकर आपकी रानियों के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई है। मैं निश्चय करना चाहता हूँ कि क्या आपकी रानियाँ भी अन्य सामान्य नारियों के सदृश हैं अथवा नहीं (अर्थात् आप जैसी उदारता उनमें विद्यमान है अथवा उसका अभाव है)?' महाराज श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर नारद अन्तःपुर की ओर चले। उन्होंने विचार किया कि सर्वप्रथम महाराज श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा का दर्शन करना

चाहिये। यह विचार कर नारद उसी के महल की ओर गये। उन्होंने दूर से ही सत्यभामा को देखा। वह महाराज श्रीकृष्ण के सिहांसन पर बैठकर अपना शृंगार करने में व्यस्त थी। सामने दर्पण था, जिसमें वह अपनी अपूर्व रूपराशि को निहार रही थी। उसकी प्रसन्न आकृति यह दर्शा रही थी कि उसे भान होता है कि उसके रूप-लावण्य से प्रसन्न होकर महाराज श्रीकृष्ण उसे विशेष सम्मान प्रदान करेंगे। वह दर्पण देखने में ऐसी निमग्न थी कि उसे मालूम ही नहीं हुआ कि नारद मुनि का आगमन हुआ है। जब नारद उसके पीछे जाकर सहसा खड़े हो गये, तो उसने दर्पण में उनका प्रतिबिम्ब देखा। भस्म-लेपित देह एवं शीश पर जटाजूट होने से आकृति भयंकर प्रतीत हो रही थी। सत्यभामा ने तिरस्कार की दृष्टि से उस आकृति को देखा। उसने विचार किया कि मेरी सुन्दर मुखाकृति के समीप किसी विकृत पुरुष की विकराल छाया कैसी? नारद को उसकी मनोदशा समझते विलम्ब न लगा। वे ताड़ गये कि सत्यभामा उनका तिरस्कार करती है, उनकी मुखाकृति क्रोध से तमतमा उठी। उन्होंने विचार किया कि जिसका आदर सारा संसार करता है, उसे सत्यभामा तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। फलतः उन्हें बड़ी ग्लानि हुई अर्थात् सत्यभामा के महल में आने का बड़ा खेद हुआ। नारद ने सोचा-'मैंने यह उचित नहीं किया। जिसके स्वभाव का पता नहीं, उसके यहाँ सत्पुरुष नहीं जाते।' इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प उनके मन में उठने लगे। वे इस घटना-चक्र का कारण सोचते हुए महाराज श्रीकृष्ण के अन्तःपुर से बाहर निकले एवं कैलाश पर्वत की ओर चल पड़े।

नारद मुनि कैलाश पर बैठकर चिन्तवन करने लगे। वे अशान्त तो थे ही। उनका हृदय बारम्बार कह रहा था। कि मैं तो भक्ति का भूखा हूँ। जो मेरा आदर करता है, उसे मैं हृदय से मानता हूँ एवं जो मेरा तिरस्कार करता है, उस पर मैं क्रोधित हो जाता हूँ। ढ़ाई द्वीप की समग्र भूमि मेरा विचरण स्थान है। वहाँ के अधिवासी मेरी वन्दना करते हैं। किन्तु सत्यभामा ने मेरा निरादर किया है, अवश्य की उसका हृदय कलुषित है। अतः मुझे क्या करना चाहिये? किस प्रकार उसे कठिन दुःख का सामना करना पड़े? उसका अभिमान अवश्य चूर होना चाहिये। मैं उसे दुःखी देखकर ही शान्त होऊँगा। पहिले तो नारद ने यह विचार किया कि किसी के

द्वारा सत्यभामा का अपहरण कराऊँ। इससे उसे हार्दिक सन्ताप होगा। पर तत्काल ही उनकी विचारधारा में परिवर्तन आया। कारण यह था कि नारायण श्रीकृष्ण उनके अन्तरंग सखा थे। सत्यभामा के अपहरण से उन्हें भी घोर दुःख होगा। अतः यह युक्ति उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुई। तब उन्होंने अन्य युक्ति सोची-'यदि माया-विशेष से सत्यभामा को पर-पुरुष पर आसक्त दिखा दिया जाये, तो श्रीकृष्ण को उसके प्रति घृणा हो जायेगी। क्योंकि प्राणप्रिया होते हुए भी लोग पर-पुरुषासक्त पत्नी को त्याग देते हैं-अतः यही युक्ति ठीक है।' फिर भी नारद का विचार स्थिर न रह सका। उन्होंने विचार किया-सत्यभामा गुणवती एवं कुलवती स्त्री है। वह श्रीकृष्ण की प्राण-वल्लभा है। उसके शील एवं पवित्रता के श्रीकृष्ण कायल हैं। किसी के कहने मात्र पर उन्हें विश्वास न होगा। यदि सत्यभामा के प्रति उनका विश्वास वैसा ही दृढ़ बना रहा, तो मेरे प्रति उनकी अश्रद्धा हो जायेगी। वे स्वप्न में भी मेरा विश्वास न करेंगे। कारण बुद्धिमान लोग असत्यवादी का विश्वास नहीं करते। 'नारद की विचारधारा भँवर-जाल में डूबने-उतराने लगी। उन्होंने निश्चय किया कि यदि मेरा विश्वास उठ गया, तब तो मुझे दोनों ओर से अपयश ही मिलेगा। पुनः वे अन्य युक्ति विचारने में तल्लीन हो गये। थोड़ी देर बाद उन्हें एक उत्तम उपाय सूझ पड़ा। सत्य है, एकाग्र चित्त से विचार करने पर अन्तःज्ञान का प्रकाश होता है, जिससे दुःख की निवृत्ति होती है। नारद ने विचारा-'नारियों के लिए सौत का दुःख सबसे बड़ा दुःख होता है। वे वैधव्यावस्था, निपुत्रावस्था एवं दरिद्रता जैसे दुःखों को झेल लेती हैं, किन्तु सौत का दुःख उन्हें असह्य होता है।' यह धारणा उनके चित्त में दृढ़ हो गयी। वे यही निश्चय कर ढाई द्वीप की अपनी विचरण भूमि में किसी अनन्य रूपसी की खोज में निकल पड़े।

सर्वप्रथम नारद विजयार्ध पर्वत पर गये। वहाँ विद्याधरों की राजधानी थी। वे विद्याधर राजाओं से अनुमति लेकर उनके अन्तःपुर (रनिवास) में जो पहुँचे। किंतु उन अन्तःपुरों में कोई ऐसी विवाहिता एवं अविवाहिता नारी न दीख पड़ी, जो सत्यभामा के पग के अँगुष्ठ की अपने सौन्दर्य से समता कर सकती हो। इस प्रकार विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों की रूपसियों को देखकर वे अत्यन्त निराश हुए। वे तत्काल निश्चित न कर पाये कि क्या करना चाहिये, कहाँ जाना चाहिये? किन्तु उन्हें तो सत्यभामा का अभिमान भंग करना था, अतः नारद अपने निश्चय पर दृढ़ रहे।

उन्होंने विचारा-'जब वैसी सुन्दरी विद्याधरों के महलों में नहीं है, तो फिर कहाँ मिलेगी?' पुनः विचार कर उन्होंने संकल्प कर लिया कि चाहे जो हो, सम्पूर्ण भूतल भर में भ्रमण कर एक सुन्दरी कन्या का सन्धान कर सत्यभामा का अभिमान विचूर्ण करूँगा। तदनन्तर वे भूलोक पर भ्रमण करते हुए भूमिगोचरी राजाओं की राजधानी में गये, पर वहाँ भी सत्यभामा जैसी सुन्दरी न दीख पड़ी। पर दृढ़ निश्चयी नारद खिन्न एवं उदास होने के उपरान्त भी अनवरत भ्रमण करते रहे।

एक दिन जब नारद आकाश-मार्ग में गमन कर रहे थे, तब संयोगवश कुण्डनपुर नगर में जा पहुँचे। वह समृद्धि का आगार तथा गुणवती-रूपवती कन्याओं का भण्डार था। इस नगर का अधिपति राजा भीष्म था, जो सर्वमान्य, विख्यात, परोपकारी तथा ऐश्वर्यशाली था। उसकी रानी श्रीमती अनुपम रूपवती एवं सद्आचरण वाली थी। नारद के आते ही राज भीष्म सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। उसने भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्हें अपने राजा-सिंहासन पर विराजमान किया एवं स्वयं अन्य सिंहासन पर बैठा। कुशल-प्रश्न पूछने के पश्चात् नारद ने राजकुमार रूप्यकुमार को देखा। उसकी सुन्दरता देख कर उन्होंने विचारा कि इस राजकुमार की भगिनी अवश्य ही परम सुन्दरी होगी। अब मेरी चिन्ता दूर हो सकेगी। ऐसा विचार कर नारद ने राजा भीष्म से जिज्ञासा की कि यह किसका पुत्र है? उत्तर में भीष्म ने कहा-'हे मुनिराज! आपके आशीर्वाद से मेरा ही पुत्र है' तब नारद ने पूछा-'इसकी माता की कितनी सन्तानें हैं?' राजा ने उत्तर दिया-'एक पुत्र एवं एक पुत्री' नारद ने कहा-'हे राजन्! अवश्य ही तुम भाग्यशाली हो, पर यह तो बतलाओ कि तुम्हारी कन्या विवाहिता है या अविवाहिता?' राजा ने कहा-'अभी है तो अविवाहिता, किंतु चेदी नरेश शिशुपाल की वाग्दत्ता को चुकी है।' यह सुनकर नारद को जो अपार प्रसन्नता का अनुभव हुआ, वह अपूर्व था। कुछ देर तक दोनों में वार्तालाप होता रहा। इसके उपरान्त नारद उठ कर खड़े हो गये। उन्होंने कहा-'हे राजन्! मैं आपका अन्तःपुर देखना चाहता हूँ।' राजा की स्वीकृति लेकर नारद रनिवास देखने लगे। राजा भीष्म की एक बाल-विधवा भगिनी थी। उस विदुषी ने बाह्य लक्षणों से नारद मुनि को पहिचान लिया। वह हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी तथा यथोचित सत्कार कर उनको सिंहासन पर आसीन कराकर वह कहने लगी-'हे प्रभो! आपकी कृपा के लिए मैं

कृतज्ञ हूँ। आपके आगमन से हमारा गृह पवित्र हो गया है। मैं अपने को भाग्यवान समझती हूँ अन्यथा बिना पुण्य के आप जैसे महापुरुषों का समागम असम्भव है।' इतना कह कर उसने भीष्म की रानियों से मुनि के पुण्य-चरणों में नमस्कार करवाया। सब को प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद प्रदान कर नारद वार्तालाप करने लगे। कुछ काल पश्चात् उन्होंने निकट की खड़ी हुई युवती को देखा। उन्होंने राजा भीष्म की भगिनी से जिज्ञासा की-'यह अनन्य लावण्यमयी कन्या कौन है?' तब उसने अपनी भातृ-पुत्री (रुक्मिणी) का परिचय कराते हुए मुनि का चरण-स्पर्श करवाया। नारद ने आशीर्वाद देते हुए कहा-'हे पुत्री! तू महाराज श्रीकृष्ण की पटरानी बनेगी।' मुनि की ऐसी भविष्यवाणी सुन कर रुक्मिणी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपनी बुआ की ओर देखने लगी। बुआ ने भी मुनि का विस्मयकारी कथन सुना था। अतः उसने जिज्ञासा प्रकट की-'हे प्रभो! यह आपने कैसा आशीर्वाद दिया? जिन महाराज श्रीकृष्ण का आप ने नामोच्चार किया है, वे कौन हैं? उनका निवास, कुल एवं उनकी आयु क्या है? उनकी रूपाकृति एवं ऋद्धि कैसी है? आप कृपा कर यह सब बतलाये'। नारद ने कहा-'तथास्तु! मैं महाराज श्रीकृष्ण का परिचय देता हूँ, जिसे ध्यान से सुनो-

महाराज श्रीकृष्ण सौराष्ट्र देश की द्वारावती नगरी के अधिपति हैं। वे यादव कुलभूषण, हरिवंश के श्रृगांर-स्वरूप तथा कामदेव सदृश रूपवान हैं। उन्हें विपुल ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हैं। सहस्रों यादववंशी वीर उनके स्वजन हैं तथा उन्होंने अनेक प्रबल शत्रुओं का विनाश किया है। सैकड़ों राजा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। श्रीकृष्ण ने बचपन में ही महाभयानक पूतना का वध किया था, गोवर्धन पर्वत को अपने अँगुष्ठ पर उठाकर गौओं की रक्षा की थी। उन्होंने यमुना नदी के कालिया नाग को नाथ कर उसका मान-मर्दन किया था। रण-संग्राम में उनके द्वारा कंस तथा उसके प्रबल योद्धा चाणूर का अन्त हुआ। केवल इतना ही नहीं, समुद्र तट पर जाकर उन्होंने देवों को अपने वश में कर द्वारिकापुरी (द्वारावती) बसाई। जिनके भावी जिनेश्वर नेमिनाथ के सदृश भ्राता हो, उनके प्रताप का वर्णन करना स्वयं बृहस्पति के लिए भी कठिन है। तब मेरी वाणी की भला क्या सामर्थ्य है?' नारद की उक्ति सुनकर राजा भीष्म की भगिनी ने रुक्मिणी से कहा-'हे पुत्री! तूने सुना या नहीं? इनके वचन को ध्रुव सत्य मान'। तब रुक्मिणी कहने लगी-'हे बुआ! आप तो मुनिवर के वचनों

को सत्य बतलाती हैं, पर किसी अन्य नृपति के संग मेरा वाग्दान हो चुका है। तब मुनिवर के कथन की पुष्टि आप ने किस आधार पर कर दी, यह मुझे समझ में नहीं आ रहा।' उसकी विदुषी बुआ ने स्पष्ट किया-'हे पुत्री! मैं जो कहती हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो'-कुछ काल पूर्व (पहिले) शास्त्रों में पारंगत अतियुक्त नाम के एक मुनिराज हमारे यहाँ आहार के निमित्त पधारे थे। तेरे पिता (स्वयं मेरे भ्राता) महाराज भीष्म ने नवधा-भक्ति से उन्हें आहारदान दिया। तत्पश्चात् जब वे आसन पर विराजे, तो तेरा अनुपम लावण्य देखकर मुनिराज ने महाराज से जिज्ञासा की कि यह किसकी पुत्री है? तब महाराज ने स्पष्ट किया कि उनकी ही पुत्री है। कौतूहलवश महाराज ने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि कृपा कर यह बतलाइये कि यह कन्या किसका वरण करेगी अथवा किसे समर्पित कर मैं सुखी होऊँगा। तब मुनिवर ने उत्तर दिया-'हे राजन्! तुम्हारी यह पुत्री बड़ी भाग्यवती है। यदुकुल के सूर्य जो पृथ्वी पर उपेन्द्र अर्थात् नारायण के नाम से विख्यात हैं, जिनकी कीर्ति-सम्पदा अतुलनीय है तथा जो दैत्यों के विनाशक हैं, वे ही तुम्हारी इस पुत्री के स्वामी होंगे। ऐसा कहकर उन मुनिराज ने तपस्या के लिए वन की ओर गमन किया। मैंने यह वार्तालाप निकट से सुना था। मुनिराज के वचन कभी मिथ्या नहीं होते, क्योंकि यह निश्चित है कि मुनिगण कभी असत्य सम्भाषण नहीं करते।'

फिर भी रुक्मिणी ने जिज्ञासा की-'हे बुआ! जब ऐसी होनहार है, तब राजा शिशुपाल को क्यों वचन दिया गया?' उसकी बुआ ने उत्तर दिया-'हे बेटी! दुःखी मत हो। तेरे माता-पिता ने यह वचन नहीं दिया है। तेरा भ्राता रूप्यकुमार किसी कार्यवश शिशुपाल के यहाँ गया था। उसके आतिथ्य से संतुष्ट होकर उसने तेरे विवाह की स्वीकृति दी है।'

किन्तु यह अद्भुत वृत्तान्त सुनकर महाराज श्रेणिक को गहरा सन्देह हुआ। उन्होंने गणधर गौतम स्वामी से प्रश्न किया-'हे नाथ! रूप्यकुमार किस कार्य हेतु शिशुपाल के यहाँ गया था?' तब गौतम स्वामी ने स्पष्ट किया-'एक बार शिशुपाल शुत्रओं पर आक्रमण के प्रयत्न में था। उसने भीष्म के पास दूत भेज कर प्रार्थना की थी कि वे अपनी सेना के संग उसे सहयोग प्रदान करें।' दूत का सन्देश सुनकर मित्र की सहायता हेतु भीष्म अपनी सेना को संगठित कर स्वयं गमन हेतु प्रस्तुत हुए। उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में राज्य का भार पुत्र रूप्यकुमार को देना चाहा, किन्तु वीर एवं

नीति-निपुण पुत्र रूप्यकुमार ने कहा-'हे तात्! यह कैसे हो सकता है? युवा पुत्र के रहते भला पिता को युद्ध-भूमि में जाना पड़े, तो संसार में सर्वत्र उपालम्भ ही मिलेगा।' रूप्यकुमार स्वयं सेना के साथ जाने को उद्यत हुआ। फिर भी राजा भीष्म ने कहा-'हे पुत्र! तुम्हें कुल परामपरा से प्राप्त एवं शत्रु की बाधा से रहित राज्य की रक्षा करनी चाहिये। युद्ध के लिए तो मुझे जाने दो।' विनयी कुमार ने शिष्टाचार से मस्तक नत कर लिया एवं तत्पश्चात् निवेदन किया-'हे तात! माता-पिता को सुखी रखना पुत्र का कर्तव्य होता है। अतः मैं आप को कैसे जाने दूँ?' पुत्र की ऐसी उक्ति सुनकर भीष्म ने कहा-'हे पुत्र! अभी तेरी अवस्था ही क्या है? तू सुकुमार है। तुझे युद्ध का ज्ञान नहीं है। अतः तेरा शत्रु के सम्मुख जाना कदापि वाँछनीय नहीं।' प्रत्युत्तर में कुमार कहने लगा-'हे तात्! शक्ति का परीक्षण चपलता से ही होता है, अवस्था आदि से नहीं। विशालकाय होने पर भी गजरात अपने से आकार से छोटे सिंह के गर्जन से ही पालयन कर जाते हैं। आपके आशीर्वाद से मैं अनायास ही शत्रु दल को परास्त करूँगा।' पुत्र की वीरतापूर्ण वाणी सुन कर राजा भीष्म को सन्तोष हुआ। उन्होंने शुभ शकुनों की प्रेरणा से प्रसन्नता के साथ राजा शिशुपाल की सहायता के लिए पुत्र को विदा किया। युद्ध में शिशुपाल को सफलता मिली एवं वह शत्रु सेना पर विजय प्राप्त कर अपने नगर को लौटा। शिशुपाल यह समझता था कि रूप्यकुमार की सेना की सहायता से ही सफलता मिली है। अतएव रूप्यकुमार उसका स्नेहपात्र बन गया। शिशुपाल ने उसका विपुल सम्मान किया। उसके स्वागत से प्रसन्न होकर रूप्यकुमार ने उसके साथ अपनी भगिनी (रुक्मिणी) के विवाह की स्वीकृति दे दी। इससे चेदपति को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने मूल्यवान वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर रूप्यकुमार को विदा किया। इस समाचार से राजा भीष्म को भी आनन्द प्राप्त हुआ। रूप्यकुमार का शिशुपाल के यहाँ जाने का यही वृत्तान्त है।

तत्पश्चात् बुआ ने रुक्मिणी से कहा-'हे पुत्री! अब तुझे ज्ञात ही है कि शिशुपाल के संग विवाह की स्वीकृति तेरे भ्राता ने दी है, माता-पिता ने नहीं। अतएव चिन्ता मत कर, भावी परिणाम शुभ ही होगा। मैं ऐसा प्रबन्ध करूँगी कि श्रीकृष्ण अवश्यक तेरे पति हों।' रुक्मिणी को अतीव प्रसन्नता हुई। श्रीकृष्ण का भावी समागम सुनकर उसे संतोष हुआ। नारद मुनि भी श्रीकृष्ण की प्रशंसा करते हुए कैलाश को लौट गये।

कैलाश के शिखर पर जाकर नारद ने रुक्मिणी का एक यथार्थ चित्र अंकित किया। जब चित्र मनोनुकूल बन गया, तो उसे लेकर वे द्वारिकापुरी को चले। श्रीकृष्णनारायण सभा में आसीन थे। उन्होंने आकाश-मार्ग से आते हुए नारद को देखा। जब नारद निकट आ गये, तो उन्होंने आगे बढ़ कर आदरपूर्वक सत्कार किया। आशीर्वाद देकर नारद सिंहासन पर विराजमान हुए। श्रीकृष्ण भी एक आसन लेकर समीप बैठ गये। परस्पर धर्म-चर्चा होने लगी। अवसर पाकर श्रीकृष्ण ने कहा-'हे मुनिराज ! आप तो सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं। यदि कहीं कोई आश्चर्यजनक घटना हुई हो अथवा मनोविनोद की चर्चा हो तो कृपया सुनाइये। आप मेरे परम मित्र हैं। मेरे लिए कोई नवीन सामग्री लायें हों, तो वह दीजिये।' श्रीकृष्ण की ऐसी जिज्ञासा सुनकर नारद मन-ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होंने मुख से तो कुछ नहीं कहा, पर रुक्मिणी का चित्रपट सामने रख दिया। श्रीकृष्ण विस्मयजनक दृष्टि से चित्र को निहारने लगे। मानो मन्त्रबिद्ध हो गये हों, इस प्रकार निष्पलक वे चित्रांकित रूपसी को निहारते रहे। पर्याप्त अवधि तक उन्होंने विचार किया कि इस अनन्य सुन्दरी की रचना सृष्टि ने कैसे की होगी? त्रिभुवन में ऐसी रूपवती स्त्री कदाचित् अन्य नहीं है एवं न ही भविष्य में होने की सम्भावना है। भला नारद मुनि को ऐसी लावण्यवती के कहाँ दर्शन हुए? यह अपनी वेणी से कृष्णवर्णी नागों को लज्जित कर रही है, जब कि वाणी से अमृत को, ललाट से अष्टमी के चन्द्र को, नेत्र से मृगी को, भौहों से कामदेव के धनुष को एवं स्वर से कोयल की वाणी को परास्त कर रही है। इसकी गम्भीर नाभि वापिका-सी दीख पड़ती है। इसकी जंघायें मानो कदली-स्तम्भ हों। इसके कमल सदृश चरण, सुवर्ण-सी कान्ति, सूर्य-सा तेज एवं समुद्र-सम गम्भीरता अपूर्व हैं। यह है भला कौन? इसका चित्र नारद मुनि ने कैसे अंकित किया? वस्तुतः यह कामदेव की पत्नी है अथवा इन्द्राणी? चन्द्रकांता है या सरस्वती की प्रत्यक्ष मूर्ति। यक्षिणी है अथवा किन्नरी। श्रीकृष्ण के मन में ऐसे अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने नारद मुनि से जिज्ञासा के समाधान का निश्चय किया। श्रीकृष्ण ने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया-'हे मुनिराज ! यह किसका चित्रपट है? इसे आपने कहाँ अंकित किया? कृपा कर सविस्तार परिचय दीजिये। इस अनन्य सुन्दरी का मात्र चित्र देखकर ही मेरा चित्त चंचल हो रहा है। मैं इसकी मोहिनी मूर्ति पर मंत्र मुग्ध हो रहा हूँ। श्रीकृष्ण की ऐसी विह्वल अवस्था देखकर नारद को जो प्रसन्नता हुई, वह वर्णनातीत है।

उन्होंने कहा-'हे राजन्! वृथा सन्तप्त मत होओ। यह किसी देवागंना या गन्धर्व-कन्या का चित्र नहीं है। मैं सविस्तार वर्णन कर रहा हूँ, कृपया ध्यानपूर्वक सुनो। इसी भरतक्षेत्र में कुण्डनुपर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है, जहाँ के राजा भीष्म बड़े प्रतापी एवं धर्मानुरागी हैं। उनकी रानी का नाम श्रीमती है। उन्हीं की कन्या यह रुक्मिणी है, जिसका चित्रपट आपके समक्ष है। रुक्मिणी भी शुभ लक्षणों से संयुक्त भूमिगोचरी मानवी है। मैंने सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण किया है। विद्याधरों एवं भूमिगोचरियों की राजधानी एवं महलों तक में ऐसी अनुपम सुन्दरी अब तक मेरे देखने में नहीं आई थी। मेरे विचार से तो पृथ्वीतल पर कोई ऐसा नारी रत्न नहीं है, जो रुक्मिणी के अँगुष्ठ तक की सौन्दर्य में समता कर सके। इसके पूर्व सृष्टि की नारी रचना कभी इतनी सम्पूर्ण नहीं हुई थी। किन्तु जब तक यह राजकन्या विवाहित होकर आपके महल में न आ जाये, तब तक आप यह रहस्य किसी प्रकार प्रकट न करें। आपका नारायण रूप में अवतार भी तभी सार्थक होगा, जब रुक्मिणी आपकी पत्नी बनेगी।' इस प्रकार नारद ने रुक्मिणी की प्रशंसा कर श्रीकृष्ण को मोहित कर लिया। श्रीकृष्ण ने पूछा-'हे मुनिराज! आप यह बतलायें कि रुक्मिणी कुमारी है या विवाहिता?' नारद ने कहा-'यह अपूर्व सुन्दरी अभी कुमारी है, किन्तु उसके भ्राता रूप्यकुमार ने बिना किसी से परामर्श लिये ही चेदि नरेश शिशुपाल को विवाह की स्वीकृति दे दी है। किसी समय शिशुपाल ने कुण्डनपुर के युवराज रूप्यकुमार का सम्मान किया था, फलस्वरूप राजकुमार ने अपनी इच्छा से यह वचन दिया है। अतएव आपको चाहिये कि संग्राम में चन्देरी (चेदि) के राजा शिशुपाल को परास्त करें, अन्यथा रुक्मिणी का प्राप्त होना असम्भव-सा है।' नारद का परामर्श सुनकर श्रीकृष्ण कुछ उदास हो गये। उनकी मनोव्यथा नारद भाँप गये। उन्होंने तत्काल की कहा-'आप धैर्य धारण करें। कायर बनने से कार्य सिद्ध नहीं होगा। रुक्मिणी बिना बाधा के ही प्राप्त हो सकेगी-शूरवीरों के लिए सब कुछ सम्भव है, पर कायरों के लिए नहीं। अतएव चिन्ता की आवश्यकता नहीं। जिस रूपवती रुक्मिणी की छवि पर आप मोहित हैं, उसे मैं उसके माता-पिता के महल में देख आया हूँ। आप यह दृढ़ विश्वास कर लें कि वह आपके महल में अवश्य आयेगी। किन्तु 'उद्योगिनः पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी'-उद्योगी पुरुष-सिंह को ही निधि प्राप्त होती है, निरुद्यमी को नहीं। यदि स्त्रियों में रमण की उत्कट अभिलाषा हो, तो रुक्मिणी को प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्णिमा की तुलना में अन्य किसी रात्रि की

शोभा नहीं, उसी प्रकार एक रुक्मिणी के अभाव में आपके अन्तःपुर की शोभा नहीं-चाहे आपके महल में सहस्रों रूपवती रानियाँ क्यों न हो?' इस प्रकार श्रीकृष्ण के चित्त पर वाँछित प्रभाव डालकर नारद ने वहाँ से प्रस्थान किया। उनके गमनोपरान्त श्रीकृष्ण अचेत हो गये। बन्धुओं के उपचार से उनकी मूर्च्छा का निवारण हुआ। वे विचार करने लगे कि यह सुन्दरी कैसे प्राप्त हो। किन्तु उन्होंने किसी से अपना मनोभाव प्रकट नहीं किया। चैतन्य अवस्था में अब उन्हें न तो क्षुधा-पिपासा लगती थी एवं न ही निद्रा आती थी। संयोग से श्रीकृष्णनारायण जिस समय रुक्मिणी के लिए चिन्तातुर थे, उसी समय रुक्मिणी के यहाँ भी एक विचित्र घटना हुई।

जब चतुर शिशुपाल ने लग्न सुधवाया, तो रुक्मिणी चिन्तित हो उठी। उसने अपनी बुआ से प्रार्थना की कि यदि श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध न हुआ एवं उनके चिर-वियोग का सामना करना पड़ा तो उसे जीवित न देख सकेंगी। बुआ ने आश्वासन दिया कि व्यर्थ में विषाद मत करो। वह (बुआ) उस (रुक्मिणी) की अभिलाषा पूर्ति के हेतु प्रयत्न करेगी। तत्पश्चात् बुआ एवं रुक्मिणी ने एक विश्वासपात्र नवयुवक दूत को बुलाया। जिसका नाम कुशल था। बुआ ने समस्त वृत्तान्त उसे समझा दिया। रुक्मिणी ने एक प्रेम-पत्र देकर उसे श्रीकृष्ण के यहाँ गमन हेतु विदा किया। दूत को कुण्डनपुर से निकलते ही अनेक प्रकार के शुभ शकुन मिले, जिनसे वह प्रफुल्लित हो उठा।

दूत 'कुशल' जब द्वारिकापुरी में जा पहुँचा, तो उसे महती आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा-'यह तो साक्षात इन्द्र की अमरावती है, पर पृथ्वी पर कैसे आ गयी?' वह प्रसन्न चित्त से उस पुरी की सुन्दरता देखते हुए राजद्वार की ओर अग्रसर हुआ। उसने राजद्वार पर पहुँच कर द्वारपाल से कहा कि महाराज श्रीकृष्ण को मेरे आगमन की सूचना दो। द्वारपाल ने जिज्ञासा की-'तुम कहाँ से आ रहे हो, कौन एवं किसने भेजा है?' उसने तत्क्षण उत्तर दिया-'मैं एक विदेशी हूँ। मेरे स्वामी ने मुझे भेजा है। तुम महाराज श्रीकृष्ण से निवेदन करो कि दूत एक प्रेम-सम्बन्धी कार्य हेतु आया है।' द्वारापाल ने राजा के निकट जाकर दूत का सन्देश कह सुनाया। श्रीकृष्ण ने तत्काल आज्ञा दी कि दूत को उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। आज्ञा के अनुसार द्वारपाल दूत को सभी में ले गया। उस सभा के दर्शन से दूत को जो प्रसन्नता हुई, वह अतुलनीय थी। श्रीकृष्ण को प्रणाम कर वह अपने नियत स्थान पर बैठ गया। पर कुछ काल पश्चात्

ही उसने कुछ संकेत किया, जिससे श्रीकृष्ण ने उस दिन की सभा विसर्जित कर दी। आने का कारण पूछने पर दूत ने बतलाया कि हे महाराज! एक ऐसा निवेदन है, जिसे सुनकर आप को प्रसन्नता होगी, आप उत्फुल्ल होंगे। दूत का वचन सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा सन्तोष हुआ। वे यथाशीघ्र अपने अग्रज बलदेव के साथ दूत को लेकर महल में चले गये। वहाँ श्रीकृष्ण ने दूत को सम्वाद सुनाने के लिए कहा।

दूत कहने लगा-'हे महाराज! मेरा सम्वाद प्रेम के कारणभूत होने से माननीय है। उसे सारभूत एवं यथार्थ समझ कर ध्यान से सुनें। कुण्डनपुर एक प्रसिद्ध नगर है। वहाँ का राजा भीष्म गुणग्राही एवं शत्रुओं को परास्त करनेवाला है। उसकी पत्नी श्रीमती जगत्-विख्यात रूपसी है। भीष्म का पुत्र रूप्यकुमार इन्द्रपुत्र जयन्त के समान यशस्वी एवं महादेव-पुत्र षडानन जैसा स्वाभिमानी वीर है। कुमार की छोटी भगिनी रुक्मिणी चन्द्रमा-सी कान्तिवाली नवयौवना है। जैसे समुद्र से लक्ष्मी, पर्वत से पार्वती एवं ब्रह्मा से सरस्वती उत्पन्न होकर विख्यात हुई हैं, वैसे ही भीष्म-पुत्री रुक्मिणी भी जगत् में विख्यात है। किन्तु रूप्यकुमार ने चेदि-नरेश शिशुपाल के अतिथि-सत्कार से प्रसन्न होकर उसे रुक्मिणी के संग विवाह की स्वीकृति दे दी। यद्यपि यह कार्य स्वजनों एवं परिजनों से बिना परामर्श लिए ही हुआ था, पर कुमार के वचनबद्ध होने से किसी ने आपत्ति नहीं की। कारण नृपति शिशुपाल में यथेष्ट योग्यता है एवं योग्य पुरुष किसे प्रिय नहीं होता? समग्र स्वजन बन्धुओं ने राज-प्रांगण में एकत्रित होकर लग्न की तिथि निश्चित कर दी। माघ शुक्ल अष्टमी की दोष वर्जित तिथि में विवाह कार्य सुसम्पन्न होगा। किन्तु इसके पश्चात् दूसरे ही दिन वहाँ नारद मुनि पधारे। वे राजा भीष्म से मिल कर सीधे रनिवास में चले गये। प्रारम्भ में ही उनसे भीष्म की भगिनी से भेंट हुई। वह विदुषी एवं योग्य गुणवती महिला है। स्वयं महाराज भीष्म भी उसका सम्मान करते हैं। उस बाल-विधवा ने नारद मुनि को नमस्कार कर उन्हें योग्य आसन पर विराजमान कराया एवं अन्य रानियों से भी उन्हें प्रणाम करवाया। जिस समय नारद कुशलक्षेम पूछ रहे थे, उसी समय रुक्मिणी सामने खड़ी थी। उसे देखकर नारद ने उसका परिचय भीष्म की भगिनी से पूछा। उसने उत्तर में कहा कि हे मुनिराज! यह मेरे भ्राता महाराज भीष्म की कन्या तथा युवराज रूप्यकुमार की भगिनी है। इतना कहकर बुआ ने रुक्मिणी से नारद मुनि के चरणों में

प्रणाम करवाया। नारद मुनि ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि द्वारिकापुरी के अधिपति तथा हरिवंश के श्रृंगार महाराज श्रीकृष्णनारायण की तू पटरानी बनेगी। नारद मुनि के वचनों से रुक्मिणी संशय में पड़ गयी। नारद मुनि तो वहाँ से प्रस्थान कर गये, पर इसके अनन्तर रुक्मिणी सदैव चिंतित रहने लगी। उसे न दिवस में क्षुधा लगती है, न रात्रि में निद्रा आती है। चन्द्रमा की चाँदनी उसे विष सदृश प्रतीत होती है एवं चन्दन का लेप अग्नि का-सा दाह उत्पन्न करता है। वह आप पर मन-प्राण से आसक्त है। इसमें कोई संशय नहीं है। वह आपके नाम की माला फेरकर ही जीवित है। अतएव आपसे निवेदन है कि आप इस सम्बन्ध में यथोचित प्रबन्ध करें। आप शुभ कार्यों के कर्त्ता हैं, अतः राजकन्या रुक्मिणी के कष्ट की निवृत्ति अब आपके ही हाथ में है।'

श्रीकृष्ण एवं बलदेव दूत के कथन को ध्यानपूर्वक सुनते रहे। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने प्रेमपूर्वक सम्बोधित करते हुए दूत से जिज्ञासा की-'यह तो बतलाओ कि यदि में वहाँ जाऊँ, तो ठहरने के लिए कौन-सा स्थान उत्तम है? मैं कैसे रुक्मिणी के समीप जा सकूँगा। अथवा वह मुझ से कैसे मिल सकेगी? विस्तार से कहो।' तब दूत ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया-'हे महाराज! आप यथाशीघ्र कुण्डनपुर चलें। वहाँ लता-वृक्षादिकों से सुशोभित 'प्रमद' नामक एक उद्यान है। उद्यान में एक अशोक वृक्ष के तले कामदेव की मूर्ति है, जिसे अपनी मनोकामना की पूर्ति के निमित्त रुक्मिणी ने स्थापित किया है। पहिचान के लिए उस पर मनोहर पताका है। आप वहाँ आकर उस वृक्ष के नीचे छिप कर बैठे। जब रुक्मिणी कामदेव की पूजा के निमित्त वहाँ आयेगी, तो उससे मिल सकेगे। आप निश्चिन्त रहें। अब वह आपके अतिरिक्त अन्य किसी का वरण नहीं कर सकती। जिस प्रकार सिंहनी श्रृगाल के शावक से रमण करना स्वीकार नहीं करेगी, उसी प्रकार रुक्मिणी के लिए अन्य पुरुष को अंगीकार करना अब स्वप्न में भी सम्भव नहीं। उसने आपका ही व्रत धारण कर लिया है। वह रूपसी उद्यान में पधारेगी एवं आपको ढूँढ़ेगी। यदि वहाँ आपके दर्शन न हो सके, तो फिर उसके लिए अपने प्राण-त्याग कर देना भी असम्भव नहीं। ऐसा होने से आपको नारी-हत्या का महान पातक लगेगा। अब तो आपको तत्काल प्रस्थान कर देना चाहिये। निःसंकोच प्रमद वन में पधारें, यही निवेदन है।' इतना कहकर दूत ने अपने प्रस्थान की तैयारी की। श्रीकृष्ण ने उसे वस्त्राभूषणों से सम्मानित किया।

श्रीकृष्ण का चित्त तो रुक्मिणी में अनुरक्त था ही। दूत के गमनोपरान्त वे दोनों भ्राता परस्पर कार्यसिद्धि हेतु युक्ति सोचने में संलग्न हुए। उन्होंने विचार किया यह समस्त वृत्तान्त किसी भी प्रकार सत्यभामा को ज्ञान न हो, क्योंकि वह विद्याधर की पुत्री है। सम्भवतः विद्या-बल से किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित कर दे। उसी रात्रि में ही कुण्डनपुर हेतु प्रस्थान का निश्चय हो गया। इस अभिप्राय से दोनों भ्राताओं ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में कवच धारण कर छद्म वेश में नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुशोभित होकर द्रुतगामी रथ द्वारा कुण्डनपुर के लिए प्रस्थान किया। श्रीकृष्ण का चित्त तो रुक्मिणी में आसक्त था ही। उनके लिए धैर्य-धारण के अतिरिक्त अन्य कोई संबल नहीं था। प्रत्येक कला में निपुण दोनों भ्राता (श्रीकृष्ण-बलदेव) द्रुतगामी रथ द्वारा 'प्रमद' उद्यान के समीप जा पहुँचे। कुण्डनपुर की रमणीकता को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्प होने लगे। वे मन-ही-मन कहने लगे कि जाने मेरे भाग्य में क्या अंकित है? फिर भी धैर्य धारण कर वे दोनों भ्राता अपनी मनोरथ सिद्धि हेतु तत्पर हुए।

मुनि निन्दा से अनेक भवों में दुःख
लक्ष्मीमती की कथा

जिन जगद्वन्ध ज्ञान लोक और अलोक का प्रकाशित करनेवाला है जिनके ज्ञान द्वारा सब पदार्थ जाने जा सकते है, अपने हित के लिए उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर मान करने के सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है। मगधदेश के लक्ष्मी नाम के सुन्दर गाँव में सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमती था। लक्ष्मीमती सुन्दरी थी। अवस्था इसकी जवान थी। इसमें सब गुण थे, पर एक दोष भी था। वह यह कि इसे अपनी जाति का बड़ा अभिमान था और यह सदा अपने को सिंगारने-सजाने में मस्त रहती थी।

एक दिन पन्द्रह दिन के उपवास किये हुए श्रीसमाधिगुप्त मुनिराज आहार के लिए इसके यहाँ आये। सोमशर्मा उन्हें आहार कराने के लिए भक्ति से ऊँचे आसन पर विराजमान कर और अपनी स्त्री को उन्हें आहार करा देने के लिए कहकर आप कहीं बाहर चला गया। उसे किसी काम की जल्दी थी।

इधर ब्राह्मणी बैठी-बैठी काँच में अपना मुँख देख रही थी। उसने अभिमान में

आकर मुनि को बहुत सी गालियाँ दी, उनकी निन्दा की और किवाड़ बन्द कर लिए। हाय! इससे अधिक और क्या पाप होगा? मुनिराज शान्त-स्वभावी थे, तपके समुद्र थे, सबका हित करनेवाले थे, अनेक गुणों से युक्त थे और उच्च चारित्र के धारक थे; इसलिए ब्राह्मणी की उस दुष्टता पर कुछ ध्यान न देकर वे लौट गये। सच है, पापियों के यहाँ आई हुई निधि भी चली जाती है। मुनि निन्दा के पाप से लक्ष्मीमती के सातवें दिन कोढ़ निकल आया। उसकी दशा बिगड़ गई। सच है, साधु-सन्तों की निन्दा-बुराई से कभी शान्ति नहीं मिलती। लक्ष्मीमती की बुरी हालत देखकर घर के लोगों ने उसे घर से बाहर कर दिया। यह कष्ट पर कष्ट उससे न सहा गया, सो वह आग में बैठकर जल मरी। उसकी मौत बड़े बुरे भावों से हुई। उसी पाप से वह इसी गाँव में एक धोबी के यहाँ गधी हुई। इस दशा में इसे दूध पीने को नहीं मिला। यह मरकर सूअरी हुई। फिर दो बार कुत्तीकी पर्याय इसने ग्रहण की। इसी दशा में यह वन में दावाग्नि से जल मरी। अब वह नर्मदा नदी के किनारे पर बसे हुए भृगुकच्छ गाँव में एक मल्लाह के यहाँ काणा नामकी लड़की हुई। शरीर इसका जन्म से ही बड़ा दुर्गन्धित था। किसी की भी इच्छा इसके पास बैठने की नहीं होती थी। देखिये अभिमान का फल, कि लक्ष्मीमती ब्राह्मणी थी, पर उसने अपनी जाति का अभिमान कर अब मल्लाह के यहाँ जन्म लिया। इसलिए बुद्धिमानों को कभी जाति का गर्व न करना चाहिए।

एक दिन काणा लोगों को नाव द्वारा नदी पार करा रही थी। इसने नदी किनारे पर तपस्या करते हुए उन्हीं मुनि को देखा, जिनकी कि लक्ष्मीमती की पर्याय में इसने निन्दा की थी। उस ज्ञानी मुनि को नमस्कार कर इसे पूछा-प्रभो, मुझे याद आता है कि मैंने कहीं आपको देखा है? मुनिने कहा बच्ची, तू पूर्वजन्म में ब्राह्मणी थी, तेरा नाम लक्ष्मीमती था और सोमशर्मा तेरा भर्त्ता था। तूने अपने जाति के अभिमान में आकर मुनिनिन्दा की। उसके पाप से तेरे कोढ़ निकल आया। तू उस दुःख को न सहकर आग में जल मरी। इस आत्महत्या के पाप से तुझे गधी, सुअरी और दो बार कुत्ती होना पड़ा। कुत्ती के भव से मरकर तू इस मल्लाह के यहां पैदा हुई है। अपना पूर्व भव का हाल सुनकर काणा को जातिस्मरण ज्ञान हो गया, पूर्वजन्म की सब बाते उसे याद हो उठीं। वह मुनि को नमस्कार कर बड़े दुःख के साथ बोली-प्रभो, मैं बड़ी पापिनी हूँ। मैंने साधु महात्माओं की बुराई कर बड़ा ही नीच काम किया है। मुनिराज, मेरी पाप से अब रक्षा करो, मुझे

कुगतियों में जाने से बचाओं तब मुनिने उसे धर्म का उपदेश दिया। काणा सुनकर बड़ी सन्तुष्ट हुई। उसे बहुत वैराग्य हुआ। वह वहीं मुनि के पास दीक्षा लेकर क्षुल्लिका हो गई। उसने फिर अपनी शक्ति के अनुसार खूब तपस्या की, अन्त में शुभ भावों से मरकर वह स्वर्ग गई। यही काणा फिर स्वर्ग से आकर कुण्ड नगर के राजा भीष्म की महारानी यशस्वती के रूपिणी नाम की बहुत सुन्दर कन्या हुई। रूपिणी ब्याह वासुदेव के साथ हुआ। सच है, पुण्य के उदय से जीवों को सब धन-दौलत मिलती है।

जैनधर्म सबका हित करनेवाला सर्वोच्च धर्म है। जो इसे पालते हैं वे अच्छे कुल में जन्म लेते हैं, उन्हें यश-प्राप्त होता है, वे कुगति में न जाकर उच्च गति में जाते हैं और अन्त में मोक्ष सर्वोच्च सुख लाभ करते हैं।

जातिमद से दुर्दशा
पुष्पदत्ता की कथा

अनन्त सुख के देनेवाले और तीनों जगत् के स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर माया को नाश करने के लिए मायाविनी पुष्पदत्ता की कथा लिखी जाती है।

प्राचीन समय से प्रसिद्ध अजितावर्त नगर के राजा पुष्पचूल की रानी का नाम पुष्पदत्ता था। राजसुख भोगते हुए पुष्पचूलने एक दिन अमरगुरु मुनि के पास जिनधर्म का स्वरूप सुना, जो धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुख की प्राप्ति का कारण है। धर्मोपदेश सुनकर पुष्पचूल को संसार, शरीर, भोगादिकों से बड़ा वैराग्य हुआ। वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनकी रानी पुष्पदत्ता ने भी उनकी देखा-देखी ब्रह्मिला नाम की आर्यिका के पास आर्यिका की दीक्षा ले ली। दीक्षा ले-लेने पर भी इसे अपने बड़प्पन, राजकुल का अभिमान जैसा का तैसा ही बना रहा। धार्मिक आचार-व्यवहार से वह विपरीत चलने लगी। और आर्यिका को नमस्कार, विनय करना इसे अपने अपमान का कारण जान पड़ने लगा। इसलिए यह किसी को नमस्कारादि नहीं करती थी। इसके सिवा इस योग अवस्था में भी यह अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं द्वारा अपने शरीर को सिंगार करती थी। इसका इस प्रकार बुरा, धर्मविरुद्ध आचार-विचार देखकर एक दिन धर्मात्मा ब्रह्मिलाने इसे समझाया कि इस योगदशा में तुझे ऐसा शरीर का सिंगार आदि करना उचित नहीं है। ये बाते धर्मविरुद्ध और पाप की कारण है। इसलिए इनसे विषयों की इच्छा बढ़ती है। पुष्पदत्ता ने कहा-नहीं जी, मैं कहां-सिगार करती हूँ। मेरा

तो शरीर ही जन्म से ऐसी सुगन्ध लिये है। सच है, जिसके मन में स्वभाव से धर्म-वासना न हो उन्हें कितना भी समझाया जाय, उन पर उस समझाने का कुछ असर नहीं होता। उनकी प्रवृत्ति और अधिक बुरे कामों की ओर जाती है। पुष्पदत्ता ने यह मायाचार कर ठीक न किया। इसका फल इसके लिए बुरा हुआ। वह मरकर इस मायाचार के पाप से चम्पापुरी में सागरदत्त सेठ के यहाँ दासी हुई। उसका नाम लैसा पूतिमुखी था, इसके मुँह से भी सदा दुर्गन्ध निकलती रहती थी। इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि वे माया को पाप का कारण जानकर उसे दूर से ही छोड़ दें। यही माया पशुपति के दुःखों का कारण है और कुल, सुन्दरता, यश, माहात्म्य, सुगति, धन-दौलत तथा सुख आदि नाश करनेवाली है और संसार के बढ़ानेवाली लता है। यह जानकर माया को छोड़े हुए जैनधर्म के अनुभवी विद्वानों को उचित है कि वे धर्म की ओर अपनी बुद्धि को लगावें।

गुरु का नाम छिपाना पाप
(आराधना कथा कोश)

जिनके सर्वश्रेष्ठ ज्ञान में यह सारा संसार परमाणु के समान देख पड़ता है, उन सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर निह्व-जिस प्रकार जो बात हो उसे उसी प्रकार न कहना, उसे छुपाना, इस सम्बन्ध की कथा लिखी जाती है।

उज्जैन के राजा धृतिषेण की रानी मलयावती के चण्डप्रद्योत नाम का एक पुत्र था। वह जैसा सुन्दर था वैसा ही गुणवान भी था। पुण्य के उदय से उसे सभी सुख सामग्री प्राप्त थी।

एक बार दक्षिण देश के वेनातट नगर में रहनेवाले सोमशर्मा ब्राह्मण का कालसंदीव नाम का विद्वान पुत्र उज्जैन में आया। वह कई भाषाओं का जाननेवाला था। इसलिये धृतिषेणने चण्डप्रद्योत को पढ़ाने के लिये उसे रख लिया। कालसंदीवने चण्डप्रद्योत को कई भाषाओं का ज्ञान कराये बाद एक म्लेच्छ-अनार्यभाषा को पढ़ाना शुरू किया। इस भाषा का उच्चारण बड़ा ही कठिन था। राजकुमार को उसके पढ़ने में बहुत दिक्कत पड़ा करती थी। एक दिन कोई ऐसा ही पाठ आया, जिसका उच्चारण बहुत क्लिष्ट था। राजकुमार से उसका ठीक ठीक उच्चारण न बन सका।

कालसन्दीवने उसे शुद्ध उच्चारण कराने की बहुत कोशिश कर, पर उसे सफलता प्राप्त न हुई। इससे कालसन्दीव को कुछ गुस्सा आ गया। गुस्से में आकर उसने राजकुमार को एक लात मार दी। चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही सो उसका भी कुछ मिजाज बिगड़ गया। उसने अपने गुरु महाराज से तब कहा-अच्छा महाराज, आपने जो मुझे मारा है, मैं भी इसका बदला लिये बिना न छोड़ूँगा। मुझे आप राजा होने दीजिये, फिर देखिएगा कि मैं आपके इसी पाव को काटकर ही रहूँगा। सच है, बालक कम-बुद्धि हुआ ही करते हैं। कालसन्दीव कुछ दिनों तक और यहाँ रहा, फिर वहाँ से दक्षिण की ओर चला गया। उधर कालसन्दीव को एक दिन किसी मुनि का उपदेश सुनने का मौका मिला। उपदेश सुनकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह मुनि हो गया।

इधर धृतिषेण राजा भी चण्डप्रद्योत को सब राज-काज सौंपकर साधु बन गया। राज्य की बागडोर चण्डप्रद्योत के हाथ में आई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योत ने भी राज्यशासन बड़ी नीति के साथ चलाया। प्रजा के हित के लिये उसने कोई बात उठा न रखी।

एक दिन चण्डप्रद्योत पर एक यवनराज का पत्र आया। भाषा उसकी अनार्य थी। उस पत्र को कोई राजकर्मचारी न बाँच सका। तब राजा ने उसे देखा तो वह उससे बाँच गया। पत्र पढ़कर राजा को अपने गुरु कालसन्दीव पर बड़ी भक्ति हो गई। उसने बचपन की अपनी प्रतिज्ञा को उसी समय भुला दिया। इसके बाद राजा ने कालसन्दीव का पता-लगाकर उन्हें अपने शहर बुलाया और बड़ी भक्ति से उनके चरणों की पूजा की। सच है, गुरुओं के वचन भव्यजनों को उसी तरह सुख देनेवाले होते हैं जैसे रोगी को औषधि।

कालसन्दीव मुनि यहाँ श्वेतसन्दीव नाम के किसी एक भव्य को दीक्षा देकर फिर विहार कर गये। मार्ग में पड़नेवाले शहरों और गाँवों में उपदेश करते हुए वे विपुलाचल पर महावीर भगवान् के समवशरण में गये, जो कि बड़ी शान्ति देनेवाला था। भगवान् के दर्शन कर उन्हें बहुत शान्ति मिली। वन्दना कर भगवान् का उपदेश सुनने के लिये वे वहीं बैठ गये।

श्वेतसन्दीव मुनि भी इन्हीं के साथ थे। वे आकर समवशरण के बाहर आतापन योग द्वारा तप करने लगे। भगवान् के दर्शन कर जब महामण्डलेश्वर

श्रेणिक जाने लगे तब उन्होंने श्वेतसन्दीव मुनि को देखकर पूछा-आपके गुरु कौन हैं, किन से आपने यह दीक्षा ग्रहण की? उत्तर में श्वेतसन्दीव मुनि ने कहा-राजन्, मेरे गुरु श्रीवर्द्धमान भगवान् है। इतना कहना था कि उनका सारा शरीर काला पड़ गया। यह देख श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पीछे जाकर गणधर भगवान् से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा-श्वेतसन्दीव के असल गुरु हैं कालसंदीव, जो कि यहीं बैठे हुए हैं। उनका इन्होंने निह्नव किया-सच्ची बात न बतलाई। इसलिये उनका शरीर काला पड़ गया है। तब श्रेणिक ने श्वेतसंदीव को समझा कर उनकी गलती उन्हें सुझाई और कहा-महाराज, आपकी अवस्था के योग्य ऐसी बातें नहीं है। ऐसी बातों से पाप-बन्ध होता है। इसलिये आगे से आप कभी ऐसा न करेंगे, यह मेरी आप से प्रार्थना है। श्रेणिक की इस शिक्षा का श्वेतसंदीव मुनि के चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा। वे अपनी भूल कर बहुत पछताये। इस आलोचना से उनके परिणाम बहुत उन्नत हुए। यहाँ तक कि उसी समय शुक्लध्यान द्वार कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया। वे सारे संसार द्वारा अब पूजे जाने लगे। अन्त में अघातिया कर्मों को नष्ट कर उन्होंने मोक्ष का अनन्तसुख लाभ किया। श्वेतसंदीव मुनि के इस वृत्तान्त से भव्यजनों को शिक्षा लेनी चाहिये कि वे अपने गुरु आदि का निह्नव न देनेवाले हैं, इसलिये सेवा करने योग्य हैं।

क्षुल्लक भी स्व-गृहस्थ परिवार के बारे में नहीं बोलते (श्री प्रद्युम्नचरित्र)

संकल्प-विकल्प में पड़ी हुई रुक्मिणी तब क्षुल्लक से कहने लगी-'हे प्रभु! मैं आपसे एक जिज्ञासा करती हूँ। कृपया अपने जनक-जननी तथा स्वयं का परिचय देकर मुझे सुखी करें।' क्षुल्लक ने कहा-'जिसने घर-द्वार, माता पिता को त्याग दिया, उससे उसके कुल का परिचय क्यों जानना चाहती हैं?' हे माता! आप सदृश सम्यक्त्व धारण करने वाली नारी को ऐसे अनर्गल प्रश्न नहीं करने चाहिये। फिर भी जब आपने जिज्ञासा प्रकट की है, तो स्पष्ट करता हूँ-नारायण श्रीकृष्ण मेरे जनक हैं एवं आप मेरी माता हैं, कारण श्रेष्ठ श्रावक ही यतियों के माता-पिता हुआ करते हैं।

विज्ञान की सशरीरी अमरत्व की अवधारणा की समीक्षा

विदेही अमर सम्भव, सदेही अमर असम्भव

(शुद्धात्मा ही अमृत, संसारी जीव मरणशील)

(चालः 1.आत्मशक्ति...2.क्या मिलिए...) **-आचार्य कनकनन्दी**

अमर न होते हैं शरीरधारी, शरीर तो पुद्गलस्कन्धमय है।
गलनपुरणमय होता पुद्गल, आत्मा तो अजर अमर अमूर्त है।।
देह के अनेक अन्वयार्थक संज्ञा है, शरीर, देह, काय व कलेवर है।
गात्र, वपु, संहनन, वर्ष्म, विग्रह, मूर्ति, तनु, तनू, घट, गात है।। (1)
''शीर्यते इति शरीरं'' अन्यवयार्थक है, ''चीयतेऽक्षादिभिरिति कायः'' है।
'देह उपचयते-वर्धते' अर्थ है, परिवर्तनशील होने से गात्र है।।
औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पञ्चविध गात है।
उत्तरोत्तर होते हैं सूक्ष्म से सूक्ष्मतम, तथापि परमाणु अधिक अधिकतम है।। (2)
अनादिकालीन कर्मबन्ध से जीव, संसार में सशरीरी भ्रमण करे हैं।
चतुर्गति चौरासीलक्षयोनियों में, जन्मजरामरण व दुःख सहै हैं।।
शरीर नामकर्म से शरीर बने, आयुकर्म उदय से जीवन धारण करे।
अन्तर्मुहूर्त से तैतीस सागर आयु तक, स्व-स्वआयुकर्मानुसार जीवन जीये।। (3)
जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक-चिन्ता, हानि-लाभ से ले सुख-दुःख।
सत्तासम्पत्तिप्रसिद्धिवर्चस्व आदि, सांसारिक परिणाम सभी पौद्गलिक।।
यथा शुद्धात्मा शाश्वतिक सत्य, तथा शुद्ध परमाणु भी शाश्वत सत्य।
यथा सशरीरी की मृत्यु निश्चित, तथा पुद्गलस्कन्धमय देहादि अशाश्वत।। (4)
उपयोग लक्षण है जीव स्वरूप, जो ज्ञानदर्शनसुखवीर्यमय।
अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि, अनन्तचैतन्यगुण वे हैं जीवमयस्वरूप।।
अकालमरण व सकालमरण सम्भव, संसारी जीवों में आयुगति योग्य।
देवनारकीभोगभूमिजचरमोत्तमदेही, नहीं मरते हैं कभी अकालमरण।। (5)

इनके अतिरिक्त शेष संसारी जीव, मर सकते है अकालमरण से।
विषभक्षण, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, श्वासअन्नपाननिरोध आदि से।।
सम्यक्आहार-विहार-विचार, तथाहि अकालमरण अभाव से।
स्व-स्वयोग्य पूर्ण आयु को भोगेंगे, किन्तु अमर असंभव शरीर से।। (6)
आयुक्षय से अवश्य मरण होगा, न बच सकते मंत्र-यंत्रों से।
आहार औषधि रसायन पान से, अमन न सम्भव भौतिक विज्ञान से।।
प्राचीनकाल से सदेह अमर हेतु, हो रहे हैं नानाविध उपाय।
कोई भी अभी तक सदेह अमर न हुआ, किमिया से ले ममी तक से।। (7)
विदेही होकर अवश्य अमर हुए, अभी तक अनन्तानन्त सिद्ध।
और भी ऐसा अमर होते रहेंगे, शुद्ध-बुद्ध-अमूर्तिक ज्ञानानन्द।।
यह परम आध्यात्मिक विज्ञान, अजर-अमर-निरोग बनने हेतु।
इस हेतु करणीय शोध-बोध प्रयोग, 'कनकसूरी' का लक्ष्य अमृत हेतु।। (8)
सविस्तार वर्णन यहाँ न सम्भव, कतिपय वर्णन निम्न उद्धृत।
सविस्तार वर्णन तो आगम से ज्ञेय, ''सत्यसाम्यसुखामृत'' पठनीय।। (9)

ग.पु.का., दि-3/5/2020, रात्रि-9.46

काय शब्द की निरुक्ति

काय शब्द को विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया गया है। 'काय' शब्द की निरुक्ति आचार्यों ने निम्न प्रकार से ही है-

1. ''चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः'' अर्थात् अन्नादि से जिसका पोषण होता है उसे 'काय' कहते हैं। 'काय' शब्द की निष्पत्ति ''चिञ्-चयने'' धातु में 'धञ्' प्रत्यय लगाने से होती है। इसका अर्थ है 'देह'।

'देह' शब्द 'दिह्-उपचये वर्धने' धातु 'धञ्' प्रत्यय लगाने से बना है। सृष्टि के साथ ही अन्नादि के सेवन से शरीर उपचित होता रहता है एवं इसका पालन भी होता रहता है, व स्थिति सुदृढ़ रहती है, अतः इसे 'देह' कहते हैं।

2. 'काय' का एक अर्थ शरीर भी है। 'शरीर' शब्द 'श्रृ-हिंसायाम्' धातु से 'इरिन्' प्रत्यय लगाने से बना है। अर्थात् श्रम, श्वासोच्छ्वास, वाणी, चिन्तन, मलोत्सर्ग

व अनेक बाह्य व आभ्यान्तर क्रियाओं से एवं काल स्वभाव से इसका प्रतिक्षण नाश होता रहता है। अतः इसे 'शरीर' कहते हैं।

3. 'कायति शब्दायते इति कायः' निरुक्ति से 'काय' का एक अर्थ मन भी है। 'कायतीतः कायः' के अनुसार 'काय' का अर्थ 'हृदय' भी किया जाता है। हृदय से रक्त धमन करते समय सशब्द (धुक्-धुक्) स्फुरण भी होता है। यही सशब्द स्फुरण अथवा धुक्-धुक् शब्द जो हृदय का वाचक है, से 'काय' पद का ग्रहण किया जाता है। हृदय गति या हृदय गति जन्य शब्द ही 'काय' है तथा हृदय गति बनाये रखना ही काय चिकित्सा है।

4. काय का एक अर्थ जठराग्नि भी किया गया है। शरीर, बल, आरोग्य, आयु एवं प्राण ये सभी जठराग्नि के अधीन हैं। अग्नि को जीवन का मूल आधार बताते हुए आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि अग्नि के नष्ट हो जाने पर पुरुष की मृत्यु हो जाती है, अग्नि के सम रहने पर व्यक्ति निरोगी रहता है तथा चिरकाल तक जीवित रहता है। अग्नि के विकृत हो जाने पर व्यक्ति रोगी हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से काय का सामंजस्य

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में निर्माण की प्रक्रिया को Anbolism तथा विनाश की प्रक्रिया को Ketabolism तथा दोनों के सामञ्जस्य से बनी रहने वाली स्थिति को Metabolism कहते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'काय' शब्द से Anbolism (चीयतेऽन्नादिभिरित कायः), 'शरीर' शब्द से Ketabolism (शीर्यते इति शरीरम्), तथा 'देह' शब्द से Metabolism का बोध होता है।

काय-	चीयतेऽन्नादिभिरित कायः	=Anbolism
शरीर-	शीर्यते इति शरीरम्	=Ketabolism
देह-	दिह-उपचये-वर्धने	=Metabolism

शरीर में हर समय उसके धारक तत्त्वों का चय होना व संहार होना (Wear & Tear phenomenon) जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आयुर्वेद में इसे ही 'धातु पाक' संज्ञा से वर्णित किया गया है। अन्य दृष्टि से जब शरीर में उपयुक्त आहार द्रव्य का जठराग्नि द्वारा पाक होकर नवीन शरीर घटक द्रव्यों का

निर्माण होता है तब इस अवस्था को 'प्रसाद पाक' Anbolism एवं, इसके विपरीत शरीर में विघटन या तोड़-फोड़ करके शरीर के घटक द्रव्यों के उपयोग व मलों की उत्पत्ति की क्रिया होती है तो उस अवस्था को 'मल पाक' Ketabolism कहा जाता है। 'प्रसाद पाक' व 'मल पाक' को सम्पूर्णतः 'धातु पाक' Metabolism कहते हैं। शरीर की यथास्थिति व सक्रियता का यही आधार है।

काय शब्द के पर्याय

'अमरकोश' में काय शब्द के निम्न पर्याय बताये गये हैं-कलेवर, गात्र, वपु, शरीर, बर्ष्म, विग्रह, काय, देह, मूर्ति, तनु एवं तनू-ये समस्त पर्याय एकार्थवाची हैं, इनसे 'काय' का ही बोध होता है।

1.कलेवर-'कले शुक्रे मधुराव्यक्तध्वनौवा वरश्रेष्ठं इति कलेवरम्'। (अरण दत्त) अर्थात् जो मधुर अव्यक्त ध्वनि करे व शुक्र का श्रेष्ठ परिणाम हो उसे कलेवर कहते हैं।

2.गात्र-'गाङ्गगतौ' धातु में 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगाने पर 'गात्र' शब्द बनता है जिसका अर्थ है जो गमनशील या परिवर्तनशील होता है वह 'गात्र' है।

3.वपु-'डुवप बीज वपने'-वपति उप्यते वा, 'उसि' प्रत्यय लगाने पर 'वपु' का निर्माण होता है। अर्थात् देहान्तर में उपयोग्य फलों के बीजों का जिसमें आरोपण किया जाता है या दूसरे जन्म में प्रथम कृत कर्मों का जो फल भोगता है उसे 'वपु' कहते हैं।

4.संहनन-'सहन्ति संहन्यते वा।' जिसमें पंच महाभूतों का समुचित संगठन हो या जिसका सतत सहंनन, चयापचय होता हो उसे सहंनन कहते हैं।

5.शरीर-'श्रृणाति शीर्यते वा' अर्थात् जो क्षण प्रतिक्षण क्षीण होता है उसे 'शरीर' कहते हैं।

6.बर्ष्म-'वपु सेचने' वर्षति वृष्यते वा, मनिन् प्रत्यय। अर्थात् जिसमें प्रजनन सामर्थ्य हो उसे 'वर्ष्म' कहते हैं।

7.विग्रह-'विविधं सुखादि ग्रहणाति विविधैः व्याधिभिर्गृह्यते वा।' 'अच्' प्रत्यय लगने से विग्रह शब्द बनता है। इसका अर्थ सुख-दुख को ग्रहण करने वाला, विभिन्न रोगों से ग्रस्त होने वाला है।

8.काय–'चीयतेऽन्नादिभिरित कायः'। अर्थात् अन्नादि आहार से जिसका पोषण होता हो उसे 'काय' कहते हैं।

9.देह–दिह्-उपचये-दिह्यते, अर्थात् जिसका क्रमशः संवर्धन हो उसे 'देह' कहते हैं।

10.मूर्ति–'तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्ति।' (च.शा.) 'मूर्च्छा मोह समुच्छ्राययोः।' जो आकृतिवान् हो उसे मूर्ति कहते हैं।

11.तनु–'तनु विस्तारे।' जिसका विस्तार या प्रसारण हो उसे 'तनु' कहते हैं।

12.तनू–'तनोति तन्यते वा।' जो फैले या बढ़े या जो आकार आदि पोषण प्राप्त कर बढ़ती हो या जिनमें आकार से नित्य नव निर्माण द्वारा परिवर्धन हो उसे 'तनू' कहते हैं।

1. मन (सत्व) के अनुसार काय के भेद

'काय' के भेद काय में रहने वाले सत्व (मन) की वृत्तियों के अनुसार किए जाते हैं। रोग चाहे शारीरिक हों या मानसिक, उसकी चिकित्सा के पूर्व शरीर का ही नहीं, मन (अंतःस्थल) का भी परीक्षण आवश्यक है। मन शब्दादि विसर्गों, इंद्रियों एवं प्राणों के कारण काय में सत्व, रजस्, व तामस वृत्तियों का उदय होता है। सत्व गुण प्रकाशक, निर्मल एवं शांत होता है तथा उसका स्वभाव आसक्ति व प्रवृत्ति है। तमोगुण अज्ञानता का कारण है तथा उसका स्वभाव आलस्य एवं बुद्धि की मूढ़ता है। **(प्रो. अजय कुमार शर्मा)**

आयुर्वेद में निम्न तीन प्रकार के कायों का वर्णन है-

1.सात्विककाय-7 भेद

2.राजसिक काय-6भेद

3.तामसकाय-3भेद

इसमें शुद्ध सात्विक काय को कल्याणांश की बहुलता होने से अदोष (दोष रहित) कहा है। दोषांश के आधिक्य के कारण राजस शरीर को सदोष कहा गया है तथा मोहांश के अधिक होने से तामस शरीर को भी सदोष कहा गया है। इस विषय में आचार्य चरक ने सात्विक काय को 'दैव शरीर' राजस काय को 'मानव शरीर' तथा तामस काय को 'पशु शरीर' की संज्ञा दी है।

1. सात्विक काय के भेद एवं लक्षण

सात्विक काय के निम्न 7 भेद हैं (च.शा. 4 एवं सुश्रुत शा.4)

ब्राह्य काय	आर्ष काय	माहेन्द्र काय	याम्य काय	वारुण काय	कौबेर काय	गान्धर्व काय
शुचि	अध्ययन प्रिय	ऐश्वर्यवान्	कर्त्तव्य	शूरवीर	स्थान सम्पन्न	नृत्य प्रिय
सत्यवादी जितेन्द्रिय	व्रत प्रिय	आदेय वाक्य	अकर्त्तव्य मर्यादावान।	शुचि	मान सम्पन्न	गीत प्रिय
संविभागी	होम प्रिय	यज्ञ करने वाला	प्राप्तकारी	अशुचि द्वेषी	उपभोग सम्पन्न	वादिज प्रिय
ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न	ब्रह्मचर्य	शूरवीर ओजस्वी	असम्प्रहारी	यज्ञ में रुचि	परिवार सम्पन्न	स्त्रोत पाठी
प्रवचन,	अतिथि प्रिय	तेजोयुक्त	उत्थानवान	अम्भोविहार रति	धर्म नित्य	श्लोक कुशल
प्रतिवचन-सम्पन्न	व्रतपोपवास प्रिय मद	क्षुद्र कर्म न	ऐश्वर्यवान	अक्लिष्ट कर्म	कर्म नित्य	इतिहास प्रिय
स्मृतिवान काम रहित	रहित अभिमान रहित	करनेवाला	अलोभी	स्थान प्रसादी	अर्थ नित्य	गंध प्रिय
क्रोध रहित	राग रहित	दूरदर्शी	रोगरहित	शीत सेवी	शुचि	माल्य प्रिय
लोभ रहित	द्वेष रहित	धर्मरत	ईर्ष्या रहित	सहिष्णु	सुखविहारी	अनुलेपन प्रिय
मान रहित	मोहरहित	अर्थरत कामरत	द्वेष रहित	पिङ्गलाक्ष	व्यक्तकोपी	वसन प्रिय
मोह रहित	लोभ रहित	महात्मा	मोह रहित	हरति केश	व्यक्त प्रसादी	स्त्रीविहार
ईर्ष्या रहित	प्रतिभास रहित	आज्ञावान	दृढ़ोत्थानवान	प्रियवादी	मध्यस्थ	काम नित्य
सर्वप्राणियों से	वचन सम्पन्न	सतत् शस्त्र बुद्धि।	निर्भय		सहिष्णु	अनसूयक
समभाव।	विज्ञान सम्पन्न	भृत्य भरण	शुचि		अर्थ संचयी	
आस्तिक अमर्ष	मेधा सम्पन्न		मद रहित		महाप्रसव शक्ति	
रहित वेदाभ्यासी	दोष रहित					
	जप प्रिय					

2. राजस काय के भेद एवं लक्षण

राजस काय निम्न छः भेद हैं

आसुर काय	राक्षस काय	पैशाच काय	सार्पकाय	प्रेतकाय	शाकुन काय
शूर	अमर्षि	महाशी	क्रोधी	आहारकायी	अनुसक्त कामी
चण्ड	अनुबंध कोपी	स्त्रैण	शूर	अतिदुःखशील	अजस्राहारप्रिय
असयक	छिद्र प्रहारी	स्त्रीरहस्कामी	अक्रुद्ध भीरु	असूयक	अनवस्थित (चंचल)
ऐश्वर्यवान	क्रूर	अशुचि	तीक्ष्ण	असंविभागी	अमर्षी
छद्मवेशी	आहारगत मात्र रुचि	शुचिद्वेषी	आयासबहुल	अतिलोलुप	असंचयी
रौद्र	आमिष प्रिय	भीरु	संत्रस्त	अकर्मशील	प्रवृद्ध काम सेवी
निर्दयी	स्वप्न प्रिय	भीषयिता	गोचर	आलसी	
आत्मपूजक	आयास बहुल	विकृताहारशील	आहारप्रिय	अदाता	
एकाशी	एकान्त ग्राही	विकृतिविहारशील	विहार प्रिय		
बहुभोजी	रौद्र व ईष्यालु	उच्छिष्टाहारी	चण्ड, मायावी		
	असूयक	तीक्ष्ण	विहारचपल		
	धर्मवाह्य प्रयुक्त	साहसप्रिय	आचार चपल		
	भृशमात्र तमोगुणी	स्त्रीलोलुप			
		निर्लज्ज			

3.तामसकाय–तामस काय के निम्न तीन भेद है। (च.शा.4/39 एवं सु.शा.)

तामस काय के भेद एवं लक्षण

पाशव काय	मात्स्य काय	वानस्पत्य काय
निराकरिष्णु	भीरू	आलसी
अमेधस	अबुध	केवलाभिनिविष्टाहारी
जुगुप्सिताचारी	अनवस्थित	सर्वबुद्धयङ्गहीन
जुगुप्सिताचारी	आहारलोभी	एक स्थान रति
मैथुन प्रिय	अनुषक्त काम	सत्व वर्जित
स्वप्नशील	अनुषक्त क्रोध	धर्म वर्जित
दुर्मेधा	सरणशील (यात्राप्रिय)	काम वर्जित
मन्द	तोय कामी, मूर्ख परस्परभिमर्द	अर्थ वर्जित

एक उत्तम चिकित्सक के लिये इन विविध कायों का ज्ञान परमआवश्यक है, क्योंकि आयुर्वेद में शरीर-इन्द्रिय-सत्व (मन) एवं आत्मा के संयोग को ही आयु कहा गया है एवं चिकित्सा सिद्धान्त भी इन्हीं के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं।

2. सार के अनुसार काय के भेद

सार के अनुसार अर्थात् शरीर में उत्कृष्ट धातुओं की स्थिति के आधार पर काय के निम्न आठ भेद होते हैं-

1. त्वक् सार
2. रक्त सार
3. मांस सार
4. मेद सार
5. अस्थि सार
6. मज्जा सार
7. शुक्र सार
8. सत्व सार

विभिन्न सार एवं उनके लक्षण

क्र.	सार	शारीरिक लक्षण	मानसिक लक्षण
1.	त्वक्सार	त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, कोमल, प्रसन्न, पतली, गहरी, सुकुमार, रोमयुक्त व चमकदार होती है।	सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य प्रसन्नता एवं दीर्घायु का सूचक है।

2.	रक्तसार	कान, नेत्र, अक्षि, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हाथ पैर के तलवे ललाट एवं मूत्रेन्द्रिय स्निग्ध, रक्त वर्ण की चमकदार होती है।	सुख, धारणाशक्ति, मनस्विता सुकुमारता, अधिक बल, क्लेश सह, व गर्मी को सहन करने वाला होता है।
3.	मांससार	शंख प्रदेश, ललाट, ग्रीवाका पश्चात्भाग, नेत्र, गाल, हनु, गर्दन, कन्धा, उदर, छाती, हाथ पैर की संधियां भारी, स्थिर व मांस से भरी दृढ़ होती हैं।	सहनशील, धीरता, अलोभी धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य बल व दीर्घायु का सूचक हैं।
4.	मेदसार	स्वर, नेत्र, केश, रोम, नख, दंत ओष्ठ, मूत्र एवं मल में स्निग्धता मिलती है।	धन, ऐश्वर्य, सुख उपभोग, दानशीलता, सरलता, कोमलता व सेवाभाव का सूचक है।
5.	अस्थिसार	एड़ी, गुल्फ, जानु, जत्रु, चिबुक, सिर, शरीर की संधियां, अस्थि, नख व दंत सुदृढ़ व स्थूल होते है।	अति उत्साही, अधिकक्षय शील, क्लेशसह, दृढ़ शरीर वाले व दीर्घायु होते हैं।
6.	मज्जासार	बलवान, वर्ण व स्वर कोमल व स्निग्ध, संधियां मोटी	शास्त्रज्ञान सम्पन्न, विज्ञानसम्पन्न धनी, सन्तान युक्त
7.	शुक्र सार	सौम्य दृष्टि एवं प्रकृति वाले, नेत्र दुग्धपूरित, श्वेत वर्ण, दांत चिकने व गोलाकार, दृढ़, समा-नकार, ठोस व अग्रभाग बराबर, शरीर का वर्ण, व स्वर निर्मल व स्निग्ध एवं चमकदार होता है। स्त्रियों के प्रिय होते हैं।	दयालु, प्रसन्नचित्त, बलवान, सुख, ऐश्वर्य आरोग्य, धन, आदर, एवं अधिक संतान के पात्र होते हैं। सुखी, स्वस्थ एवं संतान युक्त होते हैं।
8.	सत्व सार	इनकी गतियां स्थिर होती हैं।	अति उत्साही, पवित्र, बुद्धिमान, चतुर, धीर, पराक्रमी, गम्भीर चेष्टा युक्त, निरन्तर कल्याण की कामना युक्त, विषाद रहित होते हैं।

3. प्रकृति के अनुसार काय के भेद

प्रकृति के अनुसार काय के निम्न 7 भेद हैं-

1.वातिक प्रकृति 4,5,6.द्वन्दज प्रकृति

2.पैत्तिक प्रकृति 7.सम प्रकृति

3.कफज प्रकृति

विभिन्न प्रकृति एवं उनके लक्षण

क्र.स.	प्रकृति	लक्षण
1.	**वात प्रकृति**	अल्प केश युक्त, कृश, रुक्षशरीर वाला, अधिक बोलने वाला, रुक्ष स्वर, गति, चेष्टा एवं आहार लघु एवं चंचल होता है। शरीर में कण्डारा एवं सिरायें अधिक दिखती हैं। शीघ्र ही कार्य को आरंभ करने वाले तथा शीघ्र ही दुःखी होने वाले होते हैं। किसी बात को शीघ्रग्रहण करते हैं व शीघ्र भूल जाते हैं। अंग फटे हुये, चलते समय संधियों से आवाज आती है। नख, दंत, केश, लोम, श्मश्रु खुरदुरे होते हैं। अल्पायु व अल्पसंतान वाले होते हैं।
2.	**पित्त प्रकृति**	अकाल में बाल सफेद होना, बुद्धिमान, अतिस्वेद आना, शीघ्र ही क्रोध आना, शीत प्रिय, पिप्पलु, व्यङ्ग, तिल एवं पिड़िकायें अधिक होती हैं। शीघ्र ही झुर्रियां पड़ती हैं एवं खालित्य होता है। शरीर के रोम, केश, श्मश्रु कपिल वर्ण के होते हैं। मल, मूल एवं स्वेद अधिक एवं दुर्गन्ध युक्त होता है। अल्प शुक्र, अल्पमैथुनशक्ति व अल्प संतान वाले होते हैं।
3.	**कफ प्रकृति**	गंभीर बुद्धि, स्थूलाङ्ग, सुकुमार, गौर वर्ण, गंभीर केश युक्त, अधिक शुक्र युक्त, अधिक मैथुनशील, अधिक संतान वाले, सुसंगठित शरीर वाले, अंग पुष्ट एवं परिपूर्ण होते हैं। मंद चेष्टा व अल्प आहार-विहार करने वाले, कार्य को शीघ्र न करने वाले, आलस्य युक्त, दृढ़ व स्थिर गति युक्त, भूख, प्यास, ताप व पसीने से कष्ट नहीं होता, संधिबंधन दृढ़, दृष्टि, मुख, वर्ण, स्वर प्रसन्न एवं स्निग्ध होते हैं।

4,5,6. **द्वन्दज प्रकृति** द्वन्दज प्रकृति पुरुष में दोनों दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं- (वात-पैत्तिक) (वात-श्लैष्मिक) (पित्त श्लैष्मिक)

7. **सम प्रकृति** उपरोक्त वर्णित तीनों प्रकृतियों के सम्मिलित लक्षण पाए जाते हैं।

जीवों के लिए पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीरवाङ् मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्।। (19) स्व.सूत्र

शरीर वाङ् मनस्प्राण-अपानाः जीवानां पुद्गलानां उपकारः।

The function of matter forms the physical basis of the bodies, speech mind the respiration of the souls.

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है।

इस सूत्र में संसारी जीवों के लिए पुद्गल का क्या-क्या उपकार है उसका वर्णन किया गया है। संसारी जीवों के पाँचों शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल से बनते हैं अर्थात् शरीर आदि पुद्गल स्वरूप है। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में विश्व में स्थित 23 पौद्गलिक वर्गणाओं में से किन-किन वर्गणाओं से उपरोक्त शरीर आदि बनते हैं उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है :-

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।

णिस्सासो वि य तेजोवग्गणखंधादु तेजगं।।(607) (गो.सा.)

तेईस जाति की वर्गणाओं में से आहारवर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियक आहारक, ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणा रूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।

अट्ठविहकम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।(608)

भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार का वचन मनोवर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमल के आकार का द्रव्यमन तथा कार्माण वर्गणा के द्वारा आठ प्रकार के कर्म बनते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

''शरीर आदि पौद्गलिक है'' इसको सिद्ध करने के लिए तार्किक शिरोमणि भट्ट अकलंक देव ने राजवर्तिक में तार्किक एवं वैज्ञानिक प्रणाली से बहुत सुन्दर वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार है:-

1. शरीर पौद्गलिक - औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँचों शरीर कर्म मूलतः सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष है और जो स्थूल है वह प्रत्यक्ष है। मन अप्रत्यक्ष ही है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हैं- क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं अतः इन्द्रियों से अतीत हैं। अतः शरीर पुद्गल है।

2. कार्माण शरीर पौद्गलिक : यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे ब्रीहि (चावल) आदि धान्य, पानी धूप आदि मूर्तिमान पुद्गलों के सम्बन्ध से पकता है। इसलिए पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड़ कंटक आदि मूर्तिमान पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से पकता है, अर्थात् इष्टानिष्ट बाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है, अतः कार्माण शरीर पौद्गलिक है क्योंकि कोई भी अमूर्त्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता तथा अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थ से विपच्यमान दृष्टिगोचर नहीं होता।

3. वचन पौद्गलिक-पुद्गल के निमित्त से होने से दोनों प्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन दो प्रकार के हैं-द्रव्यवचन और भाववचन। दोनों ही पौद्गलिक हैं, क्योंकि दोनों ही पुद्गल के कार्य हैं अर्थात् पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं। भाववचन, वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं। अतः भाववचन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक है, यदि वीर्यान्तराय और मति-श्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मों का क्षयोपशम नहीं हो तो भाववचन हो ही नहीं सकता। भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचन रूप से परिणत होते हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया से जो पुद्गल वर्गणाएँ वचन रूप परिणत होती हैं, उसे द्रव्यवचन कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्यवचन भी पौद्गलिक हैं।

प्रश्न-यदि शब्द पौद्गलिक है तो एक बार ग्रहण होने के बाद उनका पुनः ग्रहण क्यों नहीं होता? अर्थात् एक बार उच्चारण करने के बाद वही शब्द पुनः सुनाई क्यों नहीं देता?

उत्तर-बिजली के समान असंहतत्त्व होने से पुनः गृहीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार चक्षुइन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध बिजली द्रव्य एक बार चमककर फिर शीघ्र ही विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है अतः पुनः आँखों से दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार

श्रोतेन्द्रिय के द्वारा एक बार उपलब्ध (सुने गये) वचन सम्पूर्ण रूप से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुनः दोबारा नहीं सुनाई देते।

प्रश्न-यदि शब्द पौद्गलिक हैं तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर-घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्ध द्रव्य रसादि की अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। जैसे-घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्ध द्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होते।

शब्द को अमूर्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द का मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध देखा जाता है। ''शब्द अमूर्तिक है अमूर्त्त आकाश का गुण होने से'' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मूर्तिमान, पौद्गलिक पदार्थों के द्वारा ग्रहण होता है। कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्तिमान श्रोतेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है, जो अमूर्त्त होता है वह किसी मूर्तिमान इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होता। वायु के द्वारा प्रेरित रूई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशा में स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही अधिक सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने पर समीपस्थ व्यक्ति को भी सुनाई नहीं देता है। इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यंत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों में भिजवाया भी जाता है। अमूर्त्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा प्रेरित नहीं होता। नल, बिल, रिकॉर्ड आदि में नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिमान किसी पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध हुआ नहीं देखा जाता है।

मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत होने से शब्द को मूर्तिमान जानना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत (तिरोभूत) होने वाला तारा आदि मूर्तिक है, उसी प्रकार सिंह की दहाड़, हाथी की चिंघाड़ और भेरी का घोष आदि महान् शब्द के द्वारा शकुनि (पक्षियों) के मन्द शब्द तिरोभूत होते हैं तथा कांसी आदि के बर्तन गिरने पर उत्पन्न ध्वनि, ध्वनि अन्तर के आरम्भ में हेतु होती है अथवा गिरि-गह्वर-

कूप आदि में शब्द करने पर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है। पर्वत की गुफाओं आदि से टकराकर प्रतिध्वनि होती है। अतः शब्द मूर्तिक है।

प्रश्न-अमूर्तिक पदार्थों का भी मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा तिरोभाव देखा जाता है, जैसे मूर्तिमान मदिरा के द्वारा अमूर्तिक विज्ञान (इन्द्रिय ज्ञान) का तिरोभाव देखा जाता है। इसलिए मूर्तिमान पदार्थों से मूर्तिमान पदार्थों का ही अभिभव होता है, वह निश्चित हेतु नहीं है।

उत्तर-मूर्तिक मदिरा के द्वारा इन्द्रिय ज्ञान का जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्त्त से मूर्तिक का ही अभिभव है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलों के आधीन होने से पौद्गलिक है, अन्यथा (यदि विज्ञान पौद्गलिक नहीं है तो) आकाश के समान विज्ञान का भी मदिरा आदि के द्वारा अभिभव नहीं हो सकता था। अतः उपर्युक्त हेतुओं से शब्द पौद्गलिक पदार्थ सिद्ध होता है।

4. प्राणापान पौद्गलिक- कोष्ठ (उदर) की वायु को उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीर कोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती है, उस निःश्वास को अपान कहते हैं। ये सोच्छ्वास (प्राणापान) आत्मा के जीवन में कारण होते हैं अतः इनके द्वारा पुद्गल आत्मा का उपकार करता है।

इन सबका प्रतिघात देखा जाता है अतः ये सब मूर्तिक है। उन प्राणापान और वाङ् (वचन), मन, श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात आदि होने से इनको मूर्तिमान (पौद्गलिक) समझना चाहिए। जैसे-भय के कारणों से तथा वज्रपात आदि के शब्दों के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है। हाथ से मुख और नाक को बंद कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ में कफ आदि के आ जाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है। अतः मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के द्वारा अमूर्तिक पदार्थ के

अभिघात और अभिभव (रुकावट) नहीं हो सकते।

श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इनके द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है, क्योंकि प्राणापानादि कर्म आत्मा के कार्य हैं। अतः आत्मारूपी कारण के बिना श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य नहीं हो सकता, जैसे किसी यंत्र मूर्ति की चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व बताती हैं उसी प्रकार प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्मा की सिद्धि करती हैं।

जीवों के लिए पुद्गल द्रव्य का अन्यान्य उपकार

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।(20)

जीवानां सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाश्च पुद्गलानामुपकारो भवति।

Saul experiences pain, pleasure, life and death through the angency of matter.

सुख, दुख, जीवन और मरण ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

19 नम्बर सूत्र में बताया गया कि परिणाम विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे-शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय क्रम से गमन, व्यवहरण, चिन्तवन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत उपकार हैं, उसको बताने के लिए इस सूत्र में कहते हैं कि सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

1. **सुख** - बाह्य कारणों के कारण और साता वेदनीय के उदय से जो प्रसन्नता होती है, उसे सुख कहते हैं। जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा में जो परिणाम होते हैं, उसे सुख कहा जाता है।

2. **दुःख**-असाता वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा परिणामों में संक्लेश होता है, वह दुःख है। जब आत्मा से बद्ध असाता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्रादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता हे, तब आत्मा में जो संक्लेश परिणाम होते हैं, उसे दुःख कहा जाता है अर्थात् साता वेदनीय के उदय को सुख और असाता वेदनीय के उदय को दुःख कहते हैं।

3. **जीवित**-भवस्थिति में कारणभूत आयुकर्म द्रव्य से सम्बन्धित जीव के

प्राणापान लक्षण क्रिया का उपरम नहीं होना ही जीवित हैं। भवधारण में कारण आयु नाम का कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) क्रिया का चालू रहना, उसका उच्छेद नहीं होना ही जीवित है।

4. मरण- उस श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही मरण है। जीव के जीवित में कारणभूत श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही जीव का मरण है।

पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण-विज्ञान जीवों का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।। (21)

परस्परोपग्रहो जीवानां उपकारः भवति।

The mundane souls help the support each other.

परस्पर सहायत में निमित्त होना, यह जीवों का उपकार है।

स्वामी-सेवक आदि कर्म से वृत्ति (व्यापार) को परस्परोपग्रह कहते हैं। स्वामी, नौकर, आचार्य (गुरु), शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं। जैसे-स्वामी अपने धन का त्याग करके (रूपयादि प्रदान करके) सेवक का का उपकार करता है और सेवक स्वामी के हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है। आचार्य (गुरु) उभय लोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार करते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।

यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र में 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट सुख-दुःख, जीवित और मरण इन चारों का ही प्रतिनिर्देश किया है। इन चारों के सिवाय जीवों का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नहीं है, किन्तु पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट ही उपकार है।

स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुनः 'उपग्रह' वचन का प्रयोग सुखादि में सर्वथा नियम परस्परोपकार का नहीं है, यह बताने के लिए पुनः उपग्रह वचन का प्रयोग किया है, क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को वा दो जीवों को वा बहुत से जीवों को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दुःखी करता हुआ एक जीव को, दो जीवों को या बहुत से जीवों को दुःखी करता है अथवा कभी

एक, दो बहुत से जीवों तथा अपने आपके लिए सुख या दुःख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवों के लिए सुख-दुःख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वयं दुःखी भी दूसरे को सुखी और स्वयं सुखी भी दूसरे को दुःखी कर सकता है। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है कि सुखी सुख पहुँचाये और दुःखी दुःख ही करे।

भौतिक तत्त्व के मूलभूत गुण पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। (23)

Pudgala are matter has four chief characteristics associated with it. viz, touch, taste, smell and colour.

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

19 एवं 20 नम्बर सूत्र में पुद्गल द्रव्य के उपकार का वर्णन किया गया, परन्तु अभी तक पुद्गल द्रव्य के लक्षण का वर्णन नहीं किया गया था। इस सूत्र में पुद्गल द्रव्य के लक्षण का वर्णन किया गया है। जो स्पर्श किया जाता है, उसे या स्पर्शन मात्र को स्पर्श कहते हैं। कोमल, कठोर, भारी, हल्का, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्ष के भेद से वह आठ प्रकार का है। जो स्वाद रूप होता है या स्वाद मात्र को रस कहते हैं। तीखा, खट्टा, कडुवा, मीठा और कसैला के भेद से वह पाँच प्रकार का है। जो सूँघा जाता है या सूँघने मात्र को गंध कहते हैं। उपरोक्त गंध के सुगन्ध-दुर्गन्ध ऐसे दो भेद हैं। दृश्यमान श्वेत आदि वर्ण है। वह पाँच प्रकार का है। ये स्पर्श आदि मूल भेद हैं। वैसे, प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। जैसे-रस में मधुर रस को ले-चावल भी मधुर है, केला भी मधुर है, गन्ना रस भी मधुर है, गुड़, शक्कर और चीनी भी मधुर है। प्रत्येक की मधुरता में हीनाधिकता है क्योंकि मधुर रस में जो अनुभाग प्रतिच्छेद (शक्त्यंश) है, उसमें हीनाधिकता है। इसी प्रकार उपरोक्त प्रत्येक द्रव्य के शक्ति-अंश में भी हीनाधिकता है। इसी प्रकार स्पर्श, गन्ध और वर्ण वाले कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्य से सदा सम्बन्ध है।

भौतिक तत्त्व की विभिन्न अवस्थाएँ पुद्गल की पर्याय

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च। (24)

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमः-छाया-आतप-उद्योत-

वन्तश्च पुद्गला भवन्ति।

Manifestations of pudgala (matter) take the form of sound, union fineness, grossness, figure, divisiblity, darkness, shade or image, sunshine and moonlight.

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं।

इस सूत्र में आधुनिक विज्ञान की, भौतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ तथा रासायनिक विज्ञान की शाखाओं का वर्णन किया गया है। पाँचों इन्द्रियों के विषय अर्थात् पाँचों इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य सम्पूर्ण पदार्थ पुद्गल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जैसे-कान से सुनने योग्य शब्द, आँखों से देखने योग्य वर्ण एवं संस्थान, प्रकाश-अन्धकार, छोटा-बड़ा आकार आदि। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है-

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।। (16)

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इससे सहित जो हैं वे सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं।

1.शब्द-शब्द के दो भेद हैं (1) भाषात्मक शब्द, (2) अभाषा रूप।

भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं-(1) साक्षर, (2) अनक्षर।

जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृति शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं।

जिससे उनके सातिशय ज्ञान के स्वरूप का पता लगता है, ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। ये दोनों प्रकार के शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं-(1) प्रायोगिक, (2) वैस्रसिक। मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैस्रसिक शब्द हैं तथा तत, वितत, घन और सौषिर के भेद से प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं। चमड़े से मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दुर्दर से जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत् शब्द है। तांत वाले वीणा और सुघोष आदि के ताडन से जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत शब्द है। ताल, घंटा आदि ताडन से जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बाँसुरी और शंख आदि के फूँकने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है।

2.बन्ध-बन्ध के दो भेद है-वैस्त्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैस्त्रसिक बन्ध है। जैसे स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्त्रसिक बन्ध है और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं-अजीव सम्बन्धी और जीवाजीव सम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदि का अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।

3.सूक्ष्मत्व-सूक्ष्मत्व के दो भेद हैं-(1) अन्त्य, (2) आपेक्षिक। परमाणुओं में अन्त्य सूक्ष्मत्व है तथा बेल, आँवला और बेर आदि में आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है।

4.स्थूलत्व-स्थौल्य भी दो प्रकार का है-(1) अन्त्य, (2) आपेक्षिक जगव्यापी महास्कन्ध में अन्त्य स्थौल्य है तथा बेर, आँवला और बेल आदि।

5.संस्थान-संस्थान का अर्थ आकृति (आकार) है। इसके दो भेद हैं-(1) इत्थंलक्षण, (2) अनित्थं लक्षण। जिसके विषय में यह संस्थान इस प्रकार का है यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं तथा इसके अतिरिक्त मेघ आदि के जो आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में यह इस प्रकार का है यह नहीं कहा जा सकता है वह अनित्थंलक्षण संस्थान है।

6.भेद-भेद के छह भेद हैं-(1) उत्कर, (2) चूर्ण, (3) खण्ड, (4) चूर्णिका, (5) प्रतर, (6) अणुचटन। करोंति आदि से जो लकड़ी को चीरा जाता है वह उत्कर नाम का भेद है। जौ और गेहूँ आदि का जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण नाम का भेद है। घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते है वह खण्ड नाम का भेद है। उड़द और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नाम का भेद है।

7.अन्धकार-जिससे दृष्टि में प्रतिबन्ध होता है जो प्रकाश का विरोधी है वह तम कहलाता है।

8.छाया-प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती है वह

छाया कहलाती है। उसके दो भेद हैं-एक तो वर्णादि के विकार रूप से परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्ब रूप।

9.आतप-जो सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते है।

10.उद्योत-चन्द्रमणि और जुगनू आदि के निमित्त से जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते है।

भौतिक तत्त्व के मूल भेद (पुद्गल के भेद)

अणवः स्कन्धाश्च। (25)

Matter exists in the form of indivisible elementary particles (atom) and their combinations (molecule).

पुद्गल के दो भेद है-अणु और स्कन्ध।

जो पूरण, गलन धर्म वालो हो उसे 'पुद्गल' कहते हैं। पूरण अर्थात् मिलना गलन अर्थात् अलग होता है। जैसे-जल को ठंडा करने से जल के कण परस्पर मिलकर बर्फ बन जाते हैं एवं जल को गर्म करने से जल के कण अलग-अलग होकर वाष्प बन जाते हैं। विश्व में दृश्यमान तथा अन्य चारों इन्द्रियों से जानने योग्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। मुख्यतः इस पुद्गल के दो भेद हैं-(1) अणु, (2) स्कन्ध।

एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे 'अणु' कहलाते है। यह इतना सूक्ष्म होता है जिससे वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। कहा भी है-

''अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विआणाहि।।''

जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है, और जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो।

जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणु जाति और स्कन्ध जाति के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार पुद्गलों की इन दोनों जातियों के आधारभूत अनन्त भेदों के सूचन करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। यद्यपि सूत्र में अणु और स्कन्ध इन दोनों पदों का समसित रखा जा

सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूप से जो कथन किया है वह इस सूत्र से पहले कहे गये दो सूत्रों के साथ अलग-अलग सम्बन्धी बतलाने के लिए किया है जिससे यह ज्ञान हो कि अणु, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, छाया, आतप और उद्योत वाले हैं तथा स्पर्शादि वाले भी हैं।

कुन्दकुन्द देव ने पुद्गल द्रव्य के भेद-प्रभेदों का सविस्तार वर्णन पंचास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है-

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा।।

पुद्गल द्रव्य कदाचित् स्कन्ध पर्याय से, कदाचित् स्कन्ध देश रूप पर्याय से कदाचित् स्कन्ध प्रदेश रूप पर्याय और कदाचित् परमाणु रूप से यहाँ (लोक में) होते हैं, इस प्रकार उनके चार भेद हैं।

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणु चेव अविभागी।। (75)

अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो वह स्कन्ध नाम की पर्याय है, उसकी आधी स्कन्ध देश नामक पर्याय है, आधी की आधी स्कन्ध प्रदेश नाम की पर्याय है। इस प्रकार भेद के कारण द्वि-अणुक स्कन्ध पर्यन्त अनन्त स्कन्ध प्रदेश रूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग एक प्रदेश वाला, स्कन्ध का अन्तिम अंश वह एक परमाणु है।

पुनश्च-दो परमाणुओं के संघात से (मिलने से) एक द्वि-अणुक स्कन्ध रूप पर्याय होती है। इस प्रकार संघात के कारण (द्वि-अणुक-स्कन्ध की भाँति त्रि-अणुक-स्कन्ध-चतुरगुणक स्कन्ध इत्यादि) अनन्त-स्कन्ध रूप पर्यायें होती हैं।

विभिन्न प्रकार के स्कन्ध-

बादर सुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं।। (76)
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति।। (77)

बादर और सूक्ष्म रूप से परिणत स्कन्धों का 'पुद्गल' ऐसा व्यवहार है। वे छह प्रकार के हैं, जिनसे तीन लोक निष्पन्न हैं।

1. जिनमें षट्स्थान पतित वृद्धि हानि होती है ऐसे स्पर्श-रस-गंध, वर्ण रूप गुण विशेषों के कारण (परमाणु) पूरन-गलन धर्म वाले होने से तथा।

2.स्कन्ध व्यक्ति से (स्कन्ध पर्याय के) आविर्भाव और तिरोभाव की अपेक्षा से भी परमाणुओं में पूरन-गलन घटित होने से परमाणु पुद्गल हैं ऐसा निश्चय किया जाता है। स्कन्ध तो अनेक पुद्गलमय एक पर्यायपने के कारण पुद्गलों से अनन्य होने से पुद्गल है ऐसा व्यवहार किया जाता है तथा (वें) बादरत्व और सूक्ष्मत्व रूप परिणामों के भेदों द्वारा छह प्रकारों को प्राप्त करके तीन लोक रूप होकर रहे हैं। वे छह प्रकार के स्कन्ध इस प्रकार हैं-(1) बादर-बादर, (2) बादर, (3) बादर-सूक्ष्म, (4) सूक्ष्म-बादर, (5) सूक्ष्म, (6) सूक्ष्म-सूक्ष्म।

1. **बादर-बादर**-काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते, बादर-बादर हैं।

2. **बादर**-दूध, घी, तेल, जल, रस, आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं, बादर हैं।

3. **बादर-सूक्ष्म**-छाया, धूप, अंधकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) स्थूल होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता है, बादर-सूक्ष्म हैं।

4. **सूक्ष्म-बादर**-स्पर्श-रस-गंध शब्द, जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं, सूक्ष्म-बादर हैं। जो आँखों से नहीं दिखाई पड़े वे सूक्ष्म स्थूल है। जैसे-आँख के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों के विषय वायु, रस, गंध, शब्द आदि।

5. **सूक्ष्म**-कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञान न हो ऐसे हैं, वे सूक्ष्म हैं।

6. **सूक्ष्म-सूक्ष्म**-कर्मवर्गणा से नीचे द्वि-अणुक स्कन्ध तक के (स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है वे सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं।

परमाणु का वर्णन-

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतों तं वियाणं परमाणु।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुक्तिभवो।। (77)

सर्व स्कन्धों का जो अंतिम भाग उसे परमाणु जानो। वह अविभागी एक (एक प्रदेशी) शाश्वत्, मूर्तिप्रभव (मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला) और अशब्द है।

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस कारण जो दु।
सो णेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसो।। (78)

मूर्तत्व के कारणभूत स्पर्श-रस-गंध वर्ण का परमाणु से आदेश मात्र द्वारा (कथन मात्र में) ही भेद किया जाता है, वस्तुतः जिस प्रकार परमाणु का वही प्रदेश आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है उसी प्रकार द्रव्य और गुण के अभिन्न प्रदेश होने से, जो परमाणु का प्रदेश है वही स्पर्श का है, वही गंध का है, वही रस का है, वही रूप का है इसलिये किसी परमाणु में गंधगुण कम हो (निकाल लिया जाये) , किसी परमाणु से गंधगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणु में गंधगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुण से अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जाएगा। इसलिये किसी भी गुण की न्यूनता युक्त (उचित) नहीं है। इसलिये पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप चार धातुओं का, परिणाम के कारण एक ही परमाणु कारण है क्योंकि विचित्र ऐसा परमाणु का परिणाम गुण कहीं किसी गुण की व्यक्ताव्यक्त द्वारा विचित्र परिणति को धारण करता है। और जिस प्रकार परमाणु में परिणाम के कारण अव्यक्त गंधादि गुण है ऐसा ज्ञात होता है उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एकप्रदेशी परमाणु को अनेक प्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने से विरोध है।

अनादिकर्मों के उदय के वश से जो उन जीवों ने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नाम के शरीर ग्रहण कर रखे हैं, उन शरीरों के तथा उन जीवों ने ग्रहण किये हुए पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकाय के स्कन्धों के उपादान कारण परमाणु हैं, इससे ये परमाणु चार धातुओं के कारण हैं।

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पेदसदो भेदा।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंक्खाणं।। (80)

जो परमाणु है वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा जो कि रूपादि गुण सामान्य वाला है उसके द्वारा सदैव अविनाशी होने से नित्य है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा उससे (प्रदेश से) अभिन्न अस्तित्व वाले स्पर्शादि गुणों को अवकाश देता है इसलिये अनवकाश नहीं है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा (उसमें) द्वि-आदि प्रदेशों का

अभाव होने से, स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त होने के कारण (अर्थात् निरंश होने के कारण) सावकाश नहीं है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्धों के भेद का निमित्त होने से स्कन्धों का भेदन करने वाला है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से स्कन्धों का भेद न करने वाला है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से स्कन्धों का कर्त्ता है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा जो कि एक आकाश प्रदेश का अतिक्रमण करने वाले (लाँघने वाले) अपने गति परिणाम को प्राप्त होता है उसके द्वारा 'समय' नामक काल का विभाग करता है इसलिये काल का विभाजक है। वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा संख्या का भी विभाजक है, क्योंकि (1) वह एक प्रदेश द्वारा उससे रचे जाने वाले दो आदि भेदों पूर्वक द्रव्य संख्या का विभाग स्कन्धों में करता है, (2) वह एक प्रदेश द्वारा उसके जितनी मर्यादा वाले एक आकाश प्रदेश पूर्वक क्षेत्र संख्या के विभाग करता है, (3) वह एक प्रदेश द्वारा एक आकाश प्रदेश का अतिक्रम करने वाले उस गति परिणाम जितनी मर्यादा वाले समय पूर्वक का काल संख्या का विभाग करता है, (4) वह एक प्रदेश द्वारा, उसमें विवर्त्तन पाने वाले (परिवर्तित, परिणमित) जघन्य वर्णादिक भाव को जानने वाला ज्ञान पूर्वक भाव संख्या का विभाग करता है इस कारण वह संख्या का विभाजन करने वाला भी है।

1.विभाजक–विभाग करने वाला मापने वाला। स्कन्धों में द्रव्य संख्या का माप (अर्थात् वे कितने अणुओं-परमाणुओं से बने हैं ऐसा माप) करने में अणुओं की परमाणुओं की अपेक्षा आती है, अर्थात् वैसा माप परमाणु द्वारा होता है। क्षेत्र के माप का एकक (एकम्) 'आकाश प्रदेश' है और आकाश प्रदेश की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये क्षेत्र का माप भी परमाणु द्वारा होता है। काल के माप का एकक 'समय' है और समय की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आता है, इसलिये काल का माप भी परमाणु द्वारा होता है। ज्ञान भाव के (ज्ञान पर्याय के) माप का एकक ''परमाणु में परिणमित जघन्य वर्णादि भाव को जाने उतना ज्ञान'' है और उसमें परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये भाव का (ज्ञान भाव का) माप भी परमाणु द्वारा होता है। इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का माप करने के लिए गज समान है।

2.एक परमाणु प्रदेश बराबर आकाश के भाग को (क्षेत्र को) 'आकाश प्रदेश' कहा जाता है। वह 'आकाश प्रदेश' क्षेत्र का 'एकक' है। गिनती के लिए किसी वस्तु के जितने परिमाण को एक माप माना जाये उतने परिणाम को उस वस्तु का एकक कहा जाता है।

3. परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे अनन्तर (उत्तरवर्ती) आकाश प्रदेश में (मंद गति से) जाते हुए जो काल लगता है उसे 'समय' कहा जाता है।

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।

खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणहि।। (81)

परमाणु में तीखा, चरपरा, कसायला, खट्टा, मीठा इन पाँच रसों में से एक काल में एक रस रहता है। शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पाँच वर्णों में से एक वर्ण एक काल में रहता है। सुगन्ध, दुर्गन्ध दो प्रकार गन्ध पर्यायों में से एक कोई गन्ध एक काल में रहती है। शीत व उष्ण स्पर्शों में एक कोई स्पर्श तथा स्निग्ध रूक्ष स्पर्शों में एक कोई स्पर्श ऐसे दो स्पर्श एक काल में रहते हैं। 'परमाणु' शब्द का कारण रूप होकर भी एक प्रदेशी होने से शब्द की प्रगटता नहीं करने से अशब्द है व जो ऊपर कहे हुए वर्णादि गुण व शब्द आदि पर्याय सहित स्कन्ध हैं उससे भिन्न द्रव्यरूप परमाणु है। जैसे-परमात्मा व्यवहार से द्रव्यकर्म और भावकर्म के भीतर रहता हुआ भी निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव रूप ही है वैसे परमाणु भी व्यवहार से स्कन्धों के भीतर रहता हुआ भी निश्चय से स्कन्ध से बाहर शुद्ध द्रव्य रूप ही है। अथवा स्कन्धान्तरित का अर्थ है कि स्कन्ध से पहले से ही भिन्न है।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। (26)

भेद से, संघात से तथा भेद और संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते है।

भेद=संघातो (मिले हुए पदार्थों) का दो कारणों से विदारण होना भेद है। बाह्य (निमित्त) अभ्यन्तर (उपादान) कारणों के कारण संघटित स्कन्धों का विदारण करना पृथक्-पृथक् करना भेद कहा जाता है। संघात विविक्त (अलग-अलग) स्कन्धों को संघटित करना संघात है। पृथक्-पृथक् पदार्थों का बन्ध होकर एक हो जाना संघात कहलाता है।

प्रश्न-भेद और संघात ये दो होने से इस सूत्र में (भेद संघाताभ्यां) दो वचन होना चाहिए, बहुवचन नहीं?

उत्तर-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है-क्योंकि सूत्र में बहुवचन देने से ज्ञात होता है कि भेदपूर्वक संघात अर्थात् भेद-संघात भी स्कन्ध की उत्पत्ति का स्वतन्त्र कारण है। इसलिये बहुवचन से भेद के साथ संघात का ग्रहण होता है।

अतः भेद संघात रूप कारणों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, यह अर्थ फलित हो जाता है। जैसे दो परमाणुओं के संघात से दो प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणु के संघात से या तीनों परमाणुओं के संघात से त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है।

दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु या चार अणुओं के सम्बन्ध से एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के संघात से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार दो आदि प्रदेशों के संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार भेद से भी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं-जैसे तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पाँच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणु का भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार एक ही समय में भेद और संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, जैसे चार प्रदेशी में से दो प्रदेश का भेद हो गया और उसी समय एक परमाणु का संघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार किसी के संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः। (27)

भेदात् अणुरुत्पद्यंते।

The ultimate elementary particles (atom) are produced only division of matter.

भेद से अणु उत्पन्न होता है।

'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' इस सूत्र के सामर्थ्य से स्कन्ध की उत्पत्ति सूचित

होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है, फिर भी इस सूत्र (भेदादणुः) की रचना से यह अवधारणा किया जाता है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है, भेद, संघात और भेद संघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कहने पर अणु भेद से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हो जाता है तथापि पुनः 'भेदादणुः' यह इस अवधारणा के लिए बनाया गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है, न संघात से होती है और न भेद-संघात से।

चाक्षुष (देखने योग्य-स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः। (28)

Molecules are sometimes produced by the combind action of division and union which can be seen with the eyes.

भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेदसंघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेदसंघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए कहा।

अनन्तानन्त परमाणुओं से उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष।

प्रश्न-जो उनमें अचाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं) है वह स्कन्ध चाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय का विषय) कैसे हो सकता है?

उत्तर-भेद और संघात से अचाक्षुष स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है, केवल भेद से स्कन्ध चाक्षुष नहीं बनता।

प्रश्न-इसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर-सूक्ष्म स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मता का परित्याग नहीं किया है तो वह स्कन्ध का अचाक्षुष का अचाक्षुष ही बना रहता है। सूक्ष्म परिणत पुनः दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है तब चाक्षुष हो जाता है अर्थात् आँखों से दिखने लग जाता है।

वैश्विक-सार्वभौम-परम सत्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण

सद्द्रव्य लक्षणम्। (29)

The differention of a Substance or reality is Sat, isness or being.

द्रव्य का लक्षण सत् है।

यह विश्व शाश्वतिक है, क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक हैं। आधुनिक विज्ञान में भी सिद्ध हो गया है कि शक्ति या मात्रा कभी भी नष्ट नहीं होती है, परन्तु परिवर्तित होकर अन्य रूप हो जाती है। विज्ञान में कहा भी है-

Matter and energy neither be created nor be destroyed, each can be completely change into another from or into one another.

विज्ञान का मूलभूत सिद्धांत है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

दवियादि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं।

दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।। (9) (पंचास्तिकाय)

What flows or maintains its indentity through its several qualities and modifications, and what is not different from Satta or Substance, that is called Dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं-जो कि सत्ता अनन्यभूत है।

दव्वं सल्लखणं य उप्पादव्यय धुवत्त संजुत्तं।

गुणंपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।। (10)

Whatever has substantiality, has the dialectical triad or birth, death and permanence, and is the substratum of qualities and modes is Dravya, so say the all-knowing.

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पादव्यय ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुणपर्यायों का आश्रय आधार है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्द देव ने कहा है-

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सग्गपज्जएहिं चित्तेहिं।

दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।। (96) (प्रवचनसार)

अनेक प्रकार के गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सर्वकाल में द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है और वह (अस्तित्व)

(1) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से,

(2) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से,

(3) विभाव धर्म से विलक्षण होने से,

(4) भाव और भाववानता के भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेश-भेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का समभाव ही क्यों न हों? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त नहीं हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय एक-दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं-यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, (इसीलिये) उनका अस्तित्व एक ही है।

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।। (97)

धर्म का उपदेश करने वाले जिनवर वृषभ के द्वारा इस विश्व में विविध लक्षण वाले द्रव्यों का वास्तव में 'सत्' ऐसा सर्वगत (सबमें व्यापने वाले) एक लक्षण कहा गया है। वास्तव में इस विश्व में विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता अनेकत्व को दिखाते हुए) अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न) रहकर वर्तमान और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला और प्रत्येक द्रव्य की बँधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव में एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का परामर्श (स्पर्श ग्रहण) करनेवाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए, किन्तु वह तो

निषिद्ध ही है और यह (सत् ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।। (98)

द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध और स्वभाव से ही सत् है-ऐसा जिनेन्द्र देव ने यथार्थतः कहा है, इस प्रकार आगम से सिद्ध है।

वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य पर द्रव्य की अपेक्षा बिना अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुण-पर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही जो कि मूल साधन है, धारण करके स्वयंमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुआ वर्तता है। जो द्रव्यों में उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कदाचित् अर्थात् कथंचित् (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है। जैसे-द्वि-अणुक आदि तथा मनुष्य इत्यादि द्रव्य तो अनविध (मर्यादारहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकाल-स्थायी) है, (इसीलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि गुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। (105)

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो निश्चित असत् होगा। जो असत् होगा वह द्रव्य कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) अथवा यदि असत् न हो तो वह सत्ता से अन्य पृथक् होगा? सो भी कैसे हो सकता है? इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है। यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होगी कि वह (1) असत् होगा अथवा (2) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वयं को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जाएगा और यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ इतने द्रव्य की सत्ता रखने मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (1) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ द्रव्य उदित होता है (अर्थात् सिद्ध होता है) और (2) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ इतने ही मात्र प्रयोजन

वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है। इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि भाव और भाववान (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है प्रदेश भेद न होते हुए संज्ञा-संख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है।

पविभततपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।। (106)

जिसमें प्रदेशों की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो वह पृथक्त्व है। ऐसे श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है। स्वरूप की एकता का न होना अन्यत्व है। ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं है तब किस तरह दोनों एक हो सकते हैं? जहाँ प्रदेशों की अपेक्षा एक-दूसरे से अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न-भिन्न हो जैसे दण्ड और दण्डी में भिन्नता है। इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते हैं। इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य की शुद्ध-सत्ता गुण के साथ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं है।

जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश हैं। जैसे-शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है, परन्तु प्रदेश भेद नहीं है-ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं होते। ऐसे श्री वीर नाम के अन्तिम तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा है। जहाँ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नहीं है वहाँ अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण में है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य में प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो ऐसा मानने से क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है।

वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है। तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है, किन्तु संज्ञादि रूप से एकता का अभाव है। सत्ता और द्रव्य में नानापना है। जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादिरूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिए, ऐसा अर्थ है।

परम सत्य की परिणमनशीलता

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।। (30)

Sat (is a) simultanoues possession (of) (उत्पाद) Coming into existence birth.

व्यय Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य Continous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

द्रव्य सत् स्वरूप है। सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अन्त तक रहेगा। तथापि यह सत् अपरिवर्तन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इनका नाश नहीं होता है, इसीलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सदा सद्भाव होता है, इसीलिये ये सदा सत् स्वरूप ही रहते हैं।

उत्पाद-स्वजाति को न छोड़ते हुए भावान्तर (पर्यायान्तर) की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य की स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे-मृत्पिण्ड में घट पर्याय अर्थात् मिट्टी जैसे अपने स्वभाव को न छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है। वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणमन करते हैं।

व्यय-उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह 'व्यय' है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

ध्रौव्य-ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है, द्रव्य ध्रुव रूप से रहता है अर्थात् स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुपना का अन्वय रहता है।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।

दव्वगुण पज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वतो।। (10) (प्रवचनसार)

लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय में रहने वाला पदार्थ अस्तित्व से बना हुआ है।

उत्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।

पज्जाएण दु कणेवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो।। (18)

जैसे इस लोक में शुद्ध स्वर्ण के बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तने वाली अँगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापन आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूबन्द और अँगूठी में) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सवुर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है, इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी (पर्याय) से विनाश और किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है। ऐसा जानना चाहिए।

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।। (95)

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है 'द्रव्य' ऐसा कहते हैं।

यहाँ (इस विश्व में) वास्तव में जो स्वभाव भेद किये बिना उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य त्रय से और गुण, पर्याय से लक्षित होता है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य स्वभाव अस्तित्व सामान्य रूप अन्वय है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेंगे-(1) स्वरूप अस्तित्व, (2) सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना-उत्पाद होना) है, व्यय प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य अवस्थिति (टिकना) है। गुण, विस्तार विशेष हैं। वे सामान्य-विशेषात्मक होने से दो प्रकार के हैं। इनमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं। अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयत विशेष हैं। द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुण पर्यायों के साथ लक्ष्य लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादादि रूप तथा गुण पर्याय रूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है।)

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।

अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।। (99)

स्वभाव में अवस्थित सत् द्रव्य है, द्रव्य का गुण-पर्यायों में जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित परिणाम है वह उसका स्वभाव है।

ण भवो भंगविहीणो ण णत्थि संभवविहीणो।

उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।। (100)

वास्तव में उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता है और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते और ध्रौव्य उत्पाद तथा व्यय के बिना नहीं होता।

अविनश्वरत्व का सिद्धान्त

नित्य का नियम

तद्भावाव्ययं नित्यम्।। (31)

Parmanence means indestructibility of the essence or the quality of the substance.

उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है।

जो प्रत्यभिज्ञान का कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकार के स्मरण को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसीलिये जो इसका कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरुक्ति 'भवनं भावः, तस्य भावः तद्भावः' इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि पहले वस्तु को जिस रूप देखा है उसी रूप उसके पुनः होने से 'वही यह है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो जाये या सर्वथा नई वस्तु का उत्पाद माना जाये तो इससे स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने से स्मरण के आधीन जितना लोक-संव्यवहार चालू है वह सब विरोध को प्राप्त होता है, इसीलिये जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है, परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाये तो परिणमन का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होने पर संसार और इसकी निवृत्ति के कारण रूप प्रक्रिया का निषेध (अभाव) प्राप्त होता है।

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत्।

प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते।। (14) तत्त्वार्थ.

ये द्रव्य नित्य हैं, क्योंकि अपने स्वभाव से नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञान का कारण कहा जाता है।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।

गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।। (15) (पंचास्तिकाय)

सत् द्रव्य का द्रव्यरूप से विनाश नहीं है, अभाव का असत् अन्य द्रव्य का द्रव्यरूप से उत्पाद नहीं है, परन्तु भाव सत् द्रव्ये, सत् के विनाश और असत् के उत्पाद बिना ही, गुणपर्यायों में विनाश और उत्पाद करते हैं। जिस प्रकार घी की उत्पत्ति में गोरस का-सत्-का-विनाश नहीं है तथा गोरस से भिन्न पदार्थान्तर का-असत् का उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरस को ही सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही पूर्व अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होने वाले स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिक परिणामी गुणों में मक्खन पर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा घी पर्याय उत्पन्न होती है, सर्वभावों का भी उसी प्रकार वैसा ही है (अर्थात् समस्त द्रव्यों का नवीन पर्याय की उत्पत्ति में सत् का विनाश नहीं है तथा असत् का उत्पाद नहीं है, किन्तु सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही पहले की (पुरानी) अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और बाद की (नवीन) अवस्था से उत्पन्न होने वाले परिणामी गुणों में पहले की पर्याय का विनाश और बाद की पर्याय की उत्पत्ति होती है।)

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकाल अत्थपज्जाये।

वेंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो।। (581)

अवस्थान-स्थिति छहों द्रव्यों की समान है। क्योंकि त्रिकाल सम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यंजनपर्याय के मिलने से ही उनकी स्थिति होती है।

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।

तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं।। (582)

एक द्रव्य में जितनी त्रिकाल सम्बन्धी अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय हैं उतना ही द्रव्य है। (गोम्मट्टसार जीवकाण्ड, पृ.265)

विश्वगुरु सापेक्ष (अनेकान्त सिद्धान्त)

वस्तु स्वरूप की सिद्धि

अर्पितानर्पितसिद्धेः।। (32)

The contradictory characteristics are established from differents points of view.

मुख्यतया और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

द्रव्य में अनन्त गुण एवं पर्याय होती हैं। उन अनन्त गुणों एवं पर्यायों का कथन एक साथ नहीं हो सकता है, परन्तु उस द्रव्य को जानना अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्य के यथार्थ ज्ञान बिना रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं हो सकती एवं रत्नत्रय के बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष के बिना शाश्वतिक सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये यहाँ पर वस्तु स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान की सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है।

धर्मान्तर को विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजन वश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उसे-अर्थरूप को अर्पित (मुख्य) कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित (गौण) है। प्रयोजक के प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की भी अविवक्षा हो जाती है। अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। वस्तु स्वरूप को जानने की जो गौण-मुख्य व्यवस्था है उसका व्यावहारिक सटीक वर्णन अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्धि ग्रंथ में वर्णन किया है। यथा-

एकेनाकर्षती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मथाननेत्रमिव गोपी।। (225)

जिस प्रकार ग्वालिन दही को बिलोती हुई एक रस्स को अपनी ओर खींचती है, दूसरी रस्सी को ढीली करती है। यद्यपि रस्सी एक होने पर भी रई में लिपटी हुई रहने के कारण दो भागों में बँट जाती है, उसे गोपिका दोनों हाथों में पकड़कर दही बिलोती है। जिस समय वह एक हाथ से एक ओर की रस्सी को अपनी ओर खींचती है, उसी

समय दूसरे हाथ की रस्सी को ढीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बढ़ा देती है, इस प्रकार परस्पर एक को खींचने से दूसरी को ढीली करने से वह मक्खन (लोणी) निकाल देती है। यदि ग्वालिनी एक साथ दोनों छोर को समान बल से खींचती एवं छोड़ती तो मथनी गतिशील नहीं बनती और मक्खन भी नहीं निकलता। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिए विवक्षित विषय को मुख्य कर दिया जाता है एवं अविवक्षित विषय को गौण किया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि विवक्षित गुण, धर्म वस्तु में है एवं अविवक्षित गुण, धर्म वस्तु से पृथक् होकर लोप हो गये हो।

इसको ही जैन धर्म में नयवाद या स्याद्वाद कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग के महामेधावी वैज्ञानिक आईंस्टीन ने भी इस अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे भी मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कथन सापेक्ष दृष्टि से होना चाहिए। आईंस्टीन यहाँ तक मानते हैं कि जब तक जीव असर्वज्ञ रहेगा तब तक वह सम्पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता, केवल आंशिक सत्य को जान सकता है। इस आंशिक सत्य को आशिंक सत्य मानना सम्यक् है एवं आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लेना मिथ्या है। यथा-

Einstain says, we can only know the relative truth the real truth is know only to the universal observer.

आईंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार हम सब जो जानते हैं, वह सम्पूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है, किन्तु सापेक्षिक सत्य है। (Relative truth) है, सम्पूर्ण सत्य सर्वदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जा सकता है।

सन्मति सूत्र में सिद्धसेन दिवाकर ने बताया कि अनेकान्त केवल वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक प्रणाली नहीं है, परन्तु लोक व्यवहार को सुचारू रूप से व्यवस्थित करने के लिए लौकिक प्रणाली भी है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।। (69)

जिस अनेकान्तवाद के बिना लोकव्यवहार भी नहीं चलता है उस जगत् का एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार हो।

जैसे रामचन्द्र एक मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वे लव, कुश की अपेक्षा पिता, दशरथ की अपेक्षा पुत्र, लक्ष्मण की अपेक्षा बड़े भाई, सीता की अपेक्षा पति, जनक की अपेक्षा दामाद (जमाई), सुग्रीव की अपेक्षा मित्र, रावण की अपेक्षा शत्रु, हनुमान की अपेक्षा प्रभु

आदि अनेक धर्म से युक्त थे। राम एक होते हुए भी दशरथ की अपेक्षा पुत्र होते हुए भी लव-कुश की अपेक्षा पिता रूप विरोधी गुण से युक्त थे। तो भी अपेक्षा की दृष्टि से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य गुण अपने-अपने स्थान पर अविरुद्ध एवं उपयुक्त है। विशेष ज्ञान के लिए मेरा 'अनेकान्त दर्शन' का अध्ययन करें।

100 संख्या 10 संख्या की अपेक्षा अधिक होते हुए भी 1000 संख्या की अपेक्षा कम है। जैसे-सेवफल नारियल से छोटा होते हुए भी आँवले की अपेक्षा बड़ा है। आँवला सेवफल से छोटा होने पर भी इलायची की अपेक्षा बड़ा है। घी निरोगी के लिए शक्तिदायक होते हुए भी ज्वर रोगी के लिए हानिकारक है। अग्नि चिमनी में रहते हुए उपकारक है, परन्तु पेट्रोल-टंकी में डालने पर अपकारक है। अग्नि एक होते हुए भी पाचकत्व, दाहकत्व, प्रकाशत्व आदि गुणों के कारण अनेक भी हैं।

यह अनेकान्त मानसिक अहिंसा है, क्योंकि इसमें एकान्तवाद, हठाग्रह, पूर्वाग्रह नहीं है। अनेकान्त सिद्धान्त दूसरों के सत्यांश को भी स्वीकार करता है। अनेकान्त का सिद्धान्त है Right is Mine अर्थात् जो सत्य है मेरा है। उसका दावा यह नहीं कि Mine is Right अर्थात् मेरा जो है वह सत्य है। अनेकान्त वस्तु स्वरूप तथा भावात्मक अहिंसा है तथा स्याद्वाद कथन प्रणाली या वचनात्मक अहिंसा है। इस अनेकान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए और कुछ सरल उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे-दो इंच लंबी वाली रेखा एक इंच वाली रेखा से लंबी है तथा तीन इंच लंबी रेखा से छोटी भी है। अनामिका अंगुली कनिष्ठा से बड़ी है, परन्तु मध्यमा से छोटी भी है। इसी प्रकार दिशा आदि में भी जान लेना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति के लिए दूसरा व्यक्ति पूर्व में है तो पहला व्यक्ति उसके लिए पश्चिम में होगा।

Master Theory

Unified theory of universe (Theory of everything)

''अनेकान्त वन्दन (स्याद्वाद का स्वरूप)''

(Thoery of relativity-सापेक्ष सिद्धान्त, एकीकृत सिद्धात)

(तर्ज: 1.बिन गुरु ज्ञान नहीं... 2.चालीसा.... 3.मन तड़पत हरि दर्शन को)

दोहा-विश्व गुरु अनेकान्त से, हो व्यापक विचार,
लोकालोक में व्याप्त है, जिसकी महिमा अपार।

एकान्तवादी तुम जगो, करलो अपना सुधार,
सापेक्षवाद सतवाद से, हो जाओ भव पार।।

चौपाई–हे अनेकान्त सत्य स्वरूप, हे सनातन विश्व स्वरूप,
जीव-अजीव में व्याप्त स्वरूप, समस्त नय प्रमाण स्वरूप।
लोकालोक में व्याप्त रूप, मूर्तिक अमूर्तिक तेरा स्वरूप।
एकानेक व अनन्त रूप, सर्वव्यापी है शिव स्वरूप।।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप, खण्ड विखण्डित एक स्वरूप,
अस्ति-नास्ति अव्यक्त रूप, सप्तभंग मय तेरा रूप।
सर्वत्र व्याप्त है तेरा रूप, सार्वभौम है नित्य स्वरूप,
बन्ध मोक्ष भी तेरा रूप, सापेक्षवाद है तेरा स्वरूप।।

निरापेक्ष है मिथ्या रूप, सापेक्ष दृष्टि सत्य स्वरूप,
तेरी कृपा से होता सम्यक्, मिथ्यात्व है तुमसे पृथक्।
तेरे वियोगे अनन्त भव, जन्म-मरणे दुःख ही भोग,
कुवाद समस्त नाशन कर्त्ता, समाधान के तुम हो भर्त्ता।।

तुम बिन है न लौकिकाचार, तुम बिन है न सदाचार,
तुम बिन है सब तर्क-कुतर्क, तुम बिन है स्वर्ग भी नर्क।
तुम बिन है न न्याय प्रणाली, तुम बिन है न कार्य प्रणाली,
तुम बिन है न सम्यक् मार्ग, तुम बिन है न मोक्षमार्ग।।

तुम तो आदि अन्त रहित, सर्व सत्य में सर्वत्र व्याप्त,
चेतन में तुम चेतन रूप, अचेतन में उसी ही रूप।
सर्वज्ञ द्वारा तुम सुज्ञात, सुदृष्टि द्वारा तुम पूजित,
तुम्हें न जाने मिथ्यादृष्टि, तुम बिन न चलती है सृष्टि।।

सूर्य न देखे जन्मान्ध व्यक्ति, अज्ञानी न जाने तुम्हारी शक्ति,
'कनकनन्दी' के साध्य-साधन, तुमसे ही मैं होता हूँ धन्य।
त्रैलोक्यनाथ के शासन तन्त्र, तुम्हें नमूँ मैं हे विश्वतन्त्र।।

विग्रह गति में गमन का कारण

विग्रहगतौः कर्मयोगः। (25)

विग्रह गति में कर्मयोग होता है।

'विग्रह' का अर्थ देह है। 'विग्रह' अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है अथवा विरुद्ध ग्रह को विगह्व कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि, जिस अवस्था में कर्म के ग्रहण होने पर भी नो कर्मरूप पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता वह 'विग्रह' है और इस विग्रह के साथ होने वाली गति का नाम विग्रह गति है। सब शरीरों की उत्पत्ति के मूल कारण रूप कार्मण शरीर को 'कर्म' कहते हैं तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के हलन-चलन को 'योग' कहते हैं। कर्म के निमित्त से जो योग होता है वह कर्मयोग है। वह विग्रह गति में होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे नूतन कर्म का ग्रहण और एक देश से दूसरे देश में गमन होता है।

गमन किस प्रकार होता है

अनुश्रेणि गतिः। (26)

गति श्रेणी के अनुसार होती है।

लोक के मध्य से लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रम में स्थित आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थ में समसित है। इसलिए 'अनुश्रेणी' का अर्थ 'श्रेणी की आनुपूर्वी से' होता है। इस प्रकार की गति जीव और पुद्गलों की होती है यह इसका भाव है। इस अनुश्रेणी गति में कालनियम और देशनियम जानना चाहिए।

1.कालनियम यथा–मरण के संयम जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्वगमन करते हैं तब उनकी गति अनुश्रेणी ही होती है।

2.देशनियम यथा–जब कोई जीव ऊर्ध्वलोक से अधोलोक के प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति आता-जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोक से अधोलोक के प्रति या ऊर्ध्वलोक के प्रति जाता है तब उस अवस्था में गति अनुश्रेणी ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलों की जो लोक के अंत को प्राप्त कराने

वाली गति होती है वह अनुश्रेणी ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणी भी होती है और विश्रेणी भी। किसी एक प्रकार की होने का कोई नियम नहीं है।

मुक्त जीवों की गति

अविग्रहा जीवस्य। (27)

मुक्त जीव की गति विग्रह रहित होती है।

जीव की स्वभाविक गति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने द्रव्यों के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादक द्रव्य संग्रह शास्त्र में उल्लेख करते हैं कि ''विस्ससोड्ढगई'' अर्थात् जीव की स्वभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है। अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में जीव एवं पुद्गल के स्वभाव का वर्णन करते हुए उल्लेख करते है कि-

उर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।

अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम्।। (32)

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने जीव को ऊर्ध्व गौरव (ऊर्ध्व गुरुत्व) धर्म वाला बताया है और पुद्गल को अधो गौरव (अधो गुरुत्त्व) धर्म वाला प्रतिपादित किया है।

जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व से ऊर्ध्वगमन करने की है। पुद्गल की स्वाभाविक गति नीचे से नीचे की ओर है। कारण यह है कि, जीव के अमूर्तिक (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वजन से रहित) एवं स्थानान्तरित रूप गति क्रिया-शक्ति से युक्त होने के कारण उसकी गति ऊर्ध्वगमन होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ- हाइड्रोजन गैस लीजिए। हाइड्रोजन गैस से भरे हुए बैलून को मुक्त करने पर वह बैलून धीरे-धीरे ऊपर ही गमन करता रहता है। यदि वह बैलून किसी कारणवश फटा नहीं तो वह गति करते-करते उस ऊँचाई तक पहुँचेगा जहाँ तक वायुमण्डल की तह में हाइड्रोजन ही हाइड्रोजन गैस है। हाइड्रोजन-बैलून का ऊपर स्वाभाविक गमन करने का कारण यह है कि हाइड्रोजन गैस साधारण हवा से 14 गुणा हल्की होती है। हाइड्रोजन हवा से 14 गुणा हल्की होने के कारण वह बैलून ऊपर ही ऊपर उड़ता है, तो शुद्ध जीव, जो पूर्णतः वजन (भार) शून्य है, का ऊपर गमन करना स्वाभाविक

है। पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, भारादि के साथ-साथ स्थानान्तरित गति युक्त होने से पुद्गल का अधो गौरव स्वभाव होना भी स्वाभाविक है। यहाँ पर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है तो यह संसारी जीव विभिन्न प्रकार की वक्रादि गति से विश्व के विभिन्न भाग में क्यों परिभ्रमण करता है?

इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए अमृतचंद्र सूरि बताते हैं-

अधस्तिर्यक्तथोध्व च जीवानां कर्मजा गतिः।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्।। (34)

जीव की संसार अवस्था में जो विभिन्न गति होती है, वह स्वभाविक गति नहीं है। जीव की संसारावस्था की अधोगति तिर्यक्गति, ऊर्ध्वगति कर्म जनित है। सम्पूर्ण कर्म से रहित जीव के केवल एक स्वाभाविक ऊर्ध्वगति ही होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के गति सम्बन्धी प्रथम सिद्धांत के अनुसार-

"A body at rest will remain at rest and a body moving with uniform velocity in a straight line will continue to do unless an external force is applied to it."

अर्थात् एक द्रव्य, जो विराम अवस्था में है वह विरामावस्था में ही रहेगा तथा एक द्रव्य जो सीधी रेखा में गतिशील है, वह गतिशील ही रहेगा, जब तक द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन करने के लिए कोई बाह्य बल न लगाया जाए। (एक द्रव्य तब तक स्थिर रहता है जब तक बाह्य शक्ति का प्रयोग उसको गतिशील कराने में सहायक नहीं होता है तथा एक द्रव्य अविराम गति से एक सीधी रेखा में तब तक चलता रहता है, जब तक उस पर किसी बाह्य शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता है।)

कोई भी द्रव्य यदि किसी एक दिक् की ओर गति करता है, तो वह द्रव्य उस दिक् में अनंत काल तक अविराम, अपरिवर्तित गति से गति करता ही रहेगा, जब तक कोई विरोधी शक्ति या द्रव्य उस गति का विरोध नहीं करेगा। दिक् अनंत काल अनंत एवम् शक्ति अक्षय होने से, जिस दिक् में एक द्रव्य गति करता है, वह द्रव्य उस दिक् के अनंत आकाश की ओर अनंत काल तक गति करता ही रहता है, परन्तु केन्द्राकर्षण शक्ति, बाह्य भौतिक या जैविक आदि विरोध शक्ति के कारण उस गति में परिवर्तन आ जाता है। जैसे एक गेंद को यदि ऊर्ध्व दिक् में फेंकते है तो वह कुछ समय के पश्चात् नीचे गिर जाती है। इसका कारण यह है कि, गेंद को ऊपर फेंकने के

लिए जो शक्ति प्रयोग की गई थी, उससे वह ऊपर की ओर उठी थी, परन्तु पृथ्वी की केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण उसमें परिवर्तन आया और कुछ समय के बाद उस गेंद की ऊर्ध्व गति में परिवर्तन होकर अधो गति हो गई।

एक अन्य उदाहरण-खेत से पक्षी उड़ाने वाले रस्सी के एक यंत्र विशेष में पत्थर आदि रखकर रस्सी के दोनों छोरों को पकड़कर अपनी ओर घुमाते हैं। रस्सी के साथ-साथ पत्थर भी घूमता रहता है। कुछ समय के बाद रस्सी के एक छोर को छोड़ देते हैं जिससे वह पत्थर छूटकर सीधा दूर जाता है। जिस समय, वह व्यक्ति रस्सी के दोनों छोर पकड़कर घुमा रहा था, उस समय पत्थर उस व्यक्ति की घुमाव शक्ति से प्रेरित होकर आगे भागने का प्रयास करता था, परन्तु दोनों छोर को पकड़कर घुमाने के कारण वह पत्थर रस्सी के साथ-साथ वर्तुलाकार में घूमता रहता था। जब उस व्यक्ति ने रस्सी के एक छोर को छोड़ दिया तो वह पत्थर उस बंधन से मुक्त होकर आगे भागा। इसी प्रकार जीव की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होते हुए भी विरोधात्मक कर्म शक्ति से प्रेरित होकर कर्म संयुक्त संसारी जीव चतुर्गति रूपी संसार में परिभ्रमण कर रहा है, परन्तु जब वह कर्मबंधनों से मुक्त हो जाता है तब अन्य गतियों में से निवृत्त होकर स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

पयड़ि ठिदि अणुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति।।

प्रकृति-बंध, स्थिति-बंध, अनुभाग-बंध, प्रदेश-बंध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध स्वतंत्र शुद्धात्मा तिर्यक् आदि गतियों को छोड़कर ऊर्ध्व गमन करता है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।। (28)

संसारी जीवों की गति विग्रह रहित और विग्रह वाली होती है। उसमें विग्रह वाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है। परन्तु चौथे समय में नहीं होती है। निष्कुट क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले जीव को सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी अनुश्रेणिका अभाव होने से इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कुट क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए तीन मोड़े वाली गति का प्रारम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ो की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि, इस प्रकार का कोई

उपपाद-क्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोड़े वाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समय में नहीं होती। 'च' शब्द समुच्चय के लिए दिया है। जिससे विग्रह वाली और विग्रह रहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है।

तत्त्वार्थसार में कहा है कि-

सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा।
अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः।। (99)
अविग्रहैकसमया कथितेषु गतिर्जिनैः।
अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा।। (100)
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लाङ्गलिकां जिनाः।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यान्त्रिविग्रहा।। (101)
समयं पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम्।
तथा गोमूत्रिकायां त्रीननाहारक इष्यते।। (102)

सविग्रहा-मोड़ सहित और अविग्रहा मोड़ रहित के भेद से वह विग्रह गति दो प्रकार की होती है। मुक्त जीव की गति अविग्रहा-मोड़ रहित ही होती है। शेष जीवों की गति का कोई नियम नहीं है। अर्थात् उनकी गति दोनों प्रकार की होती है। जिस गति में विग्रह (मोड़) नहीं होता उसमें एक समय लगता है तथा जिनेन्द्र भगवान् ने उसका इषुगति नाम कहा है। जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय लगते हैं तथा इसका 'पाणिमुक्ता' नाम है। जिसमें दो मोड़ लेना पड़ते हैं, उसमें तीन समय लगते हैं उसे जिनेन्द्र भगवान् 'लाङ्गलिका गति' कहते हैं। जिसमें तीन मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं और उसे 'गोमूत्रिका' कहते हैं। पाणिमुक्ता गति में जीव एक समय तक, लाङ्गलिका गति में दो समय तक और गोमूत्रिका गति में तीन समय तक अनाहारक रहता है। इषुगति में जीव अनाहारक नहीं होता।

अविग्रह गति का समय

एकसमयाऽविग्रहा। (29)

एक समय वाली गति विग्रह रहित होती है।

जिस गति में एक समय लगता है वह एक समय वाली गति है। जिस गति में

विग्रह अर्थात् मोड़ा नहीं लेना पड़ता वह मोड़ा रहित गति है। गमन करने वाले जीव और पुद्गलों के व्याघात के अभाव में एक समय वाली गति लोकपर्यंत भी होती है।

विग्रह गति में आहारक, अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। (30)

एक दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है। तीन शरीर और देह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण करने को 'आहार' कहते हैं। (यहाँ आहार शब्द भोजन ग्रहण अर्थ में नहीं है) जिन जीवों के इस प्रकार का आहार नहीं होता वे अनाहारक कहलाते हैं। किन्तु कार्माण शरीर के सद्भाव में कर्म के ग्रहण करने में अंतर नहीं पड़ता। जब यह जीव उपपाद क्षेत्र के प्रति ऋजुगति में रहता है तब वह आहारक होता है। बाकी के तीनों समयों में अनाहारक होता है। जीव एक समय दो समय और तीन समय तक अनाहारक होता है।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मः। (31)

Birth if of 3 kinds:

सम्मूर्छन Spontaneous generation.

गर्भ Uterine birth.

उपपाद Istantaneous rise.

सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं।

सम्पूर्ण विश्व के अनंतानंत जीव मुख्यतः तीन रूप से जन्म ग्रहण करते हैं। (1) सम्मूर्च्छन (2) गर्भ (3) उपवाद।

1.सम्मूर्च्छन जन्म-तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देह का चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण कर अवयवों की रचना होना। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन ही होता है।

2.गर्भ जन्म-स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ जन्म कहते हैं।

3.उपपाद जन्म–प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं। उपपाद यह देव और नारकियों के उत्पत्ति स्थान विशेष की संज्ञा है। संसारी जीवों के ये तीनों जन्म के भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामों के निमित्त से अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं, उनके फल हैं।

योनियों के भेद

सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।(32)

सचित्त, शीत और संवृत्त तथा इनकी प्रतिपक्ष भूत अचित्त, उष्ण और विवृत्त तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत्त विवृत्त ये उसकी अर्थात् जन्म की योनियाँ हैं।

संसारी जीव के योनिभूत स्थान या आधार को 'योनि' कहते हैं। चित्त सहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं। आत्मा के चैतन्य रूप विशेष परिणाम को चित्त कहते हैं। शीतल स्पर्श युक्त योनि को शीत योनि कहते हैं। भले प्रकार ढ़की योनि की यंवृत्त योनि कहते हैं। 'संवृत्त' का अर्थ है जो देखने में न आये। उभयरूप योनि को मिश्र कहते हैं अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण संवृत्त-विवृत्त योनि कहते हैं।

योनि और जन्म के आधार आधेय दृष्टि से भेद है। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं और जन्म के भेद आधेय हैं। क्योंकि सचित्त आदि योनिरूप आधार में सम्मूर्च्छन आदि जन्म के द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। देव और नारकियों की अचित्त-योनि होती है, क्योंकि उनके उपपाद देश के पुद्गल प्रचयरूप योनि अचित्त है। गर्भजों की मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माता के उदर में शुक्र और शोणित अचित्त होती हैं, जिनका सचित्त माता की आत्मा से मिश्रण है इसलिए वह मिश्र योनि है। सम्मूर्च्छनों की तीन प्रकार की योनियाँ होती हैं। किन्हीं की सचित्त योनि होती हैं, किन्हीं की अचित्त योनि होती है और किन्हीं की मिश्र योनि होती है। साधारण शरीर जीवों की सचित्त योनि होती है। क्योंकि ये एक-दूसरे के आश्रय से रहते हैं। इनसे अतिरिक्त शेष सम्मूर्च्छन जीवों के अचित्त और मिश्र दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं। देव और नारकियों की शीत और उष्ण दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं, क्योंकि इनके कुछ उपपाद स्थान शीत हैं और कुछ उष्ण। तेजसकायिक जीवों की उष्ण योनि होती है। इनसे अतिरिक्त जीवों की

योनियाँ तीन प्रकार की होती हैं। किन्हीं की शीत योनियाँ होती है, किन्ही की उष्ण योनियाँ होती है और किन्हीं की मिश्र योनियाँ होती हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रियों की संवृत्त योनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रियों की विवृत्त योनियाँ होती हैं तथा गर्भजों की मिश्र योनियाँ होती हैं। इन सब योनियों के चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगम से जाननी चाहिए। कहा भी है-

'णिच्चिदरधादु सत्त य तरू वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा।।'

नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की सात-सात लाख योनियाँ हैं। वृक्षों की दस लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियों की मिलाकर छह लाख योनियाँ हैं। देव, नारकी और तिर्यंचों की चार-चार लाख योनियाँ है तथा मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं।

गर्भ जन्म किसके होता है?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः। (33)

जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों का गर्भ जन्म होता है।

(1) जरायुज-जाल के समान प्राणियों के परिआवरण को जरायु कहते हैं। गर्भाशय में प्राणी के ऊपर जो माँस और रक्त का जाल के समान आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं। मनुष्य, गाय, भैंस आदि के जन्म जरायुज हैं। जरायुज प्राणी आधुनिक विज्ञान के अनुसार और जैन धर्म के अनुसार उन्नतशील जीव होते हैं। विशेषतः ये जीव स्थलचर होते हैं।

(2) अण्डज-शुक्र और शोणित से परिवेष्टित नख के ऊपरी भाग के समान कठिन और गोलाकार अण्डा होता है। जो नख की छाल के समान कठोर हो, पिता के वीर्य व माता के रक्त से परिवेष्टित हो तथा श्वेत वर्ण तथा गोलाकार हो उसका नाम अण्डा है। इस अण्डे में जन्म लेने वाले को अण्डज कहते हैं। चील, कबूतर, तोता, मैना (सारिका) आदि अण्डज प्राणी है। यह प्राणी विशेषतः आकाशचर होते हैं। कुछ अण्डज जलचर भी होते हैं जैसे-घड़ियाल (मगरमच्छ)।

(3) पोतजन्म-सम्पूर्ण अवयव तथा परिस्पन्द सामर्थ्य से उपलक्षित पोत है। जो गर्भाशय से निकलते ही चलने-फिरने के सामर्थ्य से युक्त हैं-सम्पूर्ण अवयव

वाला है और जिसके ऊपर कोई आवरण नहीं वह पोत कहलाता है। जरा में उत्पन्न होने वाला जरायुज, अण्डे में उत्पन्न होने वाला अण्डज आवरण रहित पोत है।

उपपाद जन्म किसके होता है?

देवनारकाणामुपपादः। (34)

देव और नारकियों का उपपाद जन्म होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम्। (35)

All the rest i.e. except those born by embroyonic birth and instsaneous rise are सम्मूर्च्छन born by spontaneous generation.

शेष सब जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों का ही होता है या जरायुज, अण्डल और पोतज जीवों के गर्भ जन्म ही होता है। देव और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है। सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है या शेष जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तिर्यंचों का नियम से सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। अन्य जीवों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों होता है। लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्यों के भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है। चारों तरफ से पुद्गल का इकट्ठा होकर शरीर बनने को सम्मूर्च्छन कहते हैं। सम्मूर्च्छन जन्म अन्यत्र स्थानों में होता है। सम्मूर्च्छन जन्म के सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरह की योनियाँ होती है। सम्मूर्च्छन जन्म में शीत, उष्ण और मिश्र तीनों योनियाँ होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों की विकलत्रयों की तरह विवृत्त योनि ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन तिर्यंच कर्मभूमियाँ ही होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज तथा सम्मूर्च्छन ही होते हैं। सम्मूर्च्छन जीवों के उदाहरण- काई, शैवाल, छत्रक (कुकुरमुत्ता) अनाज के कीड़े, गोबर आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़े। देखने में आते हैं कि शीत ऋतु में सेम की लता एवं पत्ते में शाम तक कीड़े नहीं होते हैं परन्तु सुबह होने पर सैंकड़ों कीड़े लता एवं पत्ते में हो जाते हैं। यह सब जीव कहाँ से आये? यह सब उसी वातावरण के कारण वहां उत्पन्न हो रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उस वातावरण से जीव की उत्पत्ति हुई है परन्तु उस वातावरण

में विग्रह गति से अन्य स्थान से आकर जीव जन्म लेते हैं। डार्विन आदि वैज्ञानिक लोग जो रासायनिक प्रक्रिया से जीव की सृष्टि मानते है वह सिद्धांत शरीर की अपेक्षा एवं जन्म की अपेक्षा सत्य होते हुए भी विद्यमान जीव की उत्पत्ति मानना मिथ्या है। क्योंकि रासायनिक तत्त्व भौतिक है और शरीर भी भौतिक है इसलिए शरीर की संरचना रासायनिक द्रव्य व परिवर्तन से संभव है परन्तु जीव (आत्मा) अभौतिक, अमूर्तिक, चैतन्य युक्त होने के कारण इसकी उत्पत्ति भौतिक द्रव्य से नहीं हो सकती।

शरीर के नाम व भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। (36)

The bodies are of 5 kinds:

(1) औदारिक The physical, (2) वैक्रियक Fluid, (3) आहारक Assimilative, (4) तैजस Electric, (5) कार्माण karmic.

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच शरीर हैं।

(1) औदारिक-

पुरुमहदुदारूरालं, एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।

ओरालियं.....।। (गो.सा.जी.)

पुरु, महत्, उदार, उराल, ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थ के वाचक हैं। उदार में जो होय उसको कहते हैं औदारिक।

(2) वैक्रियक-

विविहगुणइड्ढिजुत्तं, विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं।। (232)

नाना प्रकार के गुण और ऋद्धियों से युक्त देव तथा नारकियों के शरीर को वैक्रियक अथवा विगूर्व कहते हैं। विक्रिया का अर्थ शरीर के स्वाभाविक आकार के सिवाय विभिन्न आकार बनाना है। देव और नारकियों के शरीर का निर्माण जिन वर्गणाओं से हुआ करता है उनमें वह योग्यता रहा करती है। अतएव उनको वैक्रियक या वैगूर्विक कहते हैं। इनसे निष्पन्न शरीर को वैक्रियक शरीर कहते हैं।

(3) आहारक-

आहारस्सुदयेण य, पमत्तवि...स होदि आहारं।

असंजमपरिहरणट्ठं, संवहविणासणट्ठं च।। (235)

असंयम परिहार करने के लिए तथा संदेह को दूर करने के लिए आहारक ऋद्धि के धारक छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है।

यह शरीर औदारिक अथवा वैक्रियिक शरीर की तरह जीवन भर नहीं रहा करता, किन्तु जिनको आहारक ऋद्धि प्राप्त है ऐसे प्रमत्त मुनि अपने प्रयोजन वश उनको उत्पन्न किया करते है। इसके लिए मुनियों के मुख्यतया दो प्रयोजन बताये गये हैं-असंयम का परिहार और संदेह निवारण। ढाई द्वीप में पाये जाने वाले तीर्थों आदि की वंदना के लिए जाने में जो असंयम हो सकता है वह न हो इसलिये। अर्थात् बिना असंयम के भी तीर्थ क्षेत्रों आदि के वंदना कर्म की सिद्धि। इसी तरह कदाचित् श्रुत के किसी अर्थ के विषय में ऐसा कोई संदेह हो जो कि ध्यानादि के लिए बाधक हो और उसकी निवृत्ति केवली, श्रुतकेवली के बिना नहीं हो सकती हो तो उस संदेह को दूर करने के लिए भी आहारक शरीर का निर्माण हुआ करता है। किन्तु यह शरीर आहारक शरीर नामकर्म के उदय के बिना नहीं हुआ करता तथा मुनियों के ही होता है और उनके भी अप्रमत्त अवस्था में न होकर प्रमत्त अवस्था में ही उत्पन्न हुआ करता है। अप्रमत्त या असंयम अवस्था में कदापि नहीं होता है।

आहारक शरीर किस अवस्था में और किन-किन प्रयोजनों से मुनियों के उत्पन्न हुआ करता है, इस विषय को आचार्य स्पष्ट करते है-

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते संवित्ते, जिण जिणघरवंदणट्ठं च।। (236)

अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुँचा नहीं जा सकता केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थंकरों के दीक्षा कल्याण आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिन, जिनगृह चैत्य, चैत्यालयों की वंदना के लिए भी आहारक-ऋद्धि वाले छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीर का स्वरूप-

उत्तम अंगम्हि हवे, धादुविहीणं सुहं असंहणणं।
सुह संठाणं धवल, हत्थपमाणं पसत्थुदयं।। (237)

यह आहारक शरीर रसादिक धातु और सहंननों से रहित तथा समचतुस्त्र संस्थान से युक्त एवं चन्द्रकांत मणि के समान श्वेत और शुभ नामकर्म के उदय से शुभ अवयवों से युक्त हुआ करता है। यह एक हस्त प्रमाण वाला और आहारक शरीर आदि प्रशस्त नामकर्मों के उदय से उत्तमांग-शिर में से उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीर के जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण-

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवई।। (238)

यह आहारक शरीर दोनों ही तरफ से व्याघात रहित है। न तो इस शरीर के द्वारा किसी भी अन्य पदार्थ का व्याघात होता और न किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा इस आहारक शरीर का ही व्याघात हुआ करता है; क्योंकि इसमें यह सामर्थ्य है- यह इतना सूक्ष्म हुआ करता है कि वज्रपटल को भी भेदकर जा सकता है। इसकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार की स्थिति अंतर्मुहूर्त प्रमाण ही है। आहारक शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर कदाचित् आहारक ऋद्धि वाले मुनि का मरण भी हो सकता है।

आहारक काययोग का निरूक्ति सिद्ध अर्थ-

आहरदि अणेणमुणी, सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो।। (239)

छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपने को संदेह होने पर इस शरीर के द्वारा केवली के पास में जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहरण (ग्रहण) करता है इसलिए इस शरीर के द्वारा होने वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं।

(4) कार्माण-

कम्मेव य कम्मभवं.....(241)

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों के समूह को अथवा कार्माण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाली काय को कार्माणकाय कहते हैं।

ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणामकम्मुदये।
चरणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं।। (244)

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस नामकर्म के उदय से होने वाले चार शरीरों को नोकर्म कहते हैं और कार्माण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन

परं परं सूक्ष्मम्। (37)

(Of these 5 bodies) each successive one is finer i.e. sublter than the one preceding it.

आगे-आगे का शरीर सूक्ष्म हैं।

पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर शरीर सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं। सबसे स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। औदरिक शरीर से सूक्ष्म वैक्रियक शरीर है। वैक्रियक शरीर से सूक्ष्म आहारक शरीर होता है। आहारक शरीर से सूक्ष्म तैजस शरीर है। तैजस शरीर से सूक्ष्म कार्माण शरीर है।

ये पाँचों शरीर में से पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर शरीर सूक्ष्म होते हुए भी जिन परमाणुओं से ये शरीर बने है वे परमाणु उत्तरोत्तर कम नहीं है किन्तु अधिक-अधिक है। इसका वर्णन स्वयं सूत्रकार आगे कर रहे हैं। पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर शरीर के परमाणु अधिक-अधिक होते हुए भी उनके सूक्ष्म बंध विशेष के कारण अथवा सूक्ष्म परिणमन के कारण पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर शरीर सूक्ष्म होते जाते हैं। इसका विशेष वर्णन इसी तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय में करेंगे।

शरीर के प्रदेशों का विचार

प्रदेशतोऽसंख्येय गुणं प्राक्तैजसात्। (38)

तैजस से पूर्व तीन शरीरों में आगे-आगे का शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात गुणा है।

यहाँ पर प्रदेश का अर्थ परमाणु है। जिसका गुणाकार असंख्यात है वह अंसख्य गुणा है। अर्थात् प्राकृत संख्या को असंख्यात में गुणा करना चाहिए। औदारिक शरीर अनंतानंत परमाणु से बनता है। यहाँ पर औदारिक शरीर के प्राकृत संख्यात (इकाई) है। औदारिक शरीर के परमाणु से वैक्रियिक शरीर के परमाणु असंख्यात-गुणित है

और वैक्रियक शरीर से आहारक शरीर के परमाणु असंख्यात गुणित है।

उत्तरोत्तर शरीर के परमाणु असंख्यात होते हुए भी बंध विशेष के कारण पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर सूक्ष्म है। जैसे-समप्रदेश वाले लोहा और रूई के पिण्ड में परमाणुओं के निविड़ और शिथिल संयोग की दृष्टि से अवगाहन क्षेत्र में तारतम्य है, उसी प्रकार वैक्रियक आदि शरीरों में उत्तरोत्तर निविड़ संयोग होने से अल्पक्षेत्रता और सूक्ष्मता है। इसलिये उत्तर शरीर में असंख्येय गुणा प्रदेश होने पर भी बंध विशेष की अपेक्षा अल्पत्व जानना चाहिये।

शरीर के प्रदेशों का विचार

अनन्तगुणे परे। (39)

Of the last two i.e. the electric and the karmic bodies, each one compared with the body immediately preceding it has an infinite fold (number of atoms).

परवर्ती दो शरीर प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनंतगुणे हैं।

आहारक से तैजस और तैजस से कार्माण क्रमशः अनंतगुणे प्रदेश वाले हैं। प्रदेशतः इसका अनुवर्तन है इसलिये इसके साथ इस प्रकार सम्बन्ध किया जाता है कि आहारक से तैजस और तैजस से कार्माण शरीर के प्रदेश अनंतगुण हैं। इसका गुणाकार अभव्य जीवों से अनंतगुणा और सिद्धों के अनंतवें भाग है।

अनंतगुणत्व होने से दोनों में तुल्य प्रदेश हैं-ऐसा भी नहीं क्योंकि अनंत के भी अनंत विकल्प होते हैं। अनंतगुणा होने से तैजस और कार्माण में तुल्य प्रदेश हैं ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि असंख्यात के असंख्यात विकल्प के समान अनंत के भी अनंत विकल्प होते हैं।

आहारक से दोनों अनंत गुणे हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि 'परंपरं' इस सूत्र का अभिसम्बन्ध है। 'परं-परं' का सम्बन्ध होने से तैजस से कार्माण में अनंत गुणे प्रदेश जाने जाते हैं।

तैजस और कार्माण शरीर की विशेषता

अप्रतिघाते। (40)

The electric and karmic bodies are unpreventible in their

passage i.e. they can penetrate and permaeate upto then end of the universe.

प्रतिघात रहित है। तैजस एवं कार्माण शरीर सर्वत्र अप्रतिघात (प्रतिघात से रहित) है।

मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा व्याघात को प्रतिघात कहते हैं। मूर्तिमान पदार्थों का दूसरे मूर्तिमान पदार्थ से व्याघात रुकावट या टक्कर होती है, उसे प्रतिघात कहते हैं।

उस प्रतिघात का अभाव है, सूक्ष्म परिणमन होने से लोह पिण्ड में अनुप्रविष्ट अग्नि के समान जैसे अग्नि सूक्ष्म परिणमन के कारण लोहे के पिण्ड में घुस जाती है उसी प्रकार तैजस कार्माण शरीर का व्रज पटलादि में भी व्याघात नहीं है अर्थात् इन दोनों शरीरों की रुकावट या टकराना किसी पदार्थ से नहीं होता। इसलिये इन दोनों शरीरों को अप्रतीघात कहते हैं। अप्रतिघात होने से ये दोनों सब जगह प्रवेश कर जाते हैं।

अनादि सम्बन्धे च। (41)

And their connection i.e. of the electric and the karmic bodies with the soul is without beginning.

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

तैजस एवम् कार्माण शरीर अनादि काल से जीव के साथ हैं। ये दोनों शरीर संतान परम्परा की अपेक्षा बीज-वृक्ष न्याय से जीव के साथ अनादि काल से साथ हैं। परन्तु सूत्र में निर्दिष्ट 'च' शब्द से यह ध्वनित होता है कि, ये दोनों शरीर सादि सम्बन्ध की अपेक्षा जीव के साथ सादि-सम्बन्ध है परन्तु अनादि सम्बन्ध नहीं है।

बंध-संतति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषतः बीज वृक्ष के समान सादि सम्बन्ध है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है तथा वह वृक्ष दूसरे बीज से उत्पन्न हुआ था इस प्रकार बीज और वृक्ष का कार्य-कारण सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है। उस बीज से यह वृक्ष हुआ और इस वृक्ष से यह बीज। इस विशेष की अपेक्षा से सादि है, अर्थात् संतति की दृष्टि से बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है। उसी प्रकार तैजस और कार्माण शरीर के भी पौर्नभाविक निमित्त नैमित्तिक संतति की अपेक्षा अनादि है और तत्-तत् दृष्टि विशेष की अपेक्षा सादि सम्बन्ध भी है।

एकांत से अनादिमान ही स्वीकार कर लेने पर निर्निमित्त होने से नवीन शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा। जिनके सिद्धांत में एकांत से तैजस कार्माण शरीर का अनादि सम्बन्ध है-उनके सिद्धांत में पूर्व में ही आत्यंति की शुद्धि को धारण करने वाले जीव के नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा-क्योंकि शरीर सम्बन्ध का कोई निमित्त ही नहीं है।

यदि एकांत से निर्निमित्त आदि सम्बन्ध माना जायेगा तो मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा-क्योंकि जैसे आदि शरीर अकस्मात् सम्बन्ध को प्राप्त होता है वैसे ही मुक्तात्मा के भी आकस्मिक शरीर सम्बन्ध होगा; इसलिये मुक्तात्मा के अभाव प्रसंग आयेगा।

एकांत से अनादिमान मान लेने पर भी निर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा। यदि एकांत से सर्वथा तैजस कार्माण शरीर को अनादि मानेंगे तो भी अनिर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा। क्योंकि जो अनादि है-उसका आकाश के समान अंत भी नहीं होगा। कार्यकारण सम्बन्ध का अभाव होने से; इसलिये मोक्ष का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि अनादि बीज वृक्ष की संतान का अग्नि से सम्बन्ध होने पर अंत देखा जाता है उसी प्रकार तैजस कार्माण शरीर का भी अंत हो जायेगा से अनादित्व का अभाव होगा। बीज वृक्ष विशेषापेक्षया आदिमान है अतः जैसे वृक्ष संतति कथंचित् सादि और कथंचित् अनादि होने से उसकी संतति अग्नि से नष्ट हो जाती है-वैसे ही कार्माण शरीर भी ध्यान-अग्नि से नष्ट हो जाता है। इसलिये साधूक्त किसी प्रकार से तैजस और कार्मण शरीर कथंचित् अनादि हैं-और कथंचित् सादि है। उसी प्रकार गोम्मट्टसार में भी कहा गया है कि-

पल्लतियं उवहीणं, तेत्तीसंतोमुहुत्त उवहीणं।
छावट्ठी कम्मट्ठिदि, बंधुक्कस्सट्ठिदि ताणं।। (252)

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक शरीर की तैतीस सागर, आहारक शरीर की अंतर्मुहूर्त, तैजस शरीर की छयासठ सागर है। कार्माण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि कर्मों के स्थिति बंध प्रकरण में बताई गई है। वह सामान्यता तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है किन्तु विशेष रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस

कोड़ाकोड़ी सागर है। मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ा सागर, नाम, गोत्र, की बीस कोड़ाकोड़ी सागर और आयु कर्म की केवल तैतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

सर्वस्य। (42)

The electric and the karmic bodies are always found with all mundane souls.

सब संसारी जीवों के होते हैं।

तैजस शरीर एवं कार्माण शरीर सम्पूर्ण संसारी जीव के होते हैं। यह दोनों शरीर से रहित संसारी जीव कभी भी नहीं हो सकते हैं। मुक्त जीव ही ये दोनों शरीर से रहित होते हैं। अन्य धर्म में एवं आधुनिक अतीन्द्रिय मनोविज्ञान में भी सूक्ष्म शरीर का वर्णन पाया जाता है परन्तु जैसे जैन धर्म में दार्शनिक, तार्किक, गणितीय प्रणाली में वर्णन पाया जाता है उसी प्रकार अन्यत्र नहीं पाया जाता है। कार्माण शरीर आठ कर्मों के समूह स्वरूप है। यह शरीर की सम्पूर्ण सांसारिक गतिविधियों के लिए बीज स्वरूप है।

एक साथ जीव के कितने शरीर हो सकते हैं?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः। (43)

एक साथ एक जीव के तैजस और कार्माण से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं।

उपरोक्त सूत्रों से सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण संसारी जीव में तैजस और कार्माण शरीर होते ही हैं। इसलिए संसारी जीव में कम से कम शरीर होंगे तो दो होंगे ही।

किसी के तैजस, कार्माण और औदारिक या तैजस, कार्माण और वैक्रियिक ये तीन शरीर होते हैं, किसी के तैजस, कार्माण, औदारिक और आहारक ये चार शरीर होते हैं।

कार्माण शरीर की विशेषता

निरूपभोगमन्त्यम्। (44)

अंतिम शरीर उपभोग रहित हैं।

अंतिम शरीर अर्थात् कार्माण शरीर उपभोग से रहित है। इन्द्रिय रूपी प्रणालियों

के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। यह बात अंत के शरीर में नहीं पायी जाती अतः वह निरूपभोग है। विग्रह गति में लब्धिरूप भावेन्द्रिय के रहते हुए भी वहाँ द्रव्येन्द्रिय की रचना न होने से शब्दादिक का उपयोग नहीं होता। यद्यपि विग्रह गति में कर्मादान, निर्जरा और सुख-दुःखानुभव आदि उपयोग संभव है; भावेन्द्रिय की उपलब्धि भी है तथापि द्रव्येन्द्रिय की निवृत्ति का अभाव होने से शब्दादि विषयों के अनुभव का अभाव होने से कार्माण शरीर निरूपभोग है।

तैजस शरीर के योग निमित्तत्व का अभाव होने से उसका यहाँ अधिकार नहीं है। तैजस शरीर योग निमित्त नहीं होता। अतः उसकी उपभोग विचार में विवक्षा नहीं है। इसलिये योग निमित्त शरीरों में अंत का कार्माण शरीर निरूपभोग है, शेष शरीर उपभोग सहित है।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम्। (45)

पहला शरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से पैदा होता है।

औदारिक शरीर की उत्पत्ति गर्भज और सम्मूर्च्छन जन्म से होती है।

वैक्रियक शरीर का वर्णन

औपपादिकं वैक्रियिकम्। (46)

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है।

जितने औपपादिक जन्म वाले होते हैं उनके वैक्रियिक शरीर होता है जैसे- देव, नारकी के शरीर।

लब्धिप्रत्ययं च। (47)

तथा लब्धि से भी पैदा होता है।

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्य है। उपपाद जन्म के साथ-साथ ऋद्धि निमित्तक भी होता है। तपश्चरण विशेष से जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे लब्धि हैं। लब्धि प्रत्यय जिसके है वह लब्धि प्रत्यय कहलाता है। लब्धि और उपपाद में निश्चय और कादाचित्कृत विशेषता है। जन्म निमित्त होने से उपपाद निश्चय से होता है और लब्धि तो कादाचित्की होती है। लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर तपोविशेष की अपेक्षा से उत्तर काल में होता है।

विविधकरण विक्रिया अर्थात् शरीर की नाना आकृतियाँ उत्पन्न करना विक्रिया है। वह विक्रिया दो प्रकार की है-(1) एकत्व विक्रिया, (2) पृथक्त्व विक्रिया। अपने शरीर से अपृथक् भाव से सिंह, व्याघ्र, हंस, कुत्ता आदि की रचना करना एकत्व विक्रिया है। अपने शरीर से भिन्न प्रासाद, मण्डप आदि की रचना करना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी (16वें स्वर्ग तक) देवों के दोनों प्रकार की विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक देवों से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के देवों के प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छट्ठे नरक तक के नारकियों के त्रिशुल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशुभिण्डवाल आदि अनेक आयुध रूप एकत्व विक्रिया होती है। नारकियों में पृथक्त्व विक्रिया नहीं है। सातवें नरक में गाय बराबर कीड़े, लोहित, कुन्थु आदि रूप से एकत्व विक्रिया ही होती है। सातवें नरक में अनेक आयुध रूप से एकत्व विक्रिया नहीं है और न पृथक्त्व विक्रिया है। तिर्यंचों में भी पृथक्त्व विक्रिया नहीं है। तप एवं विद्या आदि के प्राधान्य से मनुष्यों के प्रति विशिष्ट एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया होती है।

तैजस शरीर भी लब्धि से प्राप्त होता है।

तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय अर्थात् ऋद्धि निमित्तक होता है लब्धि प्रत्यय तैजस के दो भेद है-(1) अशुभ तैजस (2) शुभ तैजस।

(1) अशुभ तैजस-अपने मन को अनिष्ट (बुरा) उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर उत्पन्न हुआ है क्रोध जिसके ऐसा जो संयम का निधान महामुनि उसके वाम (बायें) कंधे से सिंदूर के ढेर की-सी कान्ति वाला, बारह योजन लंबा, सूच्यंगुल के संख्येय भाग प्रमाण मूल विस्तार और नव योजन के अग्र विस्तार को धारण करने वाला काहल (विलाब) के आकार का धारक पुरुष निकल करके वाम प्रदक्षिणा देकर मुनि के हृदय में स्थित जो विरुद्ध पदार्थ है उसको भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जाय; जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकल के द्वारिका को भस्म कर उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया उसी की तरह जो हो सो अशुभ तैजस-समुद्घात है।

(2) शुभ तैजस-जगत् को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके ऐसा जो परंसंयमनिधान महाऋषि उसके मूल शरीर को

नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देह के प्रमाण को धारण करने वाला अच्छी सौम्य आकृति का धारक पुरुष दक्षिण स्कंध से निकलकर, दक्षिण प्रदक्षिणा कर रोग दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जाय यह शुभ रूप तैजस-समुद्घात है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव। (49)

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्त संयत के ही होता है।

शुभकर्म का कारण होने से इसे शुभ कहा है। विशुद्ध कर्म का कार्य होने से आहारक शरीर को विशुद्ध कहा है। तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध अर्थात् निर्दोष विशुद्ध चारित्र धारी मुनियों के होता है इसलिए भी विशुद्ध कहते हैं। पुण्य कर्म के कार्य होने से आहारक शरीर को भी विशुद्ध कहते हैं। दोनों ओर से व्याघात नहीं होता इसलिए यह अव्याघाती है। तात्पर्य यह है कि आहारक शरीर से अन्य पदार्थ का व्याघात नहीं होता है और अन्य पदार्थ से आहारक शरीर का व्याघात नहीं होता। आहारक शरीर के प्रयोजन का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। यथा आहारक शरीर कदाचित् लब्धि विशेष के सद्भाव को जताने के लिए कदाचित् सूक्ष्म पदार्थों का निश्चय करने के लिए और संयम की रक्षा करने के लिए उत्पन्न होता है।

जिस समय जीव आहारक शरीर की रचना का आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है। इसलिए सूत्र में प्रमत्त संयत के ही आहारक शरीर होता है यह कहा है। इष्ट अर्थ के निश्चय करने के लिए सूत्र में ''एवकार'' पद का ग्रहण किया है जिससे यह जाना जाए कि आहारक शरीर प्रमत्त संयत के ही होता है अन्य के नहीं। प्रत्येक प्रमत्त संयम के भी यह शरीर नहीं होता परन्तु ऋद्धि सम्पन्न मुनियों को ही होता है।

आहारक शरीर धारी को वैक्रियिक शरीर नहीं होता इसके साथ-साथ औदारिक, कार्माण, तैजस शरीर भी होता है। जिससे यह जाना जाता है कि प्रमत्त संयम के ही आहारक शरीर होता है दूसरे के नहीं। ऐसी व्याप्ति नहीं है कि प्रमत्त संयम के आहारक शरीर ही होता है, औदारिक आदि नहीं। अर्थात् 'प्रमत्त संयत के ही आहारक शरीर होता है।' इस प्रकार की अवधारणा करने के लिए एवकार है,

न कि 'प्रमत्त संयत के ही आहारक ही होता है।' इस अनिष्ट अवधारणा के लिए जिस समय मुनि आहारक शरीर की रचना करते है, उस समय वह प्रमत्त संयत ही होते है।

इन शरीरों में परस्पर संज्ञा, स्वलक्षण, स्वकारण, स्वामित्व, सामर्थ्य, प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, संख्या, प्रदेश, भाव और अल्पबहुत्व आदि की दृष्टि से भेद भी पाया जाता है-

(1) संज्ञा-संज्ञा से (नाम से) घट-पट के समान औदारिक आदि शरीर में अन्यत्व है अर्थात् इनके औदारिक आदि नाम पृथक्-पृथक् हैं।

(2) लक्षण-इनका स्व लक्षण भी भिन्न-भिन्न है-जैसे स्थूल शरीर औदारिक है। विविध गुण ऋद्धि वाली विक्रिया करने वाला वैक्रियिक शरीर है। दुरधिगम सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करने के लिए आहारक शरीर होता है। शंख के समान श्वेत वर्ण वाला तैजस शरीर होता है। वह तैजस शरीर दो प्रकार का है-(1) निःसरणात्मक (2) अनिःसरणात्मक। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के भीतर रहने वाला तथा इन शरीरों की दीप्ति का कारण रौनक देने वाला अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है। उग्र चारित्र वाले, अति क्रोधी मुनिराज के जीव प्रदेशसंयुक्त बाहर निकलकर दाह्य (जिस पर क्रोध है उस) को घेरकर अवतिष्ठमान हैं तथा धान्य, हरित, फलादि से परिपूर्ण भूमि स्थली में हुए शाक आदि को जैसे अग्नि पकाती है वैसे जलाकर भस्म कर देते हैं और उसे पकाकार लौटकर मुनि के शरीर में प्रवेश कर जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाए तो उसे भस्मसात् कर देता है वह निःसरणात्मक तैजस शरीर है। सभी शरीरों में कारणभूत कर्मसमूह को कार्माण शरीर कहते हैं। यह इनमें स्वलक्षण की अपेक्षा भेद है।

(3) कारण-अपने कारणों की अपेक्षा भी इनमें भेद हैं जैसे औदारिक नामकर्म के उदय से औदारिक शरीर होता है। वैक्रियिक नामकर्म के उदय से वैक्रियिक शरीर होता है। आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है, तैजस शरीर नामकर्म के उदय से तैजस शरीर होता है और कार्माण नामकर्म के उदय से कार्माण शरीर होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामकर्मों के उदय से ये शरीर होते हैं। अतः इनमें कारणभेद स्पष्ट है।

(4) स्वामित्व-स्वामी के भेद से भी इनमें भिन्नता है-जैसे औदारिक शरीर तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। वैक्रियिक शरीर देव-नारकियों के होता है तथा किसी-किसी तेजस्काय, वायुकाय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्यों में किसी के होता है।

(5) सामर्थ्य-सामर्थ्य की अपेक्षा भी इन शरीरों में परस्पर भिन्नता है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से औदारिक शरीर का सामर्थ्य दो प्रकार का है। तिर्यंच और मनुष्यों में, सिंह एवं अष्टापद, चक्रवर्ती और वासुदेव आदि में जो शारीरिक शक्ति का तारतम्य देखा जाता है वह भव प्रत्यय है। उत्कृष्ट तपस्वियों के शरीर विक्रिया करने का सामर्थ्य गुण प्रत्यय है।

प्रश्न-शरीर की विक्रिया तो तप का सामर्थ्य है औदारिक शरीर का नहीं?

उत्तर-यद्यपि तप के सामर्थ्य से विक्रिया होती है तथापि औदारिक शरीर के बिना केवल तप के विक्रिया करने के सामर्थ्य का अभाव है अर्थात् औदारिक शरीर के बिना तप नहीं हो सकता। वैक्रियिक शरीर में मेरूकम्पन और समस्त भूमण्डल को उलटा-पुलटा करने की शक्ति है। आहारक शरीर अप्रतिघाती होता है, वज्रपटल आदि से भी वह नहीं रुकता।

प्रश्न-वैक्रियिक शरीर में अप्रतिहत सामर्थ्य है। उसका भी वज्रपटलादि से अप्रतिघात देखा जाता है?

उत्तर-यद्यपि वैक्रियिक शरीर भी साधारणतया अप्रतिघाती होता है तथापि इन्द्र सामानिक आदि में शक्ति का तारतम्य देखा जाता है। अनंतवीर्ययति ने इन्द्र की शक्ति को कुण्ठित कर दिया था, ऐसा श्रुत में प्रसिद्ध है। अतः वैक्रियिक शरीर क्वचित् प्रतिघाती होता है, किन्तु सभी आहारक शरीर तुल्य शक्ति और सर्वत्र अप्रतिघाती होते हैं। तैजस का सामर्थ्य क्रोध और प्रसन्नता के अनुसार दाह और अनुग्रह रूप है। कार्माण शरीर का सामर्थ्य सभी कर्मों को अवकाश देना है तथा उन्हें अपने में शामिल करना है।

(6) प्रमाण-प्रमाण की अपेक्षा भी इन शरीरों में भिन्नता है जैसे-जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण सूक्ष्म निगोदियों का औदारिक शरीर है और उत्कृष्ट (सबसे बड़ा) नंदीश्वर द्वीप की, वापिका के कमल का, कुछ अधिक एक हजार

योजन प्रमाण का होता है। वैक्रियिक मूल शरीर की दृष्टि से सबसे छोटा सर्वार्थ सिद्धि के देवों के एक अरत्नि प्रमाण और सबसे बड़ा सातवें नरक में पाँच सौ धनुष प्रमाण है। विक्रिया की दृष्टि से देव उत्कृष्ट शरीर जम्बूद्वीप प्रमाण कर सकते हैं।

आहारक शरीर एक अरत्नि प्रमाण होता है। तैजस और कार्माण जघन्य से अपने औदारिक शरीर प्रमाण होते हैं तथा उत्कृष्ट से केवली समुद्घात में सर्वलोक प्रमाण होते हैं।

(7) क्षेत्र-क्षेत्र की अपेक्षा भी इनमें पृथक्त्व है-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तैजस एवं कार्माण शरीर लोक के असंख्यातवें भाग, असंख्यात बहुभाग प्रमाण है, प्रतर तथा लोकपूरण अवस्था में सर्वलोक क्षेत्र हैं।

(8) स्पर्शन-स्पर्श की अपेक्षा भी औदारिक आदि शरीर भिन्न-भिन्न हैं7 औदारिक आदि एक जीव के प्रति कहेंगे। जैसे-तिर्यंचों ने औदारिक शरीर के द्वारा सर्वलोक का स्पर्श किया है और मनुष्यों ने लोक के असंख्यातवें भाग का। मूल वैक्रियिक शरीर से लोक के असंख्यात बहुभाग और उत्तर वैक्रियिक से कुछ कम 8/14 भाग स्पृष्ट होते हैं।

प्रश्न-उत्तर वैक्रियिक शरीर से आठ बटे चौदह राजू का स्पर्श कैसे होता है?

उत्तर-सौधर्म स्वर्ग के देव स्वयं या पर के निमित्त से ऊपर आरणअच्युत स्वर्ग तह छह राजू जाते हैं और नीचे स्वयमेव बालुकाप्रभा तीसरे नरक तक दो राजू, इस प्रकार 8/14 भाग होते हैं। आहारक शरीर द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया जाता है। तैजस और कार्माण शरीर सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

(9) काल-काल की अपेक्षा भी इन शरीरों में परस्पर पृथकत्व है। औदारिक मिश्र अवस्था को छोड़कर तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक शरीर का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त कम तीन पल्य है। अंतर्मुहूर्त अपर्याप्तक का काल है। अर्थात् तीन पल्य यह उत्कृष्ट आयु तो भोगभूमियों तिर्यंच और मनुष्यों की हैं। यहाँ से कोई मानव या तिर्यंच उत्कृष्ट भोगभूमि की आयु बाँधकर मरा और भोगभूमि में जन्मा तो आयु का प्रारम्भ विग्रहगति में ही हो गया-परन्तु विग्रहगति में कार्मण और निर्वृत्यापर्याप्तवस्था में औदारिक

मिश्र काययोग रहता है-इसलिये इस अपर्याप्तावस्था के काल को घटा देने पर शेष अंतर्मुहूर्त कम तीन पल्य उत्कृष्ट काल औदारिक शरीर का है।

वैक्रियिक शरीर का काल देवों की अपेक्षा है। देवों के मूल वैक्रियिक शरीर का जघन्य काल अपर्याप्त काल के अंतर्मुहूर्त कम दस हजार वर्ष प्रमाण हैं। उत्कृष्ट अपर्याप्तकालीन अंतर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर प्रमाण है। उत्तर वैक्रियिक शरीर के उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही काल अंतर्मुहूर्त प्रमाण हैं।

लिंग (वेद) के स्वामी

नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि। (50)

नारक और सम्मूर्च्छन नपुंसक होते है।

नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी एवम् सम्मूर्च्छन जन्म से पैदा होने वाले सम्मूर्च्छन जीव नियम से नपुंसक ही होते है। नपुंसक वेद रूपी नो कषाय के उदय से और अशुभ नामकर्म के उदय से नारकी एवं सम्मूर्च्छन जीव स्त्री व पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं। इन जीवों के मनोज्ञ शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता है।

न देवाः। (51)

देव नपुंसक नहीं होते हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी निरतिशय सुखों का अनुभव करने वाले होने से देवों में नपुंसक वेद का अभाव है। वे देवगण शुभगति नामकर्म उदय की अपेक्षा निरंतर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सुखों का उपाभोग करते हैं, इसलिए उनमें नपुंसक वेद नहीं है।

शेषस्त्रिवेदाः। (52)

शेष सब जीव तीन वेद वाले होते हैं।

नारकी एवं सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक जीव होते हैं, देवगति में पुरुष वेद एवं स्त्रीवेद ही हैं परन्तु नपुंसकवेद नहीं है। इनको छोड़कर शेष बचे हुए संसारी जीव में तीनों वेद अर्थात् पुरुषवेद, स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद होते हैं। अर्थात् बचे हुए मनुष्य और तिर्यंच तीनों वेद वाले होते हैं। गोम्मट्टसार में इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार है-

णेरइया खलु संढा, णरतिरिऐ तिण्णि होंति सम्मुच्छा।
संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चेव।। (93)

नारकियों का द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है। मनुष्य और तिर्यंचों के तीन ही (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य और तिर्यंच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है।

देव, नारकी, भोगभूमियाँ और सम्मूर्च्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है, वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यंचों में यह नियम नहीं है। उनके द्रव्यवेद और भाववेद में विपरीतता भी पाई जाती है। आंगोपांग नामकर्म के उदय से होने वाले शरीरगत चिह्न विशेष का द्रव्यवेद और मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से होने वाले परिणाम विशेषों को भाववेद कहते हैं।

वेद की परिभाषा-

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा।। (271)

वेद नामक नो कषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है, और निर्माण नामकर्म सहित अंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। ये दोनों ही वेद प्रायः करके तो समान होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वहीं द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद। परन्तु कहीं-कहीं विषमता भी हो जाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा। यह विषमता देवगति और नरकगति में तो सर्वथा नहीं पाई जाती। मनुष्य और तिर्यचगति में जो भोगभूमिज हैं उनमें भी नहीं पाई जाती। बाकी के तिर्यग् मनुष्यों में क्वचित् वैषम्य भी पाया जाता है।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि, जीवो हु गुणं व दोषं वां।। (272)

वेद नो कषाय के उदय तथा उदीरणा होने से जीव के परिणामों में बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस मोह के उत्पन्न होने से यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नहीं कर सकता।

पुरुष-

पुरुगुणभोगे सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।

पुरुउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।। (273)

उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो, अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

स्त्री-

छादयदि संय दोसे, णयदो छाददि परं वि दोसेण।

छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वण्णिया इत्थी।। (274)

जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित कर और मृदुभाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे, उसको आच्छादन-स्वभाव युक्त होने से स्त्री कहते हैं।

यद्यपि तीर्थंकरों की माता सम्यक्त्वादि गुणों से भूषित दूसरी भी बहुत-सी स्त्रियाँ अपने को तथा दूसरों को दोषों से आच्छादित नहीं भी करती हैं-उनमें यह लक्षण नहीं भी घटित होता है तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरूक्ति सिद्ध लक्षण किया है। निरूक्ति के द्वारा मुख्यतया प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ को बोधमात्र कराया जाता है।

नपुंसक-

णेवित्थी णेव पुमं, णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो।

इट्ठावग्गिसमाणगवेयणगरूओ कलुसचित्तो।। (275)

जो न स्त्री हो और न पुरुष ही ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसके अवा (भट्ठा) में पकती हुई ईट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है।

अकाल मृत्यु किनकी नहीं होती?

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। (53)

उपपाद जन्म वाले, चरमोत्तम देह वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं।

उपपाद जन्म देव-नारकी के होते है। इसलिए देव-नारकियों के अकाल मरण

नहीं होता है अर्थात् इनकी आयु अपवर्त्य आयु नहीं है।

'चरम' शब्द अंतवाची है, इसलिये उसी जन्म में निर्वाण के योग्य हो उसका ग्रहण करना चाहिए। चरम-अंत का है शरीर जिनका, वे 'चरम देह' कहलाते हैं। परीत संसारी-उसी भव में निर्वाण प्राप्त करने योग्य को चरम शब्द से ग्रहण किया जाता है।

'उत्तम' शब्द उत्कृष्ट वाची है। इससे चक्रवर्ती आदि का ग्रहण होता है। - उत्तम शरीर जिनका हो वे उत्तम देह कहलाते हैं। पल्यादि के द्वारा गम्य आयु जिसके है वह असंख्येय वर्षायुष वाले कहलाते हैं। वे उत्तर कुरू आदि भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले हैं।

बाह्य कारणों से आयु का ह्रास होना अपवर्त है। बाह्य उपघात के निमित्त विष शस्त्रादि के कारण आयु का ह्रास होता है। वह अपवर्त है अपवर्त आयु जिनके है वे अपवर्त आयु वाले और जिनकी आयु का अपवर्त नहीं होता वे अनपवर्त आयु वाले देव और नारकी, चरम शरीरी और भोगभूमि जीव हैं-बाह्य कारणों से उसका अपवर्तन नहीं होता।

'चरम' शब्द उत्तम का विशेषण है। चरम ही उत्तम देह जिसका वह चरमोत्तम देह अर्थात् अंतिम उत्तम देह वाले को चरमोत्तम देह कहते हैं।

चक्रवर्ती आदि का देह उत्तम होते हुए भी चक्रवर्ती आदि तद्भव में मोक्ष नहीं जाते हैं उनका अकाल मरण भी शास्त्र में पाया जाता है जैसे-सुभौम चक्रवर्ती, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, नारायण श्रीकृष्ण आदि की अपमृत्यु हुई है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तम शरीर धारी चरम शरीर धारी की अपमृत्यु नहीं होती है।

गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने अपमृत्यु के बाह्य कारणों का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ।। (57)

विष भक्षण से अथवा विष वाले जीवों के काटने से, रक्तक्षय अर्थात् लहू (खून) जिसमें सूखता जाता है ऐसे रोग से अथवा धातुक्षय से, (उपचार से-लहू के सम्बन्ध से यहाँ धातुक्षय भी समझना चाहिए) भयंकर वस्तु के दर्शन से या उसके

बिना भी उत्पन्न हुए भय से, शस्त्रों (तलवार आदि हथियारों) के घात, 'संक्लेश' अर्थात् शरीर वचन तथा मन द्वारा आत्मा को अधिक पीड़ा पहुँचाने वाली क्रिया होने से, श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से, और आहार (खाना-पीना) नहीं करने से इस जीव की आयु कम हो जाती है। इन कारणों से जो मरण से अर्थात् शरीर छूटे उसे कदली घात मरण अथवा अकाल मृत्यु कहते हैं।

शोध में दावा: माइटोकॉड्रिंयल जीनोम की अनुपस्थिति वाला बहुकोशिकीय जीव

ऑक्सीजन के बिना जीने वाला पहला जीव मिला

बचपन में आपने कई बार सांस रोकने (ऑक्सीजन न लेना) की कोशिश की होगी। काफी कोशिशों के बावजूद आप ज्यादा देर तक अपनी सांस रोकने में कामयाब नहीं हो पाए होंगे। आपने बिना ऑक्सीजन जीवन की कल्पना भी नहीं की होगी।

अगर हम कहें कि इस धरती पर एक ऐसा भी जीव है जो सांस नहीं लेता हो यानि कि पूरे जीवन में उसे कभी ऑक्सीजन लेने की जरूरत ही नहीं पड़ती हो। यह आपको किसी फंतासी फिल्म की कहानी लग रही होगी, लेकिन यह सौ फीसदी सच है। वैज्ञानिकों को जैलीफिश में हेनेगुया सल्सिनिसिकोला नामक परजीवी मिला है, जिसमें माइटोकॉड्रियल जिनोम मौजूद नहीं है। इस जिनोम की अनुपस्थिति वाला यह पहला बहुकोशिकीय जीव है। यह पूरे जीवन ऑक्सीजन की निर्भरता से मुक्त रहता है। इसे सांस लेने की जरूरत नहीं होती है। इजरायल के तेल अवीव विश्वविद्यालय के दयाना याहलॉमी के नेतृत्व वाली टीम का यह शोध अमरीका के पीएनएएस जनरल में प्रकाशित हुआ।

श्वसन के लिए जरूरी है माइटोकॉड्रिंया

शरीर में लाल रक्त कणिकाओं के अलावा सभी कोशिकाओं में श्वसन प्रक्रिया के लिए जरूरी माइटोकॉड्रिंया होते है। माइटोकॉड्रिंया एक ट्रांसफॉर्मर की तरह काम कर एडेनोसाइन ट्राइफास्फेट अणु उत्पन्न कर ऑक्सीजन को तोड़ कोशिका प्रक्रियाओं को गति देता है।

मेजबान से लेता है एडेनोसाइन अणु

शोधकर्ताओं ने बताया कि यह परजीवी के जरिए तंत्रिका तंत्र से जुड़ी कई चीजों को समझने में मदद मिलेगी। वास्तव में यह कैसे जीवित रहता है, इसके बारे

में शोध कीए जा रहे हैं। माना जा रहा है कि यह अपने मेजबान से एडेसोइन ट्राइफास्फेट अणु लेता है।

धीरे-धीरे खोया माइटोकॉड्रिंया

अध्ययन में पाया गया कि मछली में पैदा होने वाले ये परजीवी इंसानों के लिए हानिकारक नहीं है। शोध में यह भी पता चला कि यह जीव माइटोकॉड्रिंया वाले जीवों की तरह ही विकसित हुआ था। धीरे-धीरे इस परजीवी ने माइटोकॉड्रिंया को खो दिया।

रहस्यों के रहस्य उद्घाटक-

धर्म-दर्शन-विज्ञान-गणित-आरोग्य सम्बन्धी शोधपूर्ण कविता-

(सर्वज्ञ ही जानते हैं विश्व के सम्पूर्ण रहस्यः शेष अनन्त जीव भी न जान सकते हैं सम्पूर्ण रहस्य!)

(चालः-1.आत्मशक्ति...2.क्या मिलिए...)

अनादि अनन्त शाश्वतिक विश्व में ज्ञान-ज्ञेय भी अनन्त।
षट्द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ के गुण-पर्याय भी अनन्तानन्त।।
इसलिए विश्व के समस्त रहस्यों को केवल जान सकते हैं सर्वज्ञ।
सर्वज्ञ के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण जीव भी नहीं जान सकते पूर्ण ज्ञेय।। (1)...
सर्वज्ञ में होता है अनन्तानन्त ज्ञान समस्त ज्ञेय से भी अनन्त।
सर्वज्ञ के ज्ञानकोण में समस्त विश्व के समस्त ज्ञेय अवस्थित/(लीन)।।
यदि होते अनन्तानन्त विश्व भी उसे जान सकते हैं सर्वज्ञ।
सर्वज्ञ का स्वभाव ही है सम्पूर्ण ज्ञेय को एक साथ जानने में समर्थ।। (2)...
ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यह है ज्ञेय, ज्ञेय है तो ज्ञान जानेगा अवश्य।
अन्यथा ज्ञान न होगा सर्वज्ञ अतएव सर्वज्ञ से अज्ञात न ज्ञेय।।
सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात ज्ञेय को सर्वज्ञ भी न कह पाते लाखों वर्ष में।
सात सौ अठारह भाषा में खिरती दिव्यध्वनि एक दिन में तीन-तीन बार भी।। (3)...
चार ज्ञान के धारी गणधर तक समझ पाते हैं उसका अनन्तवाँ भाग।
लिपिबद्ध करते उससे भी कम उसे ही कहते हैं आगम निबद्ध।।

ऐसा है अनन्त ज्ञान-अनन्त ज्ञेय इसे न समझ सकते पूर्णतः असर्वज्ञ।
अनन्त भी असर्वज्ञ मानव, देव, दार्शनिक, वैज्ञानिक द्वारा भी न ज्ञेय।। (4)...
एक ही संसार जीव के जितने हैं कर्म नोकर्म भावकर्म विद्यमान।
उसे भी न जान सकते पूर्णतः अनन्त असर्वज्ञ देव मानव दार्शनिक वैज्ञानिक।।
अभी तक एक शुद्ध परमाणु तक को नहीं जान पाए हैं लाखों वैज्ञानिक।
ऐसा ही सूक्ष्म निगोदिया से ले कोरोना वायरस को न जानते वैज्ञानिक तक।। (5)...
तथाहि ब्रह्माण्ड उत्पत्ति से ले जीव उत्पत्ति व उनके गुण-पर्याय को।
डार्क मैटर, डार्क एनर्जी से ले ग्रेविटी व विश्व के सभी आयाम-शक्तियों का।।
एक ही मानव के शरीर के सभी परमाणु व उसके गुण-पर्यायों को।
तथाहि शारीरिक-मानसिक सभी रोग व कारण व उनके उपचारों को।। (6)...
एक ही मानव के सर्व भाव-व्यवहार जो सही या गलत होते हैं।
उसके कार्य-कारण सम्बन्ध व उसके समग्र उपचार उपायों को भी।।
जन्म-मरण व सुख-दुःख आधि-व्याधि-उपाधि स्वप्न-शकुन।
जन्म के पूर्व व जन्म के अनन्तर जीवों की स्थिति व उनके कारण।। (7)...
न जान पा रहे हैं इन्द्रिय व मन से तथाहि वैज्ञानिक यन्त्रों से।
स्वयं को भी न जान पाते पूर्णतः तन-मन-इन्द्रिय व आत्मदृष्टि से।।
इसीलिए तो तीन ज्ञान धारी चक्री तक राज्य त्याग करते शोध-बोध।
ध्यान-अध्ययन तप-त्याग से मौन एकान्त में करते सतत अनुसन्धान।। (8)...
आत्मशुद्धि द्वारा बढ़ाते आत्मिक गुण-शक्ति जिससे नाश करते घाती कर्म।
जिससे वे पाते अनन्त ज्ञान दर्श सुख वीर्य जिससे वे बनते सर्वज्ञ भगवान्।।
ऐसे सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं विश्व के समस्त रहस्य एक साथ पूर्णतः।
ऐसी अवस्था के अनन्तर वे देते उपदेश परम सत्य को पूर्णतः।। (9)...
शेष अघाती नाश से वे बनते शुद्ध बुद्ध परमात्मा अनन्त काल पर्यन्त।
पुनः वे न करते जन्म-मरण यह भी न जानते वैज्ञानिक तक।।
इस हेतु ही धर्म है, अतः धर्म है सर्व सुखाकर व सर्व अहितकर।
अन्यथा धर्म कुधर्म है सर्वज्ञ बनने हेतु 'कनक' साधना करे निरन्तर।। (10)...

ग.पु.कॉ., दि-5/5/2020, मध्याह्नः 3.06

संदर्भ-

ज्ञेय ज्ञान में वर्तन करते हैं-

जदि तेण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगदं।
सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।। (31) प्र.सार

If those objects are not within the knowledge, knowledge can not be all-pervasive; the knowledge is all-pervasive, how then objects are not existion in it?

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नय से ही सब ज्ञेयों के ज्ञानकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। इसलिए ही सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान में प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थों के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा।

समीक्षा-जैसे प्रकाश पदार्थ को प्रकाशित करता है एवं पदार्थ प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेय को प्रकाशित करता है एवं ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है ज्ञान व्यवहार से ज्ञेयाकार रूप में परिणमन करता है, जैसे कैमरा में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं कैमरे का लैन्स एवं फ्लेट प्रतिबिम्ब रूप में परिणमन करता है, तब जाकर कैमरा में उस वस्तु का चित्रांकन होता है। इसी प्रकार केवल ज्ञान रूपी कैमरा में ज्ञानरूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब रूप केवलज्ञान परिणमन करता है। यदि ऐसा नहीं होता तब लोकालोक व्याप्त ज्ञेय को केवलज्ञान नहीं जान सकता है और केवलज्ञान सर्वव्यापी भी नहीं होता परन्तु केवलज्ञान सर्वव्यापी है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से ज्ञेय, ज्ञानाकार रूप परिणमन करता है और ज्ञान, ज्ञेयाकार रूप परिणमन करता है।

केवली ज्ञेय को जानता न कि ज्ञेय रूप होता

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।। (32)

The omniscient lord neither accepts nor abandons, nor

transforms the external objectivity; he sees all around, and knows everything completely.

इसी का दूसरा व्याख्यान यह है केवली भगवान् भीतर तो काम, क्रोधादि भावों को और बाहर में पांचों इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवल ज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्प रूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते है? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिक मणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर आत्मा के द्वारा आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नहीं है, भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

समीक्षा–उपरोक्त अनेक गाथाओं में वर्णित विषय एवं उदाहरण से सिद्ध होता है केवलज्ञान रूपी दर्पण/ज्योति ज्ञेय रूपी वस्तुओं को प्रतिबिम्बत प्रकाशित करती है, तो भी न ज्ञेय को ग्रहण करती है, न छोड़ती है, न परिणमन करती है। यदि ज्ञान अन्य रूप परिणमन करेगा तो आत्मा अचेतन हो जायेगा अथवा शून्य हो जायेगा क्योंकि ज्ञानगुण के अभाव से आत्मा ज्ञानशून्य होने के कारण अचेतन हो जायेगा अथवा ज्ञान गुण के अभाव से आत्मा गुणी का भी अभाव हो जायेगा। जैसे दीपक समीपस्थ योग्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ भी वस्तु रूप नहीं होता है, उसको ग्रहण नहीं करता, उसका त्याग भी नहीं करता है। उसी प्रकार केवलज्ञान रूपी आदित्य के बारे में जान लेना चाहिए।

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिमणदि सयं अट्ठा णाणट्ठि सव्वे।। (35)

He who knows is knowledge; the self does not become a knower with knowledge (as an extraneous insturment.) The very self develops knowledge, and all the object stand (reflected) in the knowledge.

(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी

आत्मा है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमति हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है। 'जानातीति ज्ञानमात्मा' कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीले से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। वैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न है, तो हो, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुभं, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित है अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा-ज्ञान गुण एवं गुणी कंथचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसलिए कथंचित् ज्ञान-ज्ञानी हैं और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानता है ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक

अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि ज्ञान गुण आत्मा के संयोग के पहले किस आधार पर था? और ज्ञान गुण के बिना आत्मा की सत्ता कैसे संभव है? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते हैं परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कंथचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रेमयरत्नमाला में कहा भी है-

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

अज्ञान की निवृत्ति हान, उपादान और उपेक्षा से प्रमाण के फल है।

फल दो प्रकार का होता है-साक्षात्फल और परम्पराफल वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल हैं, क्योंकि यह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च। (2)

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः। (3)

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।
देवैर्भिन्नभिन्नं च प्रमाणात्तहोदितम्।। (11)

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और कियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैंने कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय का स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।। (36)

Therefor the self is knowledge; the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold; the substance comprises the soul and the (five) other (substances) which are prone to modification.

यहाँ पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं हैं। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्वपर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनंत आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायेगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर-प्रकाशित है ऐसा सूत्र का अर्थ है।

समीक्षा–जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित् ज्ञेय भी हो जाता है। अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान ही के विषय बनते हैं इसलिए अन्यगुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं होते क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे-जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह अन्य द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है।

जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्य स्वप्रकाशी एवं परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य

उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखना है एक टार्च लेकर आओ परन्तु अंधकार में कोई अप्रकाशित वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला (जैन न्याय शास्त्र) में कहा भी है-

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1)

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। (6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय हैं। अपने आपको जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया। (7)

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने-आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि। (8)

मैं घटकों अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्त्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्। (12)

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान

ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है-ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने से गुण से युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करनेवाला है, जैसे दीपक का भासुराकार। नियम सार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है-

'यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रतिमेः पृथक्।।'

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति-जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं विणा कहं णाणं।। (247)

यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही हैं और एक ज्ञान ही नाना पदार्थों के रूप में स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है?

अथ सर्वमेव ज्ञानमेकं ज्ञानाद्वैतं ज्ञेयमन्तरेण नानारूपेण घटपटादिपदार्थमन्तरेण घटपटादिज्ञानरूपेण संस्थितं यदि चेत् तो तर्हि किमपि ज्ञेयं ज्ञेयपदार्थवृन्दं घटपटादिलक्षणं नैव नास्त्येव। भवतु नाम ज्ञेयेन पदार्थेन किं भवेदिति चेत् ज्ञेयेन विना ज्ञातुं योग्येन गृहगिरिभूमिजलाग्निवातादिना विना तेषां गृहघटादीनां ज्ञानं कथं सिद्धयति। तदो णेयं परमत्थं। ततः ज्ञेयमन्तरेण ज्ञानानुत्पत्तेः परमार्थभूतं ज्ञेय अंगीकर्तव्यम्।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को असत् मानता है और एक ज्ञान को ही सत् मानता है। उसका कहना है कि अनादि वासना के कारण हमें बाहर में ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाली बातें असत्य होती हैं। इस पर आचार्य का कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा और जब ज्ञेय ही नहीं है तो बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है, क्योंकि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जानने के लिये कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता है?

घट-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूवाणि।। (248)

घट पट आदि जड़ द्रव्य ज्ञेयरूप से सुप्रसिद्ध हैं। उनको ज्ञान जानता है। अतः ज्ञान से वे भिन्न रूप हैं।

जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।
जो तं पि णाण मण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि।। (249)

जो शरीर मकान वगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञान का नाम भी नहीं जानता।

ज्ञान त्रिकाल की अवस्थाओं को जानता

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। (37)

All modifications, present and absent, of all those types of substances, attend essentially (reflected) in the knowledge, as if in the present.

भाव यह है कि जैसे छदमस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग में मन से विचारते हुए पदार्थों की भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमयी भींत पर बाहुबली भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावीकाल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं तैसे भींत के चित्र समान केवलीज्ञान में भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान् पर द्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

समीक्षा-त्रैकालिक पर्यायों का समूहभूत द्रव्य है। किसी न किसी समय में

द्रव्य किसी न किसी अवस्था में रहेगी ही। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय रहती है। भूत एवं भावी पर्यायें वर्तमान द्रव्य में प्राग्भाव एवं प्रध्वंसाभाव रूप में रहती हैं। केवलज्ञान विशद्, निरपेक्ष, प्रत्यक्ष, अनंतानंत ज्ञान प्रतिच्छेद से युक्त होने के कारण वह केवलज्ञान वर्तमान पर्याय के माध्यम से भूत एवं भविष्यत् पर्यायों को भी जान लेता है। एक लौकिक उदाहरण से प्रस्तुत इस महान् गूढ रहस्य का विशदकरण कर रहा हूँ। जैसे-अल्पज्ञ (छद्मस्थ) व्यक्ति एक किशोर को देखकर अपने क्षयोपशमिक ज्ञान से यह अनुमान लगाता है कि यह किशोर पहले माता के गर्भ में था, जन्म लेकर शिशु से बढ़ता-बढ़ता किशोर हुआ है एवं यह आयुक्रम से बढ़ता हुआ, युवक, प्रौढ़ वृद्ध होकर मृत्यु को भी प्राप्त करेगा। यदि इसकी आयु कम है तो वह युवक, प्रौढ़, वृद्ध बने या न बने पर निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त करेगा। और भी एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-रोटी को देखकर हमें पहले यह ज्ञान होता है कि पहले गेहूँ को खेत में बोया गया था, फिर अंकुर होकर पौधा बनकर गेहूँ आया तथा पके हुआ उस गेहूँ को काट-छाँट कर गेहूँ को अलग किया गया, पश्चात गेहूँ को पीसकर रोटी बनाई गई यह हुआ भूत से वर्तमान का ज्ञान। वह अनुमान से जानता है कि यदि कोई इसको भक्षण करेगा तो यह रूधिर रूप में परिवर्तित होगी और यदि कोई भक्षण नहीं करेगा तो सड़गल जायेगी। छद्मस्थ व्यक्ति अल्पज्ञ होने के कारण द्रव्य की कुछ पर्यायों को जान सकता है परन्तु सर्वज्ञ अनंत ज्ञानी होने से सम्पूर्ण द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं। दिगम्बर महाश्रमण आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्यसर्व पर्यायेषु। अ.।, तत्त्वार्थ सूत्र (26)

मति ज्ञात और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

रूपिष्ववधेः। (27) अ.1

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। (28)

मनः पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवल की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ, तार्किक चूडामणि, बहुभाषा विद् 'महाप्रज्ञ' वीरसेन स्वामी ने जयधवला तथा धवला में इस सिद्धान्त का वर्णन बहुत ही तर्कसबद्ध आगमोक्त रूप में किया है-

15. असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनो व्यापार की अपेक्षा रहित होता है।

शंका-केवलज्ञान आत्मा के सहायता से होता है, इसलिए उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं?

समाधान-नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिए केवलज्ञान को अर्थात् असहाय कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका-केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं?

समाधान-नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से होता है यह नहीं कहा जा सकता है।

शंका-यदि विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खर विषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होओ?

समाधान-नहीं, क्योंकि खर विषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है उसी प्रकार उस का भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता हैं। अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थ में उसकी अतीत पर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूत शक्ति रूप से विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो कि आगे होनेवाली हैं, भविष्यत् शक्ति रूप से विद्यमान हैं उस तरह खर विषाण-गधे का सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूत शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती अथवा वह आगे होने वाला होता तो भविष्यत् शक्ति से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती। किन्तु खर-विषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा अतः उस में केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका-जबकि अर्थ में भूत पर्यायें और भविष्यत् पर्यायें भी शक्ति रूप से

विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों कहा जाता है?

समाधान-नहीं, क्योंकि अनागात और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागात पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती हैं। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय हैं। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये। **(जय धवला, पु. 1 वीरसेनाचार्य।)**

केवलणाणं णाम, सव्व दव्वाणि अदीदाणागय-वट्टमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।। धवला, पु.1

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित सम्पूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।। (1) (श्रावकाचार)

जिनकी आत्मा ने कर्म रूप कलङ्क को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग है, अथवा जिनकी आत्मा ने हितोपदेश देकर अन्य आत्माओं-जीवों को कर्म कलङ्क से रहित किया है अर्थात् जो हितोपदेशी हैं और जिनका केवलज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं उन अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी को अथवा अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ।

असद्भूत पर्यायों को भी ज्ञान जानता

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति।। (39)

If that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who than would call that knowledge super-natural?

भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे। जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्य व उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयीपने से ज्ञान क्रिया करते है तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य और उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदन पर्याय में अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र का तात्पर्य है।

समीक्षा–इस गाथा के पहले-पहले आचार्य कुंदकुंद देव ने केवलज्ञान की अलौकिकता, विशिष्टता, दिव्यता, अनंतशक्ति सम्पन्नता, त्रिकालज्ञता, प्रत्यक्षता का वर्णन आगमोक्त सतर्क रूप से करने के बाद यहाँ प्रश्नात्मक रूप से उसको ही दृढ़ीकरण किया है। उनका प्रश्नात्मक रूप में उत्तर देना यह है कि यदि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान के समान केवलज्ञान भी कुछ निश्चित पर्यायों द्रव्यों को जानेगा और भावी एवं भूत पर्यायों को समग्रता से नहीं जानेगा तो केवलज्ञानी, दिव्यज्ञानी कैसे होगा? अर्थात् ऐसा ज्ञान दिव्यज्ञान या केवलज्ञान नहीं हो सकता है इसलिये केवलज्ञान निश्चय से समस्त ज्ञेय एवं उनकी समस्त पर्यायों को जानता है।

इन्द्रियज्ञान असद्भूत पर्यायों को नहीं जानता

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।। (40)

If is decarled that is impossible to know the past and future for thouse who (are accustomed to) know the object by means of discrimination and other stages (or perception), when it has fallen within the range of the senses.

आगे यह विचार करते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा जो होता है वह भूत और भावी पर्यायों को तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थों को नहीं जानता है।

(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिदं) इन्द्रिय गोचर (इन्द्रिय सम्बद्धं अट्ठं) पदार्थों को (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका

(परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जानने के लिए अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानने के लिए (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पणत्तं) कहा गया हैं कि नैयायिकों के मत में चक्षु आदि इन्द्रिय घट पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थ को जानती हैं। अथवा संक्षेप में इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है। ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थों में काल से दूर-राम-रावणादि में, स्वभाव से दूर भूत प्रेत आदि में तथा अति सूक्ष्म पर के मन विचार में व पुद्गल परमाणु आदिकों में प्रवर्तन नहीं कर सकता। क्योंकि इन्द्रियों का विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारण से इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिये ही अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति का कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख के कारण इन्द्रिय ज्ञान में तथा नाना मनोरथ के विकल्पजालस्वरूप मनसम्बन्धी ज्ञान में जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पद को नहीं पाते हैं, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है।

समीक्षा–39 गाथा पर्यंत विशेषतः प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा केवलज्ञान का वर्णन किया और यह बताया गया कि केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है कि जिस ज्ञान में कोई भी ज्ञेय किसी भी अवस्था में किसी भी काल में अज्ञेय रूप में नहीं रह सकता अर्थात् छिपकर समग्रता से स्वयं को समर्पित नहीं करता हैं। विश्व में ज्ञेय रहते हुए भी और ज्ञेय में, ज्ञान में प्रतिबिम्बित शक्ति/प्रमेयत्व गुण होते हुए भी वे ज्ञेय ज्ञान में क्यों प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं? ऐसा प्रश्न होना स्वभाविक है। इसका उत्तर कुंदकुंद के वचन में निम्न प्रकार है-

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं।। (168)

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र को जानने-देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

जैसे उदित सूर्य भी घन बादल के कारण छिप जाता है तथा उसकी रश्मि पृथ्वी में नहीं पहुंचती है जिससे पृथ्वी पर अंधकार छा जाता है और जितने-जितने अंश में बादल हटता जायेगा, छटता जायेगा उतने-उतने अंश में सूर्य रश्मि प्रकट होती

जायेगी और अधंकार घटता जायेगा, छटता जायेगा। मिथ्यात्व सहित कुमति ज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान रहेगें। और सम्यक्त्व होते ही वह ज्ञान सुज्ञान में परिणमन हो जायेगा। ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान सामान्य होते हुए भी दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरणीय के कारण उसके विभिन्न भेद-प्रभेद हो जाते हैं। ज्ञान सामान्य को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय एक होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के 5 भेद हो जाते हैं जिसके कारण ज्ञान भी पर्याय दृष्टि से 5 प्रकार के हैं और जिस-जिस आवरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है उतना-उतना ज्ञान बढ़ता जाता है और पूर्ण क्षय से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस आवृत्त/आवरण के कारण ही क्षायोपशमिक ज्ञान (परोक्ष) इन्द्रिय ज्ञान सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है। कौन सा ज्ञान कौन से ज्ञेय को जानता है इसका निर्णय स्व-स्व क्षयोपशम या क्षय करता है। कहा भी है यथा-

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यास्थापयति। (9)

(प्रेमय रत्न.)

अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों को जानने की व्यवस्था करता है।

इन्द्रिय ज्ञान क्रम पूर्वक किस प्रकार जानता है इसका वर्णन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार किया गया है-

अहिमुहणियमियबोहणभिणिबोहिययमणिंदिइंदियजं।

अवगहईहावाया धारणगा होंति पत्तेयं।। (306)

स्थूल, वर्तमान और योग्यदेश में स्थित अर्थ को अभिमुख कहते हैं। इस इन्द्रिय का यही विषय है इस अवधारणा को नियमित कहते हैं। अभिमुख और नियमित को अभिमुख नियमित कहते हैं। उस अर्थ के बोधन अर्थात् ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अभिनिबोध ही अभिनिबोधिक हैं इस प्रकार स्वार्थ में ठण् प्रत्यय करने से इसकी सिद्धि होती है। स्पर्शन आदि इन्द्रियों की अपने स्थूल स्पर्श आदि विषयों में ही ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। अर्थात् सूक्ष्म परमाणु आदि, अन्तरित शंख-चक्रवर्ती आदि तथा दूरार्थ मेरू आदि को जानने की शक्ति उनमें नहीं है। इससे मतिज्ञान का स्वरूप कहा। वह मतिज्ञान अनिन्द्रिय मन और इन्द्रियां-स्पर्शन,

रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र से उत्पन्न होता है। इससे इन्द्रिय और मन को मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण दिखलाता है। इस प्रकार कारण के भेद से कार्य में भेद होने से मतिज्ञान छह प्रकार का कहा। पुनः प्रत्येक मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। यथा-मानस अवग्रह, मानस ईहा, मानस आवाय और मानसी धारणा। स्पर्शनजन्य अवग्रह, स्पर्शजन्य ईहा, स्पर्शनजन्य अवाय और स्पर्शजन्य धारणा। रसनाजन्य अवग्रह, रसनाजन्य ईहा, रसनाजन्य अवाय और रसनाजन्य धारणा। घ्राणज अवग्रह, घ्राणज ईहा, घ्राणज अवाय और घ्राणज धारणा। चाक्षुष, अवग्रह, चाक्षुषी ईहा, चाक्षुष अवाय और चाक्षुषीधारणा। श्रोत्रजन्य अवग्रह, श्रोत्रजन्य ईहा, श्रोत्रजन्य आवाय और श्रोत्रजन्य धारणा। इस प्रकार मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं। अवग्रह आदि का लक्षण आगे ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा।। (308)

विषय अर्थात् अर्थ और विषयी अर्थात् इन्द्रियों का संयोग अर्थात् योग्य देश में स्थित होने रूप सम्बन्ध के होते ही नियम से दर्शन उत्पन्न होता हैं। वस्तु के सत्ता मात्र सामान्य रूप के निर्विकल्प ग्रहण को दर्शन कहते हैं। दर्शन के पश्चात् की दृष्ट अर्थ के वर्ण-आकार आदि विशेष रूप को ग्रहण करना अवग्रह नामक आद्य ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने लघीयस्त्रय में कहा हैं-इन्द्रिय और अर्थ का योग होते ही सत्ता मात्र का दर्शन होता है। उसके अनन्तर अर्थ के आकारादि को लिये हुए जो सविकल्प ज्ञान होता है तब अवग्रह है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है कि छद्मस्थों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। यद्यपि इस गाथा सूत्र में यह नहीं कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने के अनन्तर दर्शन उत्पन्न होता है। फिर भी पूर्वाचार्यों के वचन के अनुसार व्याख्यान करना चाहिये। 'गृहीते' अर्थात् अवग्रह के द्वारा यह श्वेत है ऐसा जानने पर बलाकारूप या पताका रूप यथावस्थित अर्थ को जानने की आकांक्षा यह बलाका-बगुलों की पंक्ति होना चाहिये इस प्रकार बगुलों की पंक्ति में ही जो भवितव्यतारूप ज्ञान होता है वह ईहा है। अथवा पताका रूप विषय का आवलम्बन लेकर अर्थात् यदि अवग्रह से जानी हुई श्वेत वस्तु पताका प्रतीत हो तो यह पताका होनी चाहिये, इस प्रकार जो पताका में ही भविष्यता प्रत्यय रूप

आकांक्षा होती है, वह दूसरा ईहा ज्ञान है। इस प्रकार अन्य अन्य इन्द्रियों के विषय में और मन के विषय में अवग्रह से गृहीत वस्तु में यथावस्थित विशेष की आंकाक्षा रूप ज्ञान ईहा है यह निश्चय करना चाहिये। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की हीनाधिकता के भेद से अवग्रह और ईहाज्ञान में भेद होता है। इस सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में यह बलाका है या पताका इस संशय को तथा बलाका में यह पताका होनी चाहिए, इस विपरीत मिथ्याज्ञान को स्थान नहीं है।

ईणिकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालंतरेवि णिण्णिदवतथुसुमरणस्स कारणं तुरियं।। (309)

विशेष की आंकाक्षा रूप ईहा ज्ञान के पश्चात् जब ईहित विशेष अर्थ का सुनिर्णय हो जाता है। जैसे ऊपर-नीचे होने तथा पंखों के हिलाने आदि चिन्हों से यह बलाका ही है इस प्रकार निश्चय के होने को अवाय कहते हैं। 'तु' शब्द पहले आकांक्षा किये गये विशेष वस्तु के निर्णय को ही 'अवाय' कहते हैं यह अवधारणा के लिए है। इससे यह ग्रहण करना चाहिये कि वस्तु तो कुछ है और और निर्णय अन्य वस्तु का किया तो वह अवाय नहीं है। वही अवाय बार-बार प्रवृत्ति रूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कार रूप होकर कालान्तर में भी निर्णीत वस्तु के स्मरण में कारण होता है तो धारण नामक चतुर्थ ज्ञान होता है।

जिस प्रकार मतिज्ञान क्रमपूर्वक निश्चित विषय एवं निश्चित पर्यायों को जानता है उस प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कुछ निश्चित पर्यायों को ही जानते हैं। इसलिए ये चारों ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से परोक्ष ज्ञान ही हैं। परन्तु आगम में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को परोक्ष बताया गया एवं अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान को देश प्रत्यक्ष बताया गया है। जैन न्याय ग्रन्थ में चक्षु आदि से देखने को प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः यह लोक व्यवहार चलाने के लिए बताया गया है। क्योंकि उपरोक्त चारों ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण प्रगट होते हैं और किसी न किसी रूप में बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा को लिये हुए जानते है। परन्तु इस गाथा में कुन्दकुन्ददेव ने मुख्यतः इन्द्रिय परोक्ष ज्ञान को स्वीकार किया है। उपरोक्त विषय को जानकर मुमुक्षु को उस केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये बद्ध परिकर होना चाहिए और अन्य ज्ञान को प्राप्त उस ज्ञान को सब कुछ मानकर अहंकारी या पुरुषार्थ हीन बनकर नहीं रहना चाहिए यह उसका आध्यात्मिक पक्ष है।

अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।(41)

That is called supersensuous knowledge witch knows any substance, with or without space-points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those which are destryoed.

आगे कहते है कि अतीन्द्रिय रूप केवलज्ञान ही भूत-भविष्य को व सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानता है।

जो ज्ञान (अपदेस) बहु प्रदेश-रहित कालाणु व परमाणु आदि को (सपदेसं) बहु-प्रदेशी शुद्ध जीव को आदि ले पाँच अस्तिकायों के स्वरूप को (मुत्त) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को (च अमुत्तं) और अमूर्तिक शुद्ध जीव आदि पाँच द्रव्यों को (आजाद) अभी नहीं उत्पन्न हुई होने वाली (च पलयं गयं) और छूट जाने वाली भूतकाल की (पज्जयं) द्रव्यों की पर्यायों को इस सब ज्ञेय को (अदिंदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है।

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथा से कहे हुए इन्द्रिय ज्ञान तथा मानस ज्ञान को छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमयी स्वसंवेदन ज्ञान में सब विभाव परिणामों को त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमयी सर्वज्ञपद को प्राप्त करते है, यह अभिप्राय है।

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होती है। ऐसे बौद्धों के मत को निराकरण करते हुए तीन गाथाएँ कहीं, उसके पीछे इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से होता है ऐसा कहकर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाले शिष्य को समझाने के लिए गाथा दो कही। ऐसे समुदाय के पाँचवें स्थल में पाँच गाथाएँ पूर्ण हुई।

इन्द्रियज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने) और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार आदि को अन्तरंग स्वरूप कारणपने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान) (1) सप्रदेशी को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नहीं जानता, क्योंकि

वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है। (2) मूर्तिक को ही जानता है क्योंकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है। अमूर्तिक को नहीं जानता, क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है। (3) वर्तमान को ही जानता है, क्योंकि वहाँ ही विषय-विषयी के सन्निपात का सद्भाव है। भूत में प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता, (क्योंकि भूत भविष्य के साथ विषय-विषयी के सन्निकर्ष का अभाव है।)।

जो अनावरण अतीन्द्रियज्ञान है उसके, जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धन) दाह्यता का उल्लंघन न करने के कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लंघन न करने से ज्ञेय ही हैं।

समीक्षा-कुन्दकुन्ददेव ने 40 नम्बर गाथा में परोक्षज्ञान स्वरूप जो इन्द्रिय ज्ञान का वर्णन किया है उससे विपरीत 41 नम्बर गाथा में प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान का वर्णन किया है। इन्द्रिय ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है तो उससे विपरीत वह केवलज्ञान का धारी होते हुए भी केवलज्ञान को बिना प्राप्त किये दीनहीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। ऐसे जीवों के लिए बार-बार प्रबोधन दे रहे हैं कि हे जीव! तुम स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अखण्ड अक्षय, अनंत ज्ञानानंद जगत् के स्वामी होकर भी दीन हीन होकर सुख एवं ज्ञान के लिए क्यों संसार में यत्र-तत्र भ्रमण कर रहे हो। स्वयं को देखो, स्वयं को पहिचानो जिससे तुम स्वयं के वैभव को प्राप्त कर सकते हो। कहा भी है-

तद्बूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्व विद्यामयं व्रजेत्।।(53) स.तं.

आत्म श्रद्धालु को (तत्) वह आध्यात्मिक, चर्चा (ब्रूयात्) करनी चाहिए (तत्) वह आत्मा-सम्बन्धी ही बातें (परान्) अन्य ज्ञानियों से (पृच्छेत्) पूछनी चाहिये (इच्छेत्) उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए (तत्परःभवेत्) उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर-तैयार या उत्सुक रहना चाहिए, (येन) जिसमें (अविद्यामयं रूपं) अपना आत्मा का अज्ञान भाव (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यालय) ज्ञानभाव (व्रजेत्) प्राप्त हो।

क्षायिक ज्ञान ही केवलज्ञान

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइगं भणियं।। (47)

That knowledge is called Ksayika (i.e. produced after the destruction of Karmas) which knows completely and simultaneously the whole range of veriegated and unequal objectivity of the present and otherwise.

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञ का स्वरूप है। आगे कहेंगे कि सर्वज्ञ को जानते हुए एक का ज्ञान होता है तथा एक को जानते हुए सर्व का ज्ञान होता है। इस तरह पाँच गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम ही निरूपण करते हैं क्योंकि यहाँ ज्ञान प्रपंच के व्याख्यान की मुख्यता है, इसलिये उसी ही को आगे लेकर फिर कहते हैं कि केवलज्ञान सर्वज्ञ रूप है।

(जं) जो ज्ञान (समंतदो) सर्व प्रकार से आत्मा के प्रदेशों से (विचित्तं विसमं) नाना भेदरूप जाति के मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, आदि (सव्वं अत्थं) सर्व पदार्थों को (तक्कालिग) वर्तमान काल सम्बन्धी तथा (इतरं) भूत, भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं) एक समय में व एक साथ (जाणदि) जानता है। (तं णाणं) उस ज्ञान को (खाइयं) क्षायिक (भणियं) कहा है। अभेद नय से वही सर्वज्ञ का स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत सब तरह से प्राप्त करने योग्य है, इस रूप से भावना करनी चाहिए। यह तात्पर्य हैं।

(1) वर्तमान काल में वर्तते, (2) भूत-भविष्यत् काल में वर्तते, (3) जिनमें पृथक् रूप से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रकट हुआ है, (4) और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान-जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है, ऐसे (चार विशेषण वाले) समस्त पदार्थ समूह को, एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिक ज्ञान वास्तव में जानता है। इसी बात को युक्तिपूर्वक स्पष्ट समझाते हैंः- (1) उस (केवल ज्ञान) के वास्तव में क्रम-प्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले

ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से (वह क्षायिक ज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ समूह को समकाल में (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (2) सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है (4) सर्व प्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से, असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के नाश होने से (वह क्षायिक ज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है। (5) असमान जातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) विषय को भी (असमान जाति के पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।

सार- अथवा, अतिविस्तार से बस हो जिसका अनिवारित (रूकावट रहित फैलाव है) ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिक ज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सर्व कालीन त्रिकालीन), सर्वत्र (सब क्षेत्र के लोक अलोक के) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्ण रूप से) जाने अर्थात् जानता है।

समीक्षा- इस गाथा में कुंदकुंददेव ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है वही केवलज्ञान है और जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह केवलज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि क्षयोपशम में अभी भी कुछ ज्ञान को रोकने वाले कर्म की सत्ता विद्यमान है परन्तु क्षायिक ज्ञान को रोकने वाले कर्म का सर्वथा अभाव है। वीरसेन स्वामी ने धवला में कहा भी है-

संपुण्णं तु समग्गं केवलमवसत्त-सव्व-भाव विदं।
लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं।। (186)

जो जीवद्रव्य के शक्तिगत सर्वज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के व्यक्त हो जाने के कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा नाश हो जाने के कारण जो अप्रतिहत शक्ति है, इसलिए समग्र है, जो इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित होने के कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थों में प्रवृत्ति करता है इसलिए असपत्न है और जो लोक और अलोक में अज्ञान रूपी अंधकार से रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिए।

राजवार्त्तिक में अकलंक देव स्वामी ने केवलज्ञान के बारे में कहा है-

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं। (9)

निरवशेष का ज्ञान कराने के लिये सर्वशब्द को ग्रहण किया है। लोक-अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनंतानंत द्रव्य और पर्यायें हैं उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है अर्थात् उन सबको केवलज्ञान जानता है। जितने भी अनंतानंत लोक-अलोक द्रव्य है इससे भी अनंतगुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, ऐसा जानना चाहिए।

जो सब को नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।। (48)

He, who does not know simultaneously the objects of the three tenses and in the three worlds, cannot know even a single substance with its (infinite) Modifications.

आगे आचार्य विचारते हैं कि जो ज्ञान सबको नहीं जानता वह ज्ञान एक पदार्थ को भी नहीं जान सकता है। (जो) जो कोई आत्मा (जुगवं) एक समय में (तिक्कालिगे) तीन काल की पर्यायों में परिणमन करने वाले (तिहुवणत्थे) तीन लोक में रहने वाले (अत्थे) पदार्थों को (ण विजाणदि) नहीं जानता है (तस्स) उस आत्मा का ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एकं दव्वं) एक द्रव्य को (वा) भी (णादुं) जानने के लिए (ण सक्कं) नहीं समर्थ होता है।

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य हैं, क्योंकि एक-एक जीवद्रव्य में अनन्त कर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध है तैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं क्योंकि काल के समय पुद्गल द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे हैं। यह सब ज्ञेय-जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब

जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता में परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है। तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखंडज्ञान रूप अपने ही आत्मा को परिणमता है अर्थात् सबको जानता है और जैसे वही अग्नि पूर्व में कहे हुए ईंधन को नहीं जलाती हुई उस ईंधन के आकार रूप नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व में कहे हुए सर्वज्ञेयों को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखंड ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नहीं परिणमाता है अर्थात् सर्व का ज्ञाता नहीं होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते है। जैसे कोई अन्ध पुरुष सूर्य से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं देखता, दीपक से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दीपक को भी नहीं देखता, दर्पण में झलकती हुई परछाई को न देखते हुए दर्पण को भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरण में प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवल ज्ञान रूप अपने आत्मा को नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

समीक्षा-सामान्यतः वस्तु स्वरूप को जानने की प्रणाली एवं प्रतिपादन की प्रणाली विधिपरक (अस्तिपरक) एवं निषेधपरक (नास्तिकारक) होती है। क्योंकि द्रव्य स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से अस्तिरूप एवं परचतुष्टय (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से नास्तिरूप है। जिस प्रकार विज्ञान की प्रयोगशाला में कुछ मिले हुए तत्त्व को पृथक्-पृथक् करने के लिए मिले हुए संपूर्ण तत्त्वों का परिज्ञान चाहिए। उसके बिना तत्त्व विश्लेषण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप को एवं परस्वरूप को जानने के लिए एवं पृथक्करण करने के लिये भी स्वज्ञान के साथ-साथ पर का भी ज्ञान आवश्यक है। इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

जीवोऽन्यःपुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तत्स्यैव विस्तरः।।(50)

जीव शरीरादिक पुद्गल से भिन्न हैं और पुद्गल जीव से भिन्न हैं यही तत्त्व का संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इस ही का विस्तार है। इस गाथा में आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञान संपूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञेय को नहीं जानता है वह एक द्रव्य या स्वद्रव्य को भी नहीं जान सकता है।

क्योंकि एक द्रव्य में भी अनन्त गुण एवं पर्यायें होती हैं उन अनंत गुण एवम् पर्यायों को जानने के लिये अनंत ज्ञान चाहिए। क्योंकि 'णाणं णेय पमाण मुद्दिट्ठं' अर्थात् ज्ञान ज्ञेय के बराबर होता है। यदि ज्ञेय अनंत हैं तो उसको जानने वाला ज्ञान भी होना चाहिए अन्यथा छोटा ज्ञान बड़े ज्ञेय को नहीं जान सकता हैं। इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि जो केवलज्ञान अनन्तगुण पर्यायात्मक त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयों को जानता है वही ज्ञान अनन्त गुण पर्यायात्मक एक द्रव्य को या स्वआत्म द्रव्य को जान सकता है यह ज्ञान एवं ज्ञेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार दस लीटर पानी को एक ही बार में मापने के लिए कम से कम 10 लीटर वाला मापक चाहिये और यदि मापक उससे छोटा है तो जल एक बार में मापा नहीं जा सकता । इसलिए सर्वज्ञ सर्व ज्ञेयों को जानते हैं और एक ज्ञेय को भी जानते हैं।

(जो एक को जानता वह सब को जानता)

-आचार्य कनकनन्दी

(स्वात्मा का पूर्णज्ञाता होता है विश्वज्ञाता)

(चाल....कसमे वादे....)

तू ही तेरा ज्ञान-ज्ञेय है, अन्य सब तेरा ज्ञेय है।
तू ही तेरा द्रव्य व सत्य, गुण-पर्याय व धर्म/तीर्थ है।।(स्थायी)
तेरे अन्दर अनन्त गुण, पर्याय भी होती अनन्त हैं।
तू ही तुझे जानने हेतु, चाहिए ज्ञान अनन्त है।।(1)

अनन्त ज्ञानी बनने हेतु, चाहिये घाती नाश है।
जिससे बनोगे सर्वज्ञ तू, स्व-पर-विश्व ज्ञायक है।।(2)
अतः तू जानो स्वयं को, विश्व बनेगा ज्ञेय है।
इसलिए तुझे करना होगा, राग-द्वेष-मोह-क्षय है।।(3)

अनेकान्त का अनन्त विराट स्वरूप

अनन्त गुणपर्यायात्मक द्रव्य (सत्य) है अनेकान्त

(अनन्त सप्तभंगी/अनन्त आयाम)

(चालः-1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिए...)

एक में अनेक तथा अनेक में एक, समाहित होना ही होता अनेकान्त।
अनेकान्त होता वस्तुस्वभावमय, अनन्तगुणपर्यात्मक द्रव्य (वस्तु)।।
''सत्द्रव्यलक्षणं'' होने से सत् द्रव्य, द्रव्यस्वरूपमय होती है वस्तु (सत्; सत्य)।
उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक द्रव्य (सत्) ही उत्पन्न व्यय तथा ध्रौव्य।।
अनन्तगुण होते सत्य में, गुण की अवस्थायें होती पर्याय।
उत्पाद व्ययध्रौव्य तीनों पर्यायें अनन्तगुणों में तीनों ही पर्यायें।। (1)
ये सभी होते द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ में, शुद्ध-अशुद्ध मूर्तिक-अमूर्तिक में।
चेतन-अचेतन मय सभी द्रव्यों में, सतत सदा काल व अविरोध में।।
शुद्ध में तीनों होती शुद्ध रूप में, अशुद्ध में होती अशुद्ध रूप में।
चेतन में होती चेतन रूप में, अचेतन में होती अचेतन रूप में।। (2)
जीवपुद्गल धर्म अधर्म काल, आकाश सहित छहों ही द्रव्य।
जीवाजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा, मोक्ष समाहित सातों ही तत्त्व।
पुण्य-पाप समाहित नव पदार्थ, इस में निर्मित है लोक-अलोक।
जीव-पुद्गल दोनों शुद्ध-अशुद्ध, अनन्तानन्त दोनों ही द्रव्य।। (3)
कर्म सहित संसारी जीव होते अशुद्ध, कर्म रहित होते परमशुद्ध।
संसारी जीव भी होते अनन्तानन्त, मुक्त जीव भी होते अनन्तानन्त।।
एक संसारी जीव में अनन्तअणु, बन्धे हुए अष्टकर्म रूप में।
एक आत्मप्रदेश में अनन्तगुण, असंख्यात प्रदेशों में अनन्तानन्त।। (4)

ऐसा ही ज्ञेय अनन्तसंसार जीव में, कर्मानुसार परिणाम भी है अनन्त।
कर्मरहित से अनन्त शुद्ध परिणाम, अशुद्ध से गुणीत अनन्त शुद्ध भाव।।
अतएव अनन्तानन्त शुद्ध जीवों में, अनन्तानन्त गुणीत शुद्ध भाव है।
शुद्ध एक गुण के अनन्तअविभागी-प्रतिच्छेद, अनन्तगुणों में अनन्तगुणीत।। (5)
ऐसा ही अनन्तानन्त पुद्गल में ज्ञेय, शुद्धपरमाणु व स्कन्ध में ज्ञेय।
धर्म, अधर्म व आकाश, काल, द्रव्य, शाश्वतिक शुद्ध में तथाहि ज्ञेय।।
इसे जानते सर्वज्ञ अनन्तज्ञानी, इसे न जान सकते अनन्त अज्ञानी।
एक अणु को भी न जान सकते अज्ञानी, एक अणु भी अनन्त गुणों का धारी।। (6)
अतएव अनेकान्त पूर्णतः सर्वज्ञ ज्ञेय, सर्वज्ञ भी न कर सकते एक साथ कथन।
अनन्त सप्तभंगी में करते, कथन, गणधर तक जानते अनन्त एकभाग।।
अतएव सर्वज्ञ कथन ही यथार्थ सत्य, अन्य के कथन होते आंशिक सत्य।
आंशिक सत्यकथन होता स्याद्वाद, स्याद्वाद रिक्त कथन होता असत्य।। (7)
सर्वज्ञ बनने हेतु चाहिए घाती क्षय, ज्ञान दर्शन मोह अन्तराय कर्म क्षय।
इस हेतु चाहिए परम आत्मविशुद्धि, इसे पाना ही 'कनक' का परम ध्येय।।
विज्ञान में इसे कहते सापेक्ष सिद्धान्त, वैज्ञानिक आइन्स्टीन से हुआ प्रारंभ।
एकीकृत सिद्धान्त तक हो रहा विकास, हर क्षेत्र में चाहिये अनेकान्त-स्याद्वाद।। (8)
अनेकान्त-सिद्धान्त है वैश्विक सिद्धान्त, इससे ही संभव हर समस्या शान्त।
अन्त्योदय से सर्वोदय इससे ही संभव, विश्वगुरु अनेकान्त सिद्धान्त ज्ञेय।। (9)

संदर्भ-

परं चिज्ज्योति को नमन

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।(1) पु.सिद्धि.

Victory to that supreme Light, where, as it were in a mirror, is reflested the chain of all substances in all their infinite conditions.

व्याख्या-भावानुवाद : वह प्रसिद्ध परमज्योति जयवन्त हो। लोक अलोक

को प्रकाशित करने वाली लोक के लोचन स्वरूप अत्यन्त उत्कृष्ट निर्मल ज्योति होने के कारण केवलज्ञान ही परम ज्योति है। वह परम ज्योति ज्ञान मूर्ति है। यह ज्ञानात्मक परमज्योति अष्टकर्म से रहित होने के कारण तथा सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ट है, निर्मल है, चैतन्य स्वरूप है। जयति अर्थात् सबसे उत्कृष्ट रूप में प्रवर्तन होती है।

जिसमें आत्मा समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सिद्धत्व, निरोगत्व, अक्षय अव्याबाधत्व आदि गुण आदि अनन्त, अनादि अनन्त पर्यायों के साथ पदार्थों की मालिका/श्रृंखला नव पदार्थों की परम्परा सम्यक् रूप में युगपत्/एकसाथ समग्रता रूप में प्रतिफलित/प्रतिबिम्बित होती है। जिस प्रकार आदर्श/दर्पण में योग्य द्रव्य क्षेत्र में रहते हुए रूपी द्रव्य अर्थात् भौतिक वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, उसी प्रकार अष्टकर्ममलों से रहित अचिन्त्य सामर्थ्य से युक्त परम ज्योति में/परम ब्रह्म में त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तु समूह हस्तरेखा के समान प्रकाशमान होती है।

आचार्य श्री ने किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके आध्यात्मिक गुण विशेष को नमस्कार किया है क्योंकि महान् पुरुष व्यक्तित्ववादी न होकर गुणग्राही होते हैं क्योंकि गुणों से ही व्यक्ति महान् बनता है। इसलिए आचार्य श्री ने केवलज्ञान रूपी ज्योति को प्राप्त करने के लिए उसको नमन किया है। केवलज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा भी है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।।(29)

(The subject matter) of perfect knowledge (is) all the substances (and all their) modifications.

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि अनन्त गुण हैं। परन्तु जैसे-घने बादलों के कारण सूर्य उदित रहते हुए भी सूर्य की रश्मि छिप जाती है। उसी प्रकार कर्मरूपी घने बादलों के कारण ज्ञान रश्मि तिरोहित हो जाती है। उसी प्रकार कर्मरूपी घने बादलों के कारण रश्मि तिरोहित हो जाती है, जिससे जीव अल्पज्ञ हो जाता है। परन्तु जैसे जितने-जितने अंश में बादल हटता जाता है उतने-उतने अंश में सूर्य रश्मि प्रगट होती जाती है, उसी प्रकार जितने-जितने अंश में ज्ञानावरणीय कर्मरूपी

बादल हटता जाता है, उतने-उतने अंश में ज्ञानरूपी सूर्य रश्मि प्रगट होती जाती है। जैसे-सम्पूर्ण बादल सूर्य के सामने से हट जाता है तब सूर्य रश्मि पूर्णरूप से प्रगट हो जाती है, उसी तरह सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म हट जाता है तब सम्पूर्ण ज्ञान रश्मि प्रगट हो जाती है। इसे ही केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त लोक अलोक को प्रकाशित करता है।

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।।(460) गो. जी.

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल, प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थगत और यह ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है तथा जीव द्रव्य के जितने अंश हैं वे यहाँ पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गए हैं। इसलिए उसको (केवलज्ञान को) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति युक्त है और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। चारों घातिकर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रमकरण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों को ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिए उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्।
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।।(30) त.सा.

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं।।(23)

जैसे सूर्य या दीपक का एक निश्चित आकार होता है परन्तु उसका प्रकाश उस निश्चित आकार से भी अधिक फैलता है, प्रकाश फैलने पर भी सूर्य या दीपक फैलता नहीं है, परन्तु जहाँ तक उसका प्रकाश फैलता है उसका उतना क्षेत्र माना जाता है।

जैसे एक चुम्बक और उसका चुम्बकीय क्षेत्र अलग-अलग होता है। चुम्बक का आकार छोटा और उसका चुम्बकीय क्षेत्र अलग-अलग होता है। चुम्बक का आकार छोटा और उसका चुम्बकीय क्षेत्र उसके आकार को घेरता हुआ बड़ा होता है। इसी प्रकार केवलज्ञानी के आत्मप्रदेश असंख्यात होते हुए भी उनका आकार अन्तिम शरीर के आकार के समान है। सिद्ध भगवान् का तो आकार अंतिम शरीर से भी कुछ कम है।

कुछ केवली भगवान् मोक्ष के पहले चार प्रकार के समुद्घात करते हैं। उसे केवली समुद्घात कहते हैं। अन्तिम केवली समुद्घात में उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण 343 धनराजू प्रमाण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। अन्य समय में उनके आत्मप्रदेश संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण भी रहते हैं और सिद्धावस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून आकार में रहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् हर अवस्था में सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हैं। इस कारण ज्ञानक्षेत्र/ज्ञेयक्षेत्र की अवस्था सर्वगत है किन्तु जो लोग भगवान् को शरीर की अपेक्षा भी सर्वगत मानते हैं वे सत्य-तथ्य से परे हैं। यदि भगवान् सर्वगत होते तो मलत्याग आदि अयोग्य क्रिया भी भगवान् के शरीर में ही होती जिससे भगवान् को ही अपवित्र कर देते और कष्ट देते। जैसे-सूर्य के प्रकाश क्षेत्र में कोई कार्य करने पर वह सूर्य में नहीं होता वैसे भगवान् के ज्ञान क्षेत्र में ये क्रियायें होती हैं इसलिए भगवान् के शरीर में ये क्रियायें नहीं होती हैं। परमात्म प्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने ज्ञान, ज्ञानविषय, ज्ञानक्षेत्र का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

जसु अब्भंतरि जसुवसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि।।

जिस आत्म राम के केवलज्ञान में संसार बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बत हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है और जगत् में वह बस रहा है अर्थात् सब में व्याप्त हो रहा है-वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, संसार में निवास करता हुआ भी निश्चयनयकर किसी जगत् की वस्तु से तन्मय नहीं होता अर्थात् जैसे रूपी पदार्थ को नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे अलग ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे अलग रहता है, उसी को परमात्मा ऐसा हे प्रभाकरभट्ट, तू जान।

अनेकान्त को नमन

परमागमस्य बीजं, निषिद्ध जात्यंध-सिन्धुरविधानम्।
सकल नय विलसितानां, विरोध मथनं नमाम्यनेकान्तम्।।(2)
कालो सहाव नियइ, पुव्वकयं पुरसकारणे पंच।
समवायो सम्पतत्तं, एगं ते होइ मिच्छत्तं।।

I bow to Anekant (Jaina Philosophy), which is the root basis of the Highest Scripture, which disples the wrong notions about elephant, of persons born blind, and which remoues the contradictions amongst all those entertain one sided or limited points of view.

मैं ग्रंथ कर्त्ता श्री अमृत चन्द्राचार्य अनेकान्त स्याद्वादात्मक जैन वचन रूपी द्वादशांग रूपी शास्त्र को नमन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। यह अनेकान्त परमागम का बीज है। परमागम अर्थात् जीव अजीव आदि नव पदार्थात्मक आत्म तत्त्व का बीज है अर्थात् कारण भूत है, मूलभूत है। यह अनेकान्त जन्म से अन्धे पुरुषों द्वारा होने वाले हाथी के स्वरूप विधान का निषेध करने वाला है। यथा पुण्य सेठ के जन्मान्ध पाँच पुत्र राजद्वार में जाकर हाथी के एक-एक अंग तथा पूँछ, दाँत, पैर, सूण्ड, कर्ण आदि को स्पर्श करके उस-उस आकार का ही हाथी है इसी प्रकार एकान्त मात्र कदाग्रह से ग्रसित होकर अपने-अपने वाक्य को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् जिसने हाथी की पूँछ को स्पर्श किया था वह हाथी को झाड़ू के जैसे मानता है, जिसने पैर को स्पर्श किया था वह खम्भे के जैसे मानता है इसी प्रकार हाथी को एकान्त रूप से एक-एक अंग के आकार के रूप में मान लेते हैं और उसके अनुसार बताते हैं। इसी प्रकार जात्यान्ध के समान पाँच प्रकार के मिथ्या दृष्टि यथा एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान, वैनयिक जीव अपने-अपने कदाग्रह में एकान्तिक दृष्टि में ग्रसित रहते हैं परन्तु जैन मतानुयायी सर्वांगदर्शी अर्थात् अनेकान्त दृष्टि से देखते हैं। जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं उसी प्रकार अनेकान्तात्मक जिन वचन से रहित जीव भी यथार्थ सत्य-तथ्य को नहीं जानता है। कहा भी है-

1. एकान्तकाल वादी मानता है कि काल से ही विश्व की उत्पत्ति होती है,

उसकी वृद्धि होती है, उसकी प्राचीन अवस्था उत्पन्न होती है, विनाश होता है। इसलिए काल ही विश्व उत्पत्ति में कारण है।

2. स्वभाववादी कहता है कि स्वभाव से ही जगत् उत्पन्न होता है। यथा-कौन काँटे को तीक्ष्ण करता है। कौन मयूर को विचित्र करता है, कौन कमल को सुरभि गन्ध से भरता है यह सब स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे कि पुरुष का स्वभाव, स्त्री का स्वभाव। इसलिए स्वभाव ही सबके लिए करण है।

3. नियतिवादी कहता है कि सब कुछ नियति से होता है। नियति का अर्थ भवितव्यता है जो होने का है उसे इन्द्र भी अन्यथा नहीं कर सकता है। यथा कोई कदर्प (कौड़ी, मुद्रा) को फैंकता है। एक की तो चित्त रूप गिरती है एक पट रूप में गिरती है। इत्यादि दृष्टान्त से नियति ही प्रमाणीभूत है।

4. कर्मवादी कहता है कि जो जैसा कर्म करता है वही होता है। अन्य सम्पूर्ण वृथा है। वह कहता है कि कर्म के बल पर ब्रह्माण्ड रूपी भाण्डोदर में ब्रह्मा कुम्हार के जैसे बर्तन करता, विष्णु दशावतार को ग्रहण करके सदा संकट में पड़ा रहता है, कपाल को हाथ में लेकर रुद्र भिक्षाटन करता है, सूर्य सतत् आकाश में गमन करता है। इसलिए कर्म को नमस्कार हो। अतएव कर्म ही बलवान है।

5. पुरुष्कारवादी कहता है कि एक ही ईश्वर सम्पूर्ण संसार का कर्त्ता है, हर्त्ता है। ईश्वर से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है। ईश्वर से ही प्रलय होता है।

इसी प्रकार पाँचों ही प्रकार के दार्शनिक स्व-स्व मत् की स्थापना करते हैं। इसलिए मिथ्यात्व जन्मान्ध के समान है। जब सम्यक् रूप में समुदाय रूप से मानते हैं तब सम्यक्त्व होता है तथा उपर्युक्त पाँचों कारण से विश्व की उत्पत्ति होती है। जब एक को ही स्वीकार किया जाता है तब मिथ्यात्व होता है। जैसा कि किसके द्वारा बीज वपन किया जाता है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। जीव के द्वारा बोया हुआ बीज (जीवित वृक्ष) काल को प्राप्त करके बढ़ता हैं स्वभाव से मधुर, अम्ल आदि रस उत्पन्न होते हैं। कर्म से चिरस्थायी होते हैं। भवितव्यता से यथा संख्य पत्र, फल, शाखा आदि से युक्त होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीव-अजीवात्मक विश्व में पाँचों सिद्धान्तों को जानना चाहिये। अनेकान्त ही मिथ्यात्व रूपी जात्यान्ध हाथी विधान को निषिद्ध करता है। वह अनेकान्त सकल नयों से विलसित होता है और विरोध का

मंथन करता है। समस्त मिथ्या शब्दवादी आदि मतों को मथने वाला ऐसा अनेकान्तात्मक जैन वचन को मेरा नमन है।

समीक्षा : वस्तु स्वरूप की सिद्धि अनेकान्त दर्शन या सापेक्ष सिद्धान्त से ही होती है।

विश्व चक्षुः अनेकान्तमय आगम

लोक त्रयैक नेत्रं, निरुप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरूपोध्रियते, विदुषां पुरुषार्थ सिद्धयुपायोऽयम्।।(3)

After having carefully studies the Highest scripture, which affords a matcheless vision of the three words I porceed for expound for the sake of scholars, this (tratise) Purusharthasiddyupaya.

यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि का उपायभूत पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायः मेरे द्वारा अर्थात् ग्रन्थकर्त्ता श्रीमद्अमृतचन्द्र-सूरि द्वारा विद्वानों के लिये उद्धृत किया जाता है अर्थात् प्रणयन किया जा रहा है। भगवान् के वचन के अनुसार अत्यन्त प्रयत्न सहित मेरे द्वारा इस ग्रंथ की रचना की जा रही है। यह ग्रन्थ तीन लोक के लोचन स्वरूप है। इस परमागम के द्वारा तीन लोक का स्वरूप जाना जाता है। इसलिये इसे तीन लोक का एकमेव लोचन कहा जाता है। इसलिये ज्ञान ही सुन्दर नेत्र है। स्वयं ग्रन्थकर्ता भी अन्य ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं न कि स्वयं की बुद्धि से। अर्थात् भगवान् के वचन को सम्यक् रूप से समीक्षा करके इस ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

समीक्षा : इस श्लोक में आचार्य श्री ने आगम को ''तीन लोक'' का एक नेत्र कहा है। यथा-

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चत्तेहि।
जाणति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा।।(235)

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्म पदार्थ को लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्वगुण और पर्याय परमागम के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि परोक्ष रूप आगम केवलज्ञान के समान है। आगम द्वारा पदार्थों को जान लेने पर जब स्वसंवेदन ज्ञान पैदा हो

जाता है तब उस स्वसंवेदन के बल से जब केवलज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसीलिये आगम चक्षु के द्वारा परम्परा से सर्व ही प्रत्यक्ष दिख जाता है। इसलिये आगम में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय सत्य है, सिद्धान्त है। अतः सर्वज्ञ का वचन ही प्रवचन है, क्योंकि इनका ही वचन अज्ञानता से, राग द्वेष से, विपरीतता से, संशय से अनध्यवसाय से, पक्ष-पात से रहित होने के कारण प्रवचन है।

(प्र+वचन) अर्थात् प्रकृष्ट वचन है। इनकी कथन प्रणाली अनेकान्तात्मक, स्याद्वाद से युक्त होने के कारण उनके वचन या आगम को 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। अतः केवलज्ञान में जो प्रत्यक्ष भूत सत्य है वही परोक्ष रूप में आगम है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है। यथा-

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।(105)

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों (जीवादि) सब तत्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के प्रकाशन में साक्षात् और असाक्षात्-परोक्ष का भेद है। केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों का प्रत्यक्षतः एवं युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थों का अप्रत्यक्षतः (परोक्षरूप से) क्रमशः प्रकाशक है। इन दोनों ज्ञानों में से जो किसी भी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।

कुन्द-कुन्द देव ने नियमासार में भी कहा है कि सर्वज्ञ के द्वारा ही प्रतिपादित वचन ही आगम है और आगम के द्वारा ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने के कारण उसके द्वारा प्रतिपादित विषय तत्वार्थ है। यथा-

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति वच्चात्था।।(8)

उन आप्त परमेश्वर के मुखारविंद से निकले हुए कुशल वचन की रचना का विस्तार है।

वह पूर्वापर दोष से रहित है, उन भगवान् के राग का अभाव होने से पापसूत्र के समान हिंसादि पाप क्रियाओं का अभाव होने से जो शुद्ध है वह 'परमागम' इस नाम से कहा जाता है। वह परमागम भव्यों के द्वारा कर्ण रूपी अंजलि पुट से पीने

योग्य अमृत है। मुक्ति सुन्दरी के मुख को देखने का दर्पण है, संसाररूपी महासमुद्र के महाभंवर में फँसे हुये सम्पूर्ण भव्य जीवों को हाथ का अवलम्बन देने वाला है, सहज-स्वाभाविक वैराग्य-रूपी महल के शिखर का चूड़ामणि रत्न है, अक्षुण्ण जो कभी नष्ट नहीं होगा ऐसा मोक्ष रूपी उत्तम भवन में पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी है और कामभोग से उत्पन्न हुये जो अप्रशस्त रागरूपी अंगारे उनसे झुलसते हुये दीन प्राणियों के महान् क्लेश को जड़मूल से नष्ट करने में समर्थ ऐसा सजल मेघ है। इन विशेषणों से विशिष्ट ऐसे इस परमागम के द्वारा निश्चित रूप से सात तत्व और नव पदार्थ कहे गये हैं।

इसलिये इस गाथा में आचार्य श्री ने कहा कि अनेक प्रकार गुण एवं पर्यायों से युक्त सम्पूर्ण पदार्थों को श्रमण आगम के माध्यम से देखकर जानते हैं क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों का ज्ञान साधुओं को इन्द्रिय ज्ञान एवं मतिज्ञान से भी नहीं हो सकता है।

विश्व तीर्थ प्रवर्तक

मुख्योपचार-विवरणं, निरस्त-दुस्तर-विनेय-दुर्बोधाः।
व्यवहार-निश्चयज्ञाः, प्रवर्त्तयन्त जगति तीर्थम्।।(4)

True philosophy is promulgated in the Universe, by those who, themselves conversant with the real and the practical aspects, dispel the difficult-to-be-removed ignorance of pupils by an exposition of both the absolute and the relative aspects of things.

जो व्यवहार एवं निश्चय को जानता है वह निश्चय व्यवहार ज्ञाता है। ऐसे निश्चय एवं व्यवहार की जानने वाले विद्वान मुनि जगत् में विश्व में तीर्थ, शास्त्र का प्रवर्तन करते हैं विस्तार करते हैं। तीर्थ शब्द से शास्त्र कहा गया है। कोष में कहा भी है-

प्रवचन में, पात्र में, प्रतिष्ठित आम्नाय में, विद्वान में, पुण्य-अरण्य में, जलाशय में, महाअरण्य में और महामुनि में तीर्थ शब्द का प्रवर्तन होता है।

जो निश्चय एवं व्यवहार में दक्ष है, मुख्य एवं व्यवहार के कथन से अल्पबुद्धि वाले शिष्यों को दुर्बुद्धि को जो निरस्त कर देता है वह निश्चय से आगमज्ञाता है, तीर्थ

है। इसके द्वारा ज्ञानी गुरु व्यवहार एवं निश्चय का स्वरूप प्रकाशन करके कम बुद्धि वाले शिष्यों के मोह पटल तथा अज्ञात पटल को पूर्ण रूप से निराकरण करके एकान्तवाद से रहित, स्याद्वाद सहित भगवत वचन में श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं।

समीक्षाः वस्तु स्वरूप अनेकान्तत्मक होने के कारण श्रद्धा ज्ञान तथा आचरण भी अनेकान्तत्मक होना चाहिए नहीं तो श्रद्धा ज्ञान एवं चारित्र भी मिथ्या हो जायेंगे। कहा भी है-

जोण पमाण णयेहिं णिक्खेवे णिरखदे अत्थं।

तस्साजुतं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।(82)

जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसको अयुक्त पदार्थ और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है।

तीर्थंकर-वाणी-

तित्थयरवयणसंग्गह विसेसवित्थारमूलवागरणी।

दव्वयट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं।।

(सन्मत्ति सूत्र) आचार्य सिद्धसेन

तीर्थंकरों के वचन सामान्य-विशेषात्मक हैं। वे सामान्य रूप से द्रव्य के प्रतिपादक हैं और विशेष रूप से पर्याय के। द्रव्यार्थिक (निश्चय या परमार्थ) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयों (सापेक्ष दृष्टियों) से मूल वस्तु की व्याख्या की गयी है। शास्त्रों में जिन सात नयों का वर्णन मिलता है, वह इन दो नयों का विस्तार है। सभी नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में गर्भित हैं। इसमें द्रव्यार्थिक नय का विस्तार नैगम, संग्रह एवं व्यवहार रूप है। तथा पर्यायार्थिक नय का विस्तार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूप है। मूल में जिनवाणी का विवेचन करने वाले दो नय हैं।

कोई नय शुद्ध जाति वाला नहीं :-

दव्वट्ठियो त्ति तम्हा णत्थि णयो णियमसुद्ध जाईओ।

ण य पज्जवट्ठियो णाम कोई भयणाय उ विसेसो।।(9) (स.स.)

द्रव्य निरपेक्ष पर्याय और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य नहीं है। इसीलिए कोई भी नय शुद्ध जाति वाला नहीं है। द्रव्यार्थिक नय भी शुद्ध जातीय नहीं है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय भी शुद्ध जातीय नहीं है। कोई भी नय अपने विरोधी नय के विषय के स्पर्श से रहित

नहीं। इसीलिए इन दोनों नयों के विषय भेद के कारण सर्वथा भेद नहीं है। वस्तुतः वस्तु जैसी है, वैसी ही है। विवक्षावश वस्तु के कथन में भेद किया जाता है, किन्तु वस्तु में कोई भेद नहीं है। यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय को शुद्ध जातीय इसीलिये नहीं कहा है कि मूल अखण्ड द्रव्य पर्याय रहित नहीं है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय का विषय भी द्रव्य रहित नहीं है। फिर, ये विरोधी नय के विषय के स्पर्श से भी रहित नहीं है क्योंकि सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना कभी भी नहीं पाया जाता है।

दोनों नय परस्पर विरुद्धः-

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु अवत्थुणियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणवयस्स।।(10)

द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य (सामान्य कथन) पर्यायार्थिक नय के लिये नियम से अवास्तविक है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय की विषय वस्तु (विशेष विकल्प) द्रव्यार्थिक नय के लिये अवास्तविक ही है। विवक्षा भेद से दोनों नयों के विषय में भिन्नता है। दोनों ही नय एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को स्पर्श करते हैं। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय रूप हो सकता है और पर्यायार्थिक नय का द्रव्यार्थिक रूप होना सम्भव है क्योंकि एक नय के विषय के साथ दूसरे नय का विषय भी संस्पृष्ट है। फिर भी, द्रव्यार्थिक नय जिसे सामान्य मानता है, पर्यायार्थिक नय उसे विशेष मानता है। अतएव एक दूसरे के विषय को अवस्तु मानने के कारण ये दोनों भिन्न हैं।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं।।(11)

प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। जिसमें परिवर्तन नहीं होता वह वस्तु नहीं है। पर्यायार्थिक नय के अनुसार सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। पदार्थ अर्थक्रियाकारी है। अर्थक्रियाकारिता होना यही पदार्थ की परिणमनशीलता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय के अनुसार सभी पदार्थ न तो उत्पन्न होते हैं और न ही नष्ट होते हैं वे ध्रुव हैं, नित्य हैं। पदार्थ मूलरूप से सदा पदार्थ रहता है। कूटस्थ नित्य पदार्थ में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती। अतः 'सत्' वह कहा गया है जो अर्थ क्रियाकारी है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में परिणमन शीलता तो है, परन्तु उसकी दृष्टि केवल द्रव्य पर ही रहती है।

संसार यथार्थ ज्ञान से रहित

निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थ-बोध-विमुखः, प्रायः सर्वोऽपि संसारः।।(5)

In this connection, Nishchaya is defined as the Real, and Vyavahara as unreal. Almost the whole world has its face against knowledge of the real aspect.

इस ग्रन्थ में या जिनमत में भूतार्थ अर्थात् निश्चय सत्य में प्रदेश भेद नहीं है, यह वर्णन कर रहे हैं। अन्य अभूतार्थ असत्य और व्यवहार प्रदेश भेद कल्पना सहित है, ऐसा वर्णन करते हैं। निश्चय नय द्रव्य में स्थित और व्यवहानय पर्याय में स्थित है। द्रव्य में स्थित सत्य है और पर्याय में स्थित असत्य है यह भावार्थ है। प्रायः अतिशय रूप से समस्त संसारी जीव भूतार्थ बोध से रहित अर्थात् निश्चय ज्ञान से रहित प्रवर्तन करते हैं। जहाँ प्रदेश कल्पना नहीं करता है, वहाँ निश्चय है। इसका ही अपर नाम भूतार्थ है। मोहान्धकार से कलुषित इस संसार में निश्चय ज्ञान से रहित लोक प्रवर्तन करते हैं।

व्यवहारनय की उपयोगिता की भूमिका

अबुधस्य बोधनार्थं, मुनीश्वरादेशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति, यस्तस्य देशना नास्ति।।(6)

The high saints point out Vyavahara for the guidance of the ignorant. A discourse is of no avail to one, who knows Vyavahra only.

मुनियों के ईश्वर गणधरदेव आचार्य आदि अज्ञमूर्खों को बोध देने के लिए अभूतार्थ अर्थात् व्यवहार मार्ग का उपदेश देते हैं। अन्य जो केवल एक व्यवहार को ही जानता है उसे उपदेश देने योग्य नहीं है।

अनिश्चयज्ञ का भ्रम

माणवक एव सिंहो, यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा, निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।। (7)

Just as a cat represents a lion to one who has not knows a lion, similarly Vyavahara alone is Nischaya into him who does not know what Nischaya is.

जो सिंह को नहीं जानता है वह अनवगीत सिंह है अर्थात् सिंह से अज्ञ है। ऐसे अनवगीत सिंह पुरुष के लिए माणवक अर्थात् मार्जार (बिल्ली) ही सिंह हो जाती है। उसी प्रकार अनिश्चयज्ञ मूर्ख के लिये व्यवहार ही निश्चयता को प्राप्त कर लेता है। जो सिंह को नहीं जानता है ऐसा अज्ञ पुरुष सिंह के शूरत्वादि गुणों को बिल्ली में आरोपित कर लेता है। परन्तु निश्चय से सिंह अलग है वह मार्जार नहीं है। यदि परम्परा से विचार किया जावे या तारतम्य रूप से विचार किया जावे तो मत्त हस्ती के कुंभ स्थल को विदारण करना आदि प्रमुख शूरत्व वीरत्व, आदि गुण सिंह में ही पाए जाते हैं। चूहे आदि को मारने रूप तुच्छ गुण आदि बिल्ली में पाये जाते हैं। जो निश्चय को नहीं जानता है उसके लिये व्यवहार निश्चय हो जाता है। निश्चय व्यवहार परस्पर विरुद्ध है तथापि मूर्ख के ज्ञान के लिए व्यवहार मार्ग है।

शिष्य की पात्रता

व्यवहारनिश्चयौ यः, प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः, स एव फलमविकलं शिष्यः।। (8)

That student alone achieves the full benefit of teaching who, having well understood both Vyavahar and Nischaya, in their true nature, becomes neutral.

जो बुद्धिमान शिष्य निश्चय तथा व्यवहारनय को यथार्थ रूप से जानकर तटस्थ माध्यस्थ अर्थात् समताभाव को प्राप्त कर लेता है वह कर्म से अनाश्रित होकर वही शिष्य उपदेश के पूर्ण फल को अर्थात् अविनश्वरत्व को प्राप्त करता है। बुद्धिमान शिष्य यथार्थ रहस्य के माध्यस्थ भाव को प्राप्त करके कर्माश्रव से रहित हो जाता है। वह बुद्धिमान् पाप पुण्य रूप परिणति को छोड़कर माध्यस्थ होकर मोक्षादि रूप फल को प्राप्त कर लेता है।

समीक्षाः–आचार्य श्री ने इस श्लोक में योग्य शिष्य का वर्णन किया है। जब तक शिष्य में पात्रता नहीं आती है तब तक योग्य गुरु का योग्य उपदेश उपकारी नहीं

हो सकता है। जिस प्रकार अयोग्य पात्र में रखा हुआ उत्तम दूध भी दूषित हो जाता है उसी प्रकार उत्तम उपदेश भी अयोग्य शिष्य/श्रोता को प्राप्त करके प्रदूषित हो जाता है। शिष्य में नम्रता, गुणग्राहकता, निष्पक्षता, सत्यग्राहिता आदि गुण होना अनिवार्य हैं। वस्तु स्वरूप अनेकान्तात्मक, निश्चय-व्यवहारात्मक होने के कारण शिष्य को भी उस वस्तु स्वरूप के अनुसार स्वीकार करना चाहिए न कि अपनी पूर्व धारणा, संकीर्णता, मतान्धता के अनुसार वस्तु स्वरूप को स्वीकारना चाहिए। कहा भी है-

जइ जिणमयं पवज्जइ ता वा ववहार णिच्छाए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

यदि जिन धर्म का प्रचार-प्रसार, प्रवर्तन करना है एवं आत्म उद्धार करना है तो केवल एकांत व्यवहार के पक्षपाती मत बनो इसी प्रकार केवल एकांत निश्चय के भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तब संसार से उत्तीर्ण होने के रूप जो व्यवहार तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और जिसके कारण आत्मोपलब्धि रूप निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि निश्चय को नहीं मानेंगे तो व्यवहार धर्म के माध्यम से जिस परम तत्त्व को प्राप्त करना है उस परम् तत्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहार धर्म के द्वारा किस तत्त्व को प्राप्त करेंगे?

समयसार में गुप्त रहस्य को उद्घाटित करने वाले, कुन्दकुन्द साहित्य रूपी सागर में अवगाहन करने वाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक संत अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में कहते हैः-

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। (1) निश्चय मोक्षमार्ग (2) व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है जिसे प्राप्त करना है जो कार्य स्वरूप है। द्वितीय व्यवहार मोक्ष मार्ग साधन स्वरूप है। जिसके द्वारा साध्य रूप निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। समर्थ कारण से कार्य होता है अर्थात् साधन से साध्य-सिद्धि होती है इस न्यायानुसार व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा निश्चय मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होती है। व्यवहार मोक्षमार्ग के बिना निश्चय मोक्ष मार्ग त्रिकाल में अनुपलब्ध ही रहेगा।

पंडित शिरोमणि, चतुरानुयोग पारंगत, निश्चय व्यवहारज्ञ, आर्ष परम्परा संरक्षक, संस्कृत के महान् ग्रन्थ धर्मामृतादि अनेक मौलिक कृति के रचियता आचार्य कल्प आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है-

व्यवहार पराचीनः निश्चयं यः चिकीर्षति।

बीजादि बिना मूढः सः शस्यानि सिसृक्षति।।

व्यवहार से विमुख होकर जो निश्चय को चाहते हैं वे मूढ हैं जैसे कि एक मूढ़ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है अर्थात् जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

देवसेन आचार्य नय चक्र को समाप्त करते हुए लिखते हैं-

जह इच्छह उत्तरिंदु अज्झाण महोवहिं सुलीलाए।

तो णादुं कुणह मइं णय चक्के दुणय तिमिर मत्तण्डे।।

यदि अज्ञान रूपी महासमुद्र को लीला से तरने की इच्छा है तो नय चक्र को जानने के लिये मति को नय चक्र में प्रवेश कराओ। दुर्नय रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यक्नय सूर्य के समान है।

जीव का स्वरूप

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्श-गंध रस वर्णैः।

गुण पर्यय समवेतः, समाहितः समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः।। (9) पु.सि.

गत सिच्छक मूषाया, आकारेणोपलक्षिताः।

अमूर्त्तिनो विराजन्ते, केवलज्ञान मूर्त्तयेः।।

Purusha (the soul) is pure consciousness. It is free from touch, smell, taste and colour, has it own attributes and conditions, and is possessed of manifestation, disappearance and continuity.

पुरुष अर्थात् आत्मा त्रिकाल में अस्तित्ववान् है अर्थात् आत्मा शाश्वतिक है। अनादिकाल से था, अभी है और आगे भी रहेगा। इसलिये आत्मा अजर-अमर एवं अविनाशी है। वह आत्मा ज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञान स्वरूप आत्मा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है। शीतादि आठ स्पर्श दो प्रकार के गन्ध पाँच प्रकार के रस तथा श्वेतादि

पाँच प्रकार के वर्ण से रहित होने के कारण अमूर्तिक/अरूपी है। पुनः वह चैतन्य आत्मा ज्ञान आदि गुण तथा सिद्धत्व आदि पर्यायों में समवाय है। वह चैतन्य पुरुष उत्पाद, व्यय ध्रौव्य से युक्त है।

प्रश्नः-रूप रहित आत्मा में उत्पाद, व्यय ध्रौव्य कैसे संभव होता है?

उत्तरः-''सद्द्रव्य लक्षणं, उत्पादं व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, गुणपर्यय वद्द्रव्यम्'' अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है और वह सत् उत्पाद, व्यय ध्रौव्य से युक्त है। पुनः वह द्रव्य (सत्) गुण पर्यायों से युक्त है। इसी प्रकार तत्वार्थ सूत्र में द्रव्य का लक्षण कहा है। इसलिये आत्मा एक अमूर्तिक द्रव्य होने के कारण उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सम्भव है।

गुणों के विकारों को पर्याय कहते हैं। वह पर्याय दो प्रकार का है-स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय। अगुरुलघु गुण का विकार स्वभाव अर्थ पर्याय है। वह स्वभाव अर्थ पर्याय षट्वृद्धि-हानि रूप से बारह प्रकार का है। यथा (1) अनन्त भाग वृद्धि (2) असंख्यात भागवृद्धि (3) संख्यात भाग वृद्धि (4) संख्यात गुण वृद्धि (5) असंख्यात गुण वृद्धि (6) अनन्त गुण वृद्धि (7) अनन्त भाग वृद्धि (8) असंख्यात भाग हानि (9) संख्यात भाग हानि (10) संख्यात गुण हानि (11) असंख्यात गुण हानि (12) अनन्त गुण हानि।

जो द्रव्य होता है वह त्रैकालिक अविनाशी होने के कारण हानि वृद्धि से रहित है। परन्तु यहाँ जो हानि, वृद्धि कही गई है वह अगुरुलघु गुण का विकार है। यदि हानि वृद्धि नहीं होती तो अगुरुलघु गुण का अभाव हो जाता। अगुरुलघु गुण के अभाव से द्रव्य लौह के एक पिण्ड के समान भारी हो जायेगा। अथवा आक की रूई के समान हल्का हो जायेगा। इससे द्रव्य का शुद्ध स्वभाव का अभाव हो जायेगा। इसलिये शुद्ध स्वभाव की सिद्धि के लिये षट्गुणी-वृद्धि हानि कहा गया है। इसका वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक होने के कारण पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि ग्रन्थ में अवलोकनीय है। पर्यायार्थिकनय से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परस्पर अभिन्न है। क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों द्रव्यमय ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्य एवं लक्षण में भेदनय अपेक्षा से जानना चाहिये। कहा भी है-

जिस प्रकार धातु से रहित साँचा केवल आकार से जिस प्रकार दिखाई देता है

उसी प्रकार आठों कर्म तथा शरीर से रहित अमूर्तिक आत्मा केवलज्ञान रूपी आकार से सहित है अर्थात् सिद्ध भगवान का आकार अमूर्तिक तथा चैतन्यमय है।

समीक्षाः-कोई-कोई दार्शनिक एवं वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह जीव एक पृथक् द्रव्य नहीं है। कुछ मानते हैं कि रासायनिक मिश्रण/रसायनिक परिवर्तन से जीव की सृष्टि हुई है-जैसे डार्विन आदि वैज्ञानिक और चार्वाक आदि दार्शनिक, चार्वाक का मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के सम्मिश्रण से जीव की सृष्टि होती है। जैसे-चावल, गुड़ आदि के मिश्रण से मद्य में मादकता की सृष्टि होती है। परन्तु उपरोक्त धारणा कपोल कल्पित एवं सत्य-तथ्य से रहित है क्योंकि जीव अमूर्तिक, चेतन द्रव्य होने से मूर्तिक अचेतना द्रव्यों से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जीव द्रव्य का वर्णन प्रवचन सार में कुन्दकुन्द देव ने निम्न प्रकार से किया है।

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।।

द्रव्य जीव और अजीव ऐसे दो भेद रूप हैं और उसमें चेतन और उपयोगमयी जीव है और पुद्गल आदि अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जोहि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।

जो चार प्राणों से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है और प्राण पुद्गल द्रव्यों में निष्पन्न है।

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा।।

जीवादि के ''भाव'' हैं। जीव के गुण चेतना तथा उपयोग हैं और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यञ्चरूप अनेक हैं।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्मसंयुक्त है।

जीव स्वयं कर्त्ता और भोक्ता

परिणममाणो नित्यं, ज्ञान विवर्तैरनादि सन्तत्या।
परिणामानां तेषां, स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।। (10)

कर्म कृत परिणाम के वश से यह आत्मा निश्चित रूप में, नित्य पर्यायान्तर को प्राप्त करता हुआ कर्ता होता है। वही आत्मा शुभ एवं अशुभ फल को भोगता है। वह आत्मा ज्ञान पर्याय से अनादिकाल से संयुक्त होकर कर्मकृत परिणामों को भोगता है।

प्रश्नः-अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्म को कैसे बांधता है तथा ज्ञान के समवाय के पहले जीव ज्ञानी रहता है या अज्ञानी रहता है?

उत्तरः-कषायवान जीव कर्म योग्य पुद्गल को बाँधता है तथा जीव अनादिकाल से कषाय तथा कर्म से युक्त होने के कारण वस्तुतः आत्मा अनादिकाल से व्यवहार नय से अमूर्तिक नहीं है मूर्तिक है। कर्म एवं जीव का सम्बन्ध अनादि सम्बन्ध है। नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा भी है-

जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण में पाषाण तथा सुवर्ण पहले से ही मिला हुआ होता है उसी प्रकार जीव एवं कर्म का परस्पर सम्बन्ध अनादिकाल से है। इस कर्म को प्रकृति, शील, स्वभाव आदि नाम से जाना जाता है।

प्रश्नः-जीव तथा कर्म के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार होती है?

उत्तरः-मैं हूँ (मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ) इस प्रकार अनुभव से आत्मा की सिद्धि होती है। शुद्ध आत्मा-स्वरूप रागादि भाव से रहित होने पर भी संसारी जीव में रागादि परिणमन दिखाई देता है और यह रागादि परिणमन कर्म के बिना सम्भव नहीं है। इसके साथ-साथ संसार में एक दरिद्र है तो एक धनवान है, एक ज्ञानी है तो एक अज्ञानी है एक सुखी है तो एक दुःखी है ऐसे विचित्र परिणामों से कर्म के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

दो विकल्प उत्पन्न होते हैं-जीव ज्ञानी है अथवा अज्ञानी है। यदि जीव ज्ञानवान है तब ज्ञान समूह या ज्ञान को प्राप्त करना व्यर्थ है क्योंकि पहले ही जीव ज्ञानवान है। यदि अज्ञानी है तब प्रश्न होता है कि क्या अज्ञान के समूह से जीव अज्ञानी है? यदि

अज्ञान गुण समूह से जीव अज्ञानी है तब जीव के अज्ञान गुण समूह व्यर्थ हैं क्योंकि पहले से जीव अज्ञानी है। यदि स्वभाव से ही जीव अज्ञानी है तब स्वभाव से ही वह ज्ञानी हो सकता है क्योंकि पहले से ही प्रकाशवान् है परन्तु मेघ पटल के कारण सूर्य या सूर्य किरणें छिप जाती हैं और मेघ पटल विघटित होने पर सूर्य तथा सूर्य किरणें प्रकट हो जाती हैं। उसी प्रकार निश्चय से कर्माच्छादन से रहित अखण्ड प्रतिभासात्मक केवलज्ञान आदि से सहित जीव है परन्तु व्यवहार नय से अनादि कर्म संतति से आवृत्त जीव अज्ञानी बनता है। जिस प्रकार मेघ पटल विघटित होने पर सूर्य दिखाई देता है। उसी प्रकार कर्म मल से रहित जीव ज्ञानी हो जाता है। कर्म पटल रहित होने के कारण जीव ज्ञानी नहीं होता है परन्तु वह पहले से ही ज्ञानी ही रहता है परन्तु कर्म के कारण ज्ञान आच्छादित रहता है क्योंकि चेतना या ज्ञान का स्वभाव है, स्वलक्षण है। ज्ञान अन्यत्र से आत्मा में नहीं आता है। चेतना तीन प्रकार की है-1.ज्ञान चेतना 2.कर्म चेतना 3.कर्म फल चेतना। सिद्धों की ज्ञान जीव चेतना होती है। संसारी जीवों की कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना होती है। इसलिये समस्त दशा में आत्मा का ज्ञान गुण रहता ही है। अन्य में नहीं। अतएव देह सहित जीव कर्म, नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य को अग्नि में संतप्त लौह पिण्ड जिस प्रकार जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार जीव कर्म को ग्रहण करता है। इसलिये जीव कर्ता एवं भोक्ता बनता है। इसे विभिन्न नयों सम्बन्धित करते हैं अर्थात् नयों की दृष्टि से समझाते हैं।

1. शुद्ध द्रव्यार्थिक नय यह आत्म कर्त्ता है।
2. पर्यायर्थिकनय से शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का कर्त्ता है।
3. शुद्ध निश्चयनय से स्व शुद्ध स्वरूप निश्चय रत्नत्रय का कर्त्ता है।
4. अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा भाव कर्म का कर्त्ता है।
5. अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार नय से द्रव्य कर्म नोकर्म का कर्त्ता है।
6. उपचरितासद्भूत-व्यवहार नय से घट पटादि का कर्त्ता है।

इसलिये विभाव रूप मिथ्यात्व, राग, द्वेष, कषाय, पुण्य रूप गुणों का अनादि परम्परा से आश्रय होने के कारण जीव उसका कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है।

पुग्गल कम्मीदीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।। (8)

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

ववाहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।(9)

आत्मा व्यवहार से सुख दुःखरूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

जयसेनाचार्य ने टीका में इस विषय पर बल दिया है कि यदि द्रव्य कर्म के उदय से भी जीव भाव कर्म रूप से परिणमन नहीं करेगा तब प्राचीन द्रव्यकर्म उदय में आकर नष्ट हो जायेंगे तथा नवीन द्रव्य कर्म का बन्ध नहीं होगा जिसके कारण जीव को मोक्ष हो जायेगा।

इसलिए मुमुक्षु को सर्व प्रयत्न से भाव कर्म (वैभाविक भाव) नहीं करना चाहिये। योगीन्दु देव ने कहा भी है-

भुंजतु विणिय कम्म-फलु जो तहिं राउण जाइ।
सोणवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ।।(80)

अपने बाँधे हुए कर्मों के फल को भोगता हुआ भी उस फल के भोगने में जो जीव राग-द्वेष को नहीं प्राप्त होता वह फिर कर्म को नहीं बाँधता। कर्म बंधाभाव परिणाम से पहले बाँधे हुए कर्म भी नाश हो जाते हैं।

पुरुषार्थ सिद्धि का स्वरूप

सर्व विवर्त्तोत्तीर्ण, यदा स चैतन्यमचलमाप्नोतिः,
भवति तदा कृतकृत्य, सम्यक् पुरुषार्थ-सिद्धिमापन्नः।।(11)

When Jiva, having got rid of all illusion, attains everlasting consciousness, it then becomes one who has accomplished all that was to be accomplished, and is possessed of the success resulting from right exertion.

जब वह आत्मा सर्व विकार रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह सर्व कर्म रहित कृत-कृत्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कैसा आत्मा उस सम्यक्

पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त करता है? सम्यक् शुभ पुरुषार्थ से सिद्धि को पाप्त करता है। कैसा चैतन्य समस्त विकारों से परिभ्रमण से उत्तीर्ण होता है? समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पंच परिवर्तन रूप अथवा देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य रूप गतियों से रहित समस्त क्लेश समूह से उत्तीर्ण मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा वह कृतकृत्य शुद्ध चैतन्य होता है यह इसका भावार्थ है। चौरासी लक्ष विभाव, द्रव्य-व्यंजन-पर्याय, मति आदि विभावगुण-पर्याय इनका आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है। वही कृतकृत्यपना है। विभाव-गुण एवं विभाव-पर्यायों से युक्त कृतकृत्यपना नहीं।

पहली बार: ब्रह्मांड के निर्मित होने में रही भूमिका

अंतरिक्ष में मिले पदार्थ की 'पांचवीं अवस्था' के सबूत

पेरिस. ब्रह्मांड की गुत्थियां सुलझाने की दिशा में अहम खोज हुई है। वैज्ञानिकों को पहली बार अंतरिक्ष में पदार्थ की पांचवी अवस्था के सबूत मिले हैं। इससे ब्रह्मांड की उत्पत्ति का पता लगाने में मदद मिलेगी। इस रिसर्च को नेचर जर्नल में प्रकाशित किया गया है। भारतीय वैज्ञानिक सत्येंद्र नाथ बोस और अल्बर्ट आइंस्टीन ने पदार्थ की इस अवस्था के बारे में वर्ष 1920 में बताया था। इसलिए इसे बोस-आइंस्टाइन कंडेसेट्स (बीईसी) कहते हैं। यह प्रयोग अंतरराष्ट्रीय स्पेस स्टेशन (आइएसएस) में किया गया है।

धरती पर इसका अध्ययन असंभव

बीईसी की अवस्था से छेड़छाड़ की जाती है तो वे गर्म हो सकते हैं, क्योंकि वे हमेशा परम शून्य तापमान पर होते हैं। थोड़ा सा भी गर्म होने पर पदार्थ की पांचवीं अवस्था खत्म हो जाएगी। इस कारण पृथ्वी पर इनका अध्ययन असंभव है।

यों बनती है पदार्थ की पांचवी अवस्था?

यह अवस्था तब बनती है, जब किसी तत्व के परमाणुओं को परम शून्य (माइनस 273.15 डि.से.) तक ठंडा किया जाता है। उस तत्व के सारे परमाणु एक हो जाते हैं। इसे पदार्थ की पांचवीं अवस्था कहते हैं। किसी पदार्थ में परमाणु अलग-गति करते हैं, लेकिन 5वीं अवस्था में एक ही बड़ा परमाणु होता है।

आइएसएस पर किया गया यह प्रयोग

आइएसएस में पांचवी अवस्था बनाना बेहद कठिन था। पहले बोसोन (ऐसे परमाणु, जिनमें प्रोटान और इलेक्ट्रान बराबर हो) को लेजर तकनीक से परम शून्य तापमान तक ठंडा किया जाता है। जैसे-जैसे परमाणुओं की गति धीमी होती है, वे ठंडे होने लगते हैं। वैज्ञानिकों ने रूबीडियम धातु से बीईसी बनाया।

पदार्थ की चार अवस्थाएं

पदार्थ की चार अवस्थाएं होती हैं। ठोस, द्रव, गैस और प्लाज्मा। प्लाज्मा गैसीय अवस्था ही होती है, लेकिन यह आयनित होती है।

वजह...एलियंस से संवाद इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि वे हमसे 17 हजार प्रकाशवर्ष दूर हैं

वैज्ञानिकों का दावा: हम अकेले नहीं हैं, आकाशगंगा में 36 सभ्यताएं हो सकती हैं, हमारे पास ऐसी तकनीक नहीं, जिनसे एलियंस का पता लगाएं

ब्रह्मांड के विकास के पैमाने पर स्टडी, ग्रहों पर बुद्धिमान जीवन बनाने में 5 अरब साल लगते हैं

लंदन। आकाशगंगा मे 36 बुद्धिमान सभ्यताएं यानी एलियंस हो सकते हैं लेकिन हम उनसे किसी भी तरह का संवाद करने में असमर्थ हैं, क्योंकि इन सभ्यताओं की औसत दूरी 17 हजार प्रकाशवर्ष है। नाटिंघम यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने एक स्टडी में दावा किया कि हमारे पास तो तकनीक मौजूद हैं, उसके जरिए ऐसी सभ्यताओं का पता लगाना और उनसे संवाद करना बहुत मुश्किल है। 'द एस्ट्रोफिजिकल' जर्नल में प्रकाशित स्टडी के निष्कर्षों का उद्देश्य है कि इस ब्रह्मांड के भीतर अन्य जीवन रूप हैं या नहीं, इस पुराने सवाल पर नए सिरे से प्रकाश डालना चाहिए। स्टडी करने वाली टीम का नेतृत्व कर रहे एस्ट्रोफिजिक्स के प्रोफेसर क्रिस्टोफर कॉन्सोलिस का कहना है कि आकाशगंगा में 36 प्रकार की सक्रिया सभ्यता होनी चाहिए। पृथ्वी के रूप में अन्य ग्रहों पर बुद्धिमान जीवन बनाने में पांच अरब साल लगते हैं। पृथ्वी पर ही 4.5 अरब वर्षों के बाद संचार सभ्यता का गठन हुआ है। इसलिए हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि आकाशगंगा में अन्य कोई संचार

सभ्यता है ही नहीं। इंसान बरसों से एलियन की तलाश कर रहा है। वैज्ञानिक धरती से रेडियो तरंगे भेजकर एलियंस से संपर्क करने की कोशिश करते रहे हैं। इस नए अध्ययन में कोपरनिकॉन लिमिट के एक गणितीय आधार का विश्वलेषण किया गया है, जिसमें ब्रह्मांड के विकास को पैमाने पर रखा गया था। इसके पहले भी इसी तरह की एक स्टडी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने की थी। इसमें ड्रेक समीकरण का इस्तेमाल किया गया था। इसमें उन संभावित जगहों की लिस्ट बनाई गई थीं, जहां जीवन हो सकता है। प्रोफेसर क्रिस्टोफर का कहना है कि हमारी स्टडी के नतीजे बताते हैं कि आकाशगंगा में और भी कई बुद्धिमान सभ्यताएं हैं।

नासा हबल टेलिस्कोप से दूसरे ग्रहों पर रख रहा है नजर

दुनिया के कई देश आकाशगंगा में जीवन की खोज में कई नए तरीके आजमा रहे हैं। नासा की टीम हबल टेलिस्कोप से हर ग्रह के उस बदलाव पर नजर रख रही है, जो उसके वातावरण में किसी अंसतुलन को जन्म देता है। साथ ही किसी भी रासायनिक बदलाव या तत्व की अनदेखी नहीं कर रहा है। चीन ने दुनिया का सबसे बड़ा सिंगल अपार्चर टेलिस्कोप बनाकर एलियन लाइफ खोज रहा है। साथ ही वह टेलिस्कोप पल्सर, ब्लैक होल, गैस क्लाउड और गैलेक्सी जैसे दूसरे कॉस्मोलॉजिकल आयामों का भी स्टडी कर रहा है। बाजिंग यूनिवर्सिटी के ऐस्ट्रोनॉमर झांग तोंगजी का कहना है कि हमें टेलिस्कोप से कई सिग्नल मिले हैं जिनका संकेत दूसरी दुनिया में जीवन की ओर हो सकता है। जांच जारी है।

स्वशुद्धात्मानुयायी भावना तो मोहराग युक्त इच्छा

इच्छा युक्त संसार V/s इच्छा मुक्त मोक्ष

इच्छा युक्त धर्म सभी काम दुःखदायक/संसार

इच्छा युक्त धर्म संसार वर्द्धक तो इच्छामुक्त धर्म संसार नाशक

(चालः-1.आत्मशक्ति....)

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतियुत कछुक ज्ञान सोदुःखदायक अज्ञान जान।।
इन जुत विषयति में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्या-चरित।

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।। (1)
शुभ-अशुभ बन्ध के फल मंझार, रति अरति करे निज पद विसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आप को कष्टदान।।
आत्मा में विद्यमान अनन्तगुण, ज्ञानदर्शन सुखवीर्य श्रद्धागुण।
अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रभुत्व विभुत्व, अगुरुलघु अव्याबाधत्व गुण।। (2)
तथापि अनादि रागद्वेष मोहकारण, ईर्ष्या, तृष्णा, घृणा, मद-काम कारण।
आत्म श्रद्धान ज्ञान चारित्र भिन्न, अनात्मभाव-द्रव्यों में हो आसक्त।।
उसे प्राप्त हेतु जीव करे विभाव-काम, आहार भय मैथुन परिग्रह के काम।
यथायोग्य चौरासीलक्ष योनि मझार, करे सतत संकल्प-विकल्प-संक्लेश।। (3)
सूक्ष्म निगोदिया वायरस से ले देव-मानव, करे यथायोग्य उक्त विभावकाम।
तद्भव मोक्षगामी शलाका पुरुष तक, स्व-स्वगुणस्थान में करते यथायोग्य काम।।
दर्शनमोही करते अनन्तानुबन्धी युक्त, समस्त पाप अन्याय अत्याचार तक।
ऐसे जीव संसार में भ्रमते अनन्त काल, पंचपरिवर्तन करते अनन्त तक।। (4)
दर्शन मोह क्षय से चारित्र मोह कारण, संसार शरीर भोगोपभोग कारण।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि वर्चस्व कारण, इच्छा के वशवर्ती करते पापकाम।।
प्रसिद्ध उदाहरण भरत बाहुबली युद्ध, राम रावण से ले महाभारत युद्ध।
ये तो प्रसिद्ध उदाहरण मात्र ज्ञेय, शेष जीव भी करते यथायोग्य पाप/(युद्ध)।। (5)
यह राग-दहे सदा तातै समामृत सेइये,
चीर भजे विषय-कषाय अब तो त्याग, नीज पद बेइए।
कहाँ रच्यो परपद में न तेरो पद यहै क्यों दुःख सहै।
अब दौल! होउ, सुखी स्वपद-रुचि, दाव मत चूकौ यहै।
दाम बिना निर्धन दुःखी तृष्णावश धनवान्।
कहूँ न सुख संसार में सब जग देखो छान।। (6)
इच्छारूपी अग्नि को शान्त करने हेतु, इच्छा पूर्ति रूपी घी डालते जाते।
जिससे और भी अधिक इच्छा बढ़ती जाती, इच्छानिरोध ताप जल से शान्त होती।।
तप त्याग में (से) यदि इच्छा त्याग न होती उस तप त्याग से इच्छाग्नि बढ़ती।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व भोगोपभोग की इच्छा से तप भी अनर्थ।। (7)
जो पुण्य पाप के फलभूत लाभ-अलाभ, उससे वशीभूत होते भाव-काम।

वे भी सभी दुःख दायक अनात्म काम, संसार वर्द्धक इच्छापूर्ति के काम।।
सांसारिक लाभ परे जो आत्मिक काम, आत्मविशुद्धि समता शान्ति ध्यान।
निस्पृह वीतराग अनासक्त आत्मभाव, ये सब इच्छारहित आध्यात्म काम।। (8)
इससे ही मिलता है परमधाम कृतकृत्य निराकुलता शाश्वत काम।
यह ही अवस्था ही शुद्धबुद्ध परमात्मा, 'कनक' का लक्ष्य इच्छा शून्य निजधाम।।
द्वादश भावना व सोलह कारण भावना, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भावना।
धर्मध्यान व शुद्ध शुक्ल ध्यानादि आत्मभावना, इन से अतिरिक्त सभी इच्छा या कामना।। (9)

ग.पु.कॉ. 8-5-2020 मध्याह्न 1:58

संदर्भ-

वदसमिदीगुत्तीओं धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ।। (35) द्रव्य.सं.

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये।

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च। (3) मोक्षशा.

By penance (austerity) dissociation also.

By austerities is caused shedding of karmic matter and (also stoppage of inflow)

तप से संवर और निर्जरा होती है।

यद्यपि तप दस धर्मों में अंतर्भूत है फिर भी विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिए अर्थात् तप भी निर्जरा का कारण है, इस बात को निरूपित करने के लिए तप का पृथक् ग्रहण किया गया है।

अथवा, सर्व संवर के हेतुओं में तप ही प्रधान हेतु है इसका ज्ञान कराने के लिए तप को पृथक् ग्रहण किया गया है।

संवर निमित्त के समुच्चय के लिए 'च' शब्द का प्रयोग किया है। 'च' शब्द तप संवर का हेतु भी होता है। इस संवरहेतुता का समुच्चय करता है, क्योंकि तप के द्वारा नूतन कर्मबंध रुककर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय भी होता है। अतः तप अविपाक

निर्जरा का कारण है। अर्थात् तप से अविपाक निर्जरा होती है इस प्रकार तप के जातीयत्व होने से ध्यानों के भी निर्जरा का कारणत्व प्रसिद्ध है।

प्रश्न – तप निर्जरा का कारण नहीं है, क्योंकि तप को तो देवेन्द्रादि के अभ्युदय स्थान की प्राप्ति का कारण कहा है?

उत्तर – ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि एक ही कारण से अनेक कार्य होते है अर्थात् एक ही कारण से अनेक कार्यों का आरम्भ-प्रारंभ देखा जाता है। जैस एक ही अग्नि पाक, विक्लेदन और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती हे वैस ही तप अभ्युदय का विधान और कर्मों का क्षय करता है, इसमें क्या विरोध है? अर्थात् तप से सांसारिक अभ्युदय और मुक्ति दोनों प्राप्त होते है, इसमें कोई विरोध नहीं है। किसान की खेती के समान गौण और प्रधानता से फल की प्राप्ति होती है अथवा जैसे किसान मुख्य रूप से धान्य के लिए खेती करता है, गौण रूप पलाल (घास) तो उसे अनायास प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मुनिराज की तपक्रिया में प्रधान फल मोक्ष है। अर्थात् गौणता से तप का फल किसान के घास की प्राप्ति के समान है।

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।(36) द्र.सं.

जिस आत्मा के परिणाम रूप भाव से कर्मरूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह तो भाव निर्जरा है और सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से यथाकाल अर्थात् काललब्धि रूप काल से तथा अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से जो कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना है सो द्रव्य निर्जरा है।

संवरजोगहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविदेहिं।
कम्माण णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।। (144) पं.का.

निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से शुभ तथा अशुभ भावों का रुकना संवर है। निर्विकल्प लक्षणमयी ध्यान शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो योग है। शुद्धात्मानुभव के सहकारी कारण बाह्य छः प्रकार के तप-अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः तप स्वाभाविक शुद्ध अपने आत्मा के स्वरूप में तपने रूप अभ्यंतर तप हैं।

जो साधु संवर और योग से युक्त हो बारह प्रकार तप का अभ्यास करता है वह बहुत से कर्मों की निर्जरा अवश्य कर देता है। यहाँ यह भाव है कि बारह प्रकार तप के द्वारा वृद्धि को प्राप्त जो वीतराग परमानंदमयी एक शुद्धोपयोग सो भाव निर्जरा है। यही भाव द्रव्यकर्मों को जड़मूल से उखाड़ने में समर्थ है। इस शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बाँधे हुए कर्म पुद्गलों का रस रहित होकर संवर पूर्वक एक देश झड़ जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।।(145)

जो कोई शुभ व अशुभ रागादि रूप आस्रव भावों को रोकता हुआ संवर भाव से युक्त है तथा त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्व को समझकर अन्य प्रयोजनों से अपने को हटाकर शुद्धात्मानुभव रूप केवल अपने कार्य को साधने वाला है व जो सर्व आत्मा के प्रदेशों निर्विकार नित्य, आनंदमयी एक आकार में परिणमन करते हुए आत्मा को रागादि विभाव भावों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर निश्चल आत्मा की प्राप्ति रूप निर्विकल्प रूप ध्यान से निश्चय से गुण -गुणी के अभेद से विशेष भेदज्ञान में परिणमन स्वरूप ज्ञानमई आत्मा को ध्याता है सो परमात्म ध्यान को ध्याने वाला कर्मरूप रज की निर्जरा करता है। वास्तव में ध्यान ही निर्जरा का कारण है ऐसा इस सूत्र में व्याख्यान किया गया है यह तात्पर्य है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ।।(146)

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति सो यथार्थ ध्यान है। इस ध्यान के प्रगट होने की विधि अब कही जाती है-

जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गल कर्म होने से उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों से संकुचित करे, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके (उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके) मोही, रागी और द्वेषी न होने वाले ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही निष्कंप रूप से लीन करता है, तब उस योगी को जो

कि अपने निष्क्रिय चैतन्य रूप स्वरूप में विश्रांत है, वचन-मन-काय को नहीं भाता (अनुभव करता) और स्वकर्मो में व्यापार नहीं करता उस-सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधन को जलाने मे समर्थ होने से अग्नि समान ऐसा, परम पुरुषार्थ की सिद्वि का उपाय भूत ध्यान प्रगट होता है।

गुप्ति का लक्षण

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। (4)

Curbing activity well is control. गुप्ति Prevention is proper control nigrahaover mind मन speech वचन and body काय।

योगों का सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

उस मन-वचन, काय को यथेच्छ विचरण से रोका जाता है, उसको निग्रह कहा जाता है। मन वचन-काय रूप योग का निग्रह योग निग्रह कहा जाता है।

इसका 'सम्यक्' यह विशेषण सत्कार, लोकपंक्ति आदि आकांक्षाओं की निवृत्ति के लिये है। पूजा पुरस्सर क्रिया सत्कार कहलाती है, 'यह संयत महान् है' ऐसी लोक प्रसिद्धि लोकपंक्ति है। इस प्रकार और भी इहलौकिक फल की आकांक्षा आदि का उद्देश्य न लेकर तथा पारलौकिक सुख की आकांक्षा न करके किया गया योगों का निग्रह गुप्ति कहलाता है। उसका ज्ञान कराने के लिये सम्यक् विशेषण दिया गया है।

इसलिये कायादि के निरोध होने से तत् निमित्तक कर्मों के रुक जाने से गुप्ति आदि में संवर की प्रसिद्धि है ही अर्थात् सम्यग्विशेषण विशिष्ट, संक्लेश परिणामों के प्रादुर्भाव से रहित कायादियोगों का सम्यक् प्रकार निरोध हो जाने पर काय-वचन-मन रूप योग के निमित्त से होने वाले, आने वाले कर्मों का आस्रव रुक जाना ही संवर है, कर्मों का आना रुक जाना ही संवर है, ऐसा जानना चाहिये। गुप्ति तीन प्रकार की है- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इसमें अयत्नाचारी के बिना देखे, बिना शोधे भूमि प्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म आते हैं, वा कायिक निमित्त जिन कर्मों का अर्जन होता है, उन कर्मों का आस्रव काययोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमी के नहीं होता। इसी प्रकार वाचनिक असंवरी-संवर रहित असत् प्रलापी जीव

के अप्रिय वचनादि का हेतुक (अप्रिय वचन बोलने आदि से) जो वाचनिक व्यापार निमित्तक कर्म आते हैं, वचनों का निग्रह करने वाले वचनयोगी के उन कर्मों का आस्रव नहीं होता। जो राग-द्वेषादि से अभिभूत प्राणी के अतीत, अनागत विषयाभिलाषा आदि से मनोव्यापार निमित्तक कर्म आते हैं, वे कर्म मनोनिग्रही के नहीं आते, अतः योगनिग्रह (योग का निरोध) हो जाने पर तत्सम्बन्धी कर्म कभी नहीं आते अर्थात् उन कर्मों का संवर हो जाता है। अतः योगनिग्रही के संवर सिद्ध है।

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जांयते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।। (129)
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवेरिहं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणोवा।। (130)

यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय से विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव का धारी है तथापि व्यवहारनय से अनादि काल से कर्मबंध होने के कारण यह जीव अपने ही अनुभव गोचर अशुद्ध भाव करता है। इस अशुद्ध भाव से कर्मों से रहित व अनंत ज्ञानादि गुणमयी आत्मा के स्वभाव को ढकने वाले पुद्गलमई ज्ञानावरण आदि कर्मों को बाँधता है। इन कर्मों के उदय से आत्मा की प्राप्ति रूप पंचम गति-मोक्ष के सुख से विलक्षण देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच इन चार गतियों में से किसी में गमन करता है। वहाँ शरीर रहित चिदानंदमई एक स्वभाव रूप आत्मा से विपरीत किसी स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। उस शरीर के द्वारा अमूर्त अतीन्द्रिय परमात्म स्वरूप से विरोधी इन्द्रिया पैदा होती हैं।

इन इन्द्रियों से ही पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमई एक स्वरूप सुख है उससे विपरीत पंचेन्द्रियों के विषय सुख में परिणमन होता है। इसी के द्वारा रागादि दोष रहित व अनंत ज्ञानादि गुणों के स्थानभूत आत्म तत्त्व से विलक्षण राग और द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेषादि रूप परिणामों के निमित्त से फिर पूर्व के समान कर्मों का बंध होता है। इस तरह रागादि परिणामों का और कर्मों के बंध का जो परस्पर कार्य-कारण भाव है वही आगे कहे जाने वाले पुण्य-पाप आदि पदार्थों का कारण है ऐसा जानकर पूर्व में कहे हुए संसार-चक्र के विनाश करने के लिए अव्याबाध अनंत सुख आदि गुणों का समूह

अपने आत्मा के स्वभाव में रागादि विकल्पों को त्यागकर भावना करनी योग्य है। यह जीव किसी अपेक्षा परिणमनशील है इसलिए अज्ञानी जीव विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान को न पाकर पदार्थ का आस्रव और बंध का कर्त्ता हो जाता है, कभी मंद मिथ्यात्व के उदय से देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बंध से परंपरा से पाप को लाने वाले पुण्य पदार्थ का भी कर्त्ता हो जाता है। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वह विकार रहित आत्म तत्त्व में रूचिरूप तथा उसके ज्ञानरूप और उसी में निश्चय अनुभव रूप ऐसे रत्नत्रयमयी भाव के द्वारा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थों का कर्त्ता होता है और जब पूर्व में कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म स्वरूप अर्हंत व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु इनकी पूर्ण व विशेष भक्ति करता है जिससे वह संसार के नाश के कारण व परंपरा से मुक्ति के कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष प्रकृतियों के बिना इच्छा के व निदान के परिणाम को बाँध लेता है। इन प्रकृतियों का बंध भविष्य में भी पुण्य बंध का कारण है इस तरह वह पुण्य पदार्थ का कर्त्ता होता हैं अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बंध इन चार पदार्थों का कर्त्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर निर्जरा व मोक्ष इन तीन पदार्थों का मुख्यपने से कर्त्ता है ऐसा भाव है।

नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में कर्मबंध के कारण बताते हुए कहा भी है-

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिडंओव्व जलं।। (3)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होने वाली कर्म वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1.औदारिक, 2.वैक्रियक, 3.आहारक, 4.तैजस) रूप होने वाली नो कर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि पौद्गलिक प्राण भी मोहादि से युक्त मोही जीवों के लिए कर्मबंध के कारण बनते हैं। इसके साथ-साथ यह प्राण पुद्गल

सिद्ध होता है क्योंकि बिना पौद्गलिक अमूर्तिक प्राण कर्मबंध के लिए कारण नहीं हो सकता है।

क्योंकि मूर्तिक कर्म को बाँधने के लिए मूर्तिक द्रव्य ही समर्थ हो सकता है। जैसे गाय को बाँधने के लिए रस्सी कारण बन सकती है न कि आकाश। अमृतचंद सूरि ने इस गाथा की टीका करते हुए कहा है कि-(1) मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और क्योंकि (2) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बंधता है, इसलिये (3) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (4) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।

मोहादि भाव से प्राणी कर्म बाँधता है

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदिजीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।। (149) (प्र.सा.)

If the Jiva, through delusion and hatred, causes harm to the life essentials of living beings, this results into the bondage of Karmas such as knowledge-obscuring.

(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेष के कारण (जीवाणं पाणाबाधं) अपने और पर जीवों के प्राणों को बाधा (कुणदि) पहुँचाता है तब (हि) निश्चय से इसके (सो बंधो) वह बंध (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से (हवदि) होता है। जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपक से मोह के अंधकार को विनाश करने वाला परमात्मा से विपरीत मोह भाव और द्वेष भाव से परिणमन करके अपने भाव और अपने द्रव्य प्राणों को घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवों के भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणों को पीड़ा पहुँचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष से विपरीत है तथा मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंध के कारण होते हैं।

यहाँ यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरे को मारने की इच्छा से गर्म लोहे के पिंड को उठाता हुआ पहले अपने आप को ही कष्ट दे लेता है फिर अन्य का घात

हो सके इसका कोई नियम नहीं है तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहे के स्थान में मोहादि परिणामों से परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान स्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या ना हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

समीक्षा-इस गाथा में आचार्यश्री ने बताया कि मोह-द्वेष आदि वैभाविक भावों से दूसरों की भी हिंसा करता है जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है। मोहादि भाव होना हिंसा तथा भावास्रव और भावबंध है। इससे ही द्रव्यास्रव होता है।

मोहविवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय विहा।। (894) का.प्रे.

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें से योग के सिवाय शेष कारण मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं और मोहनीय कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है।

दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म की बंधव्युच्छित्ति हो जाने से ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग के द्वारा केवल एक सातावेदनीय का ही बंध होता है। शेष 119 प्रकृतियाँ मोहनीय कर्मजन्य भावों के कारण ही बंधती है। अतः यद्यपि आस्रव का कारण योग है, तथापि प्रधान होने के कारण योग के साथ रहने वाले मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व आदि परिणामों को भी आस्रव कहा है।

कुंदकुंद देव ने समयसार में शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में कहा है-

अज्झवसाण णिमित्त जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा यते किं करोसि तुमं।। (280)

जब कोई भी जीव अपने-अपने अध्यवसान के निमित्त से कर्म से बंध को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म छूटते हैं (अन्यथा नहीं ऐसा नियम है) तब तेरा विचार क्या काम आया?

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्व रागादिस्वकीयाध्यावसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणाबध्यते, इति चेत् मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ते शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुचरणरूप निश्चयरत्नत्रय लक्षणे मोक्षमार्गे स्थिताः पुनर्मुच्यते यदि चेत् जीवाः किं करोसि तुमं तर्हि किं करोषि त्वं हे

दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति।

जबकि सब ही संसारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बंध से जकड़ लिए जाते हैं ऐसा ही नियम है। शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब हे दुरात्मन्! तू वहाँ क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं अपितु तेरा विचार ही व्यर्थ ठहरता है।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमुणये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।। (286)
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।। (287)

यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एवं लोक, अलोक को इन सबको अपना लेता है, अपने कर लेता है।

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।। (290)

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं।

बोधन अर्थात् जाननामात्र सो बुद्धि; व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूप में व्यवसाय सो व्यवसाय अध्यवसान अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय; मननं अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो मति; विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान; चिंतनं अर्थात् स्मरण करना वह चित्तः भवनं अर्थात् चेतना का होना सो भाव; परिणमनं अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम। इस प्रकार यहाँ शब्द भेद तो है किन्तु अर्थभेद नहीं है। यदि समभिरूढ नय से देखे तो इन सबका अर्थ अध्यवसान ही होता है। जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज अर्थ होता है।

रायम्हि य दोसम्हिय कषाय कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणममाणो रायाई बंधदि पुणेवि।। (304)

राग-द्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूप में परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बाँधने लग जाता है।

राग-द्वेषादि कषाय द्रव्यकर्म के उदय आने पर अपने सहज भाव से डिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि परिणाम अर्थात् विकारी भाव होते हैं, उनसे मैं रागादि रूप हूँ इस प्रकार के अभेद को लिए हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् राग-द्वेष रूप होता हुआ वह फिर से भावि रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्यकर्मों का बंध करने लग जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिकों का कर्त्ता बनता है।

रायम्हिय दोसम्हिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
ते मम दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।। (305)

राग-द्वेषादि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बंध करता है।

इससे पहले गाथा में तो मैं स्वयं रागादि रूप हूँ इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि से उत्पन्न वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बंध करता है ऐसा बता आए है, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह राग भाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ संबंध करता है इतनी विशेषता है। हाँ यहाँ पर यह बात जान लेनी है कि जहाँ पर राग-द्वेष और मोह ये तीनों शब्द एक साथ आवे वहाँ पर मोह शब्द से दर्शन मोह जो कि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिए और राग-द्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्र मोह को समझना चाहिए। यहाँ शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक है इसमें दोष नहीं है किन्तु राग-द्वेष शब्द से चारित्र मोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नाम वाले चारित्र मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अंग हैं और माया और लोभ ये दोनों राग जनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नो

कषाय वेदनीय नामक चारित्र मोह में स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति ये पाँच नो कषाय रागोत्पादक होने से राग में आ गई शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारों नो कषायें द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में आईं। इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग-द्वेष से चारित्र मोह ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए। इस प्रकार कर्मबंध के कारण रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं।

आचार्य अमृतचंद्र सूरी ने आध्यात्म अमृतकलश में कर्मबंध के आध्यात्मिक पक्ष का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

न कर्मबहुलं जगत् न चलनात्मकं कर्म वा।
न नैक करणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।। (164)

जगत् में कर्म की वर्गणाएँ भरी हैं अतः वे बंध कराती है ऐसा नहीं है। जीव के हलन-चलन कराने वाले मन वचन काय के कर्म अर्थात् उनकी क्रियाएँ भी बंध नहीं कराती। नाना प्रकार के बाह्य साधन भी जीव को बंध नहीं कराते, सचेतन-अचेतन पदार्थों का घात भी कर्म बंधन नहीं कराता, किन्तु जीव के ज्ञानोपयोग की भूमि जब रागादि विकारी भावों के साथ एकता करती है तब यही एकमात्र अवस्था प्राणियों के लिए बंध का कारण होती है।

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंध हेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानत्माऽस्य दृश्यते।। (170)

इस मिथ्यादृष्टि के यह मिथ्या अध्यवसान ही विपरीत रूप मिथ्यात्व रूप परिणाम होने से बंध का कारण है यह जो इसका अध्यवसान है वह अज्ञान स्वरूप ही है।

प्रश्न-पिछले प्रश्न के समाधान में आपने कहा था कि सम्यग्दृष्टि भी शुभ-अशुभ रूप अध्यवसानों से अपने पुण्य-पाप बाँधता है। यहाँ कह रहे हैं कि अध्यवसान सम्यग्दृष्टि के नहीं होता ऐसा कथन विरुद्ध प्रतीत होता है?

समाधान-अध्यवसान शब्द का अर्थ इस प्रकार है। इसके लिए निम्न शब्द आचार्य कुंदकुंद ने प्रतिपादित किये हैं।

बुद्धि-व्यवसाय-अध्यवसान-मति-विज्ञान-चित्त-भाव-परिणाम ये सब शब्द एकार्थक हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यवसान का सामान्य अर्थ तो जीव के परिणाम ही हैं जो रागादि युक्त हैं तथापि इस प्रकरण में मोह युक्त परिणाम को ही मिथ्या अध्यवसान कहा है। उसे ही बंध का कारण कहा है।

प्रश्न-बंध तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है ऐसा शास्त्रों में कहा है। पिछले समाधानों में भी कहा गया है तो क्या वह अध्यवसान भाव नहीं है?

उत्तर-सम्यग्दृष्टि का अध्यवसान मोह रहित होने से इस प्रकरण में ''अध्यवसान'' नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसान को ही यहाँ अध्यवसान व बंध का कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्या अध्यवसान के अभाव में ''अबंधक'' ही कहा है।

उसे पिछले समाधानों में व अन्यत्र शास्त्रों में शुभाशुभ पुण्य-पाप रूप बंध करना लिखा है वह अल्पबंध उपेक्षणीय है। वह अनंत संसार का कारण नहीं है। अतः उस बंध को बंध नहीं माना इसी से चतुर्थादि गुणस्थानों में शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति होने तथा अल्पस्थिति, अनुभाग रूप बंध होने पर भी अबंधक ही कहा है। मिथ्यादृष्टि को ही एकमात्र बंधक कहा है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के प्रभाव से वही अनंत संसार के कारणभूत कर्मों की अतिस्थिति रूप, अनुभाग रूप बंध करता है।

सारांश यह है ग्रंथ में जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसान को ही ''अध्यवसान'' मानकर चला हैं। अतः यहाँ अध्यवसान शब्द का अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए। (पं.जगमोहन लाल)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति तत्।। (171)

इस प्रकार के मिथ्याध्यवसाय से व्यर्थ विमोहित (आत्मा) प्राणी आत्मा को अर्थात् अपने को जिस अधोवस्था में नहीं पहुँचाता ऐसी अवस्था कोई नहीं है।

विश्वाद् विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावात्। आत्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मौहेककन्दोऽध्यवसायएषः। नास्तीह येषां यतयस्त एव।। (172)

यह जीव संसार के संपूर्ण द्रव्यों से भिन्न है तथापि अपने को विश्व के स्वरूप

से एकाकार अभिन्न रूप बनाता है अर्थात् मानता है यह उसका अध्यवसाय मोहमूलक है अर्थात् इस प्रकार के अध्यवसाय की जड़ मोहकंद ही है, जिन प्राणियों को यह नहीं है वे ही यति श्रेष्ठ हैं।

मिथ्यात्व के उदय से जो पर के साथ एकाकार की बुद्धि है, वह परंपरा की जड़ है। उससे अनंत काल तक प्राणी पर में मोहित हो भटकता रहेगा।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः।
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यान्याश्रयस्त्याजितः।।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्,
शुद्धाज्ञानधने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।। (173)

भगवान् जिनेन्द्र ने पद-पद पर ग्रन्थों में अध्यवसान ही त्याग करने योग्य है ऐसा जो कहा है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि संपूर्ण व्यवहार ही छुड़ाया है जो कि अन्य के आश्रय से होता है, निजाश्रय से नहीं होता। जबकि जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है तो ग्रंथकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि, सज्जन पुरुष शुद्ध ज्ञान से घनस्वरूप अर्थात् ठोस अपनी महिमा में ही धैर्य क्यों नहीं बाँधते।

भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश आचार्यों ने प्रत्येक जैन ग्रंथों में निबद्ध किया है। प्रत्येक उपदेश का तात्पर्य इतना ही है कि स्वाश्रय करो, पराश्रय छोड़ो। जितना संसार का व्यवहार है वह चाहे मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, पराश्रय से होता है। पराश्रय के त्याग का उपदेश ही परमार्थ का उपदेश है।

न जातु रागादि निमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।। (175)

यह शुद्ध चैतन्य मूर्ति स्वरूप आत्मा स्वयं के रागादि परिणमन में निमित्त अर्थात् कारण रूप नहीं है। किन्तु आत्मा में रागादि उत्पन्न होने का निमित्त कारण पर द्रव्य का संबंध ही है, वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि वह निमित्त रूप परसंग में ही नैमित्तिक भाव को प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं जैसे सूर्यकांतमणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वाला रूप परिणत स्वयं नहीं होता, किन्तु सूर्य से निमित्त को पाकर परिणमता है।

प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेयु।। (150) (प्र.सा.)

जो आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूपी मैल से रहित होने के कारण अत्यंत निर्मल है तो भी व्यवहारनय से अनादि कर्मबंध के वश से मैला हो रहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक बार-बार इन आयु आदि प्राणों को प्रत्येक शरीर में नवीन-नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इन्द्रिय विषयों से रहित परम चैतन्यमई प्रकाश की परिणति से विपरीत देह आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति से विपरीत ममता को नहीं त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण देह आदि में ममत्त्व करना ही है।

समीक्षा-जिस प्रकार बीज में अकुंर होने की शक्ति होने पर योग्य जलवायु के संबंध से बीज अंकुरित होकर वृक्ष रूप में परिणमन करता है और वह वृक्ष अनेक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि को धारण करता है। उसी प्रकार जीव में संसार उत्पादक शक्ति (राग, द्वेष, मोह, ममत्व) होने पर वह शरीर, धन, भोगादि से संबंधित होकर द्रव्यकर्म को ग्रहण करता है जिससे उसे पुनः-पुनः अनेक प्राणों को धारण करना पड़ता है। इन प्राणों का मूलभूत कारण द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म का मूल कारण भावकर्म है। अतः भावकर्म ही प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण है।

जिस प्रकार बीज को जला देने से न अंकुर उत्पन्न होता है, न वृक्ष बनता है, न पत्र-पुष्पादि आते हैं उसी प्रकार भावकर्म (ममत्वादि) को जला देने से न द्रव्यकर्म का आस्रव होता है न शरीर उत्पन्न होता है न प्राण ही जन्म लेते हैं। अतः समस्त अनर्थ के मूल कारण भूत आसक्ति को संपूर्ण रूप से नष्ट करना चाहिए।

पौद्गलिक प्राणों के नाश के कारण

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पंग झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति।। (151)

जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत में संतोष के

बल से जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभव के बल से कषाय को जीतने से पंचेन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमई अपनी ही आत्मा को ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमई आत्मा के गुणों के विघ्न करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों से नहीं बंधता है। कर्मबंधन के न होने पर ये इन्द्रियादि द्रव्य प्राण किस तरह उस जीव का आश्रय कर सकते है? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसी से जाना जाता है कि कषाय और इन्द्रियों के विषयों का जीतना ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणों के विनाश का कारण है।

समीक्षा-इन्द्रियों की प्रवृत्ति अंतरंग में कषायों की प्रवृत्ति परक होती है इसलिए इन्द्रिय-विजय कषाय-विजय पूर्वक ही होगी, इसलिए जो इन्द्रिय-विजयी है वह कषाय विजयी भी होगा। अतः इन्द्रिय विजयी (कषाय विजयी भी) होकर स्व-शुद्धात्मा का ध्यान करता है वह कर्म को नहीं बाँधता है। जब कर्म ही नहीं बाँधता है तब कर्म के कार्य स्वरूप प्राणों का संबंध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार वृक्ष को पानी, खाद, भोजन देना बंद कर देने पर वृक्ष सूख जाता है, जिसके कारण उसमें पुष्प, फलादि नहीं आते हैं। उसी प्रकार कषाय की निवृत्ति से इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती और आत्मा का ध्यान होता है जिससे कर्मास्रव नहीं होते हैं कर्मास्रव के अभाव से शरीर भी नहीं मिलता है। (क्योंकि कर्माभाव से मोक्ष हो जाता है।) शरीर के अभाव से प्राणों का भी अभाव हो जाता है।

मनुष्यादि व्यवहार से जीव है

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।। (152) प्र.सा.

The Transformation of one condition into another, in the case of the soul when coming into contact with matter whose existential nature is (already) determind, is the modification with its varieties of figuration etc.

(अत्थित्तणिच्छिदस्स) अपने अस्तित्व द्वारा निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थ के (हि) निश्चय से (अत्थतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर-नारक आदि विभाव पदार्थ है सो वही (संठाणादिप्पभेदेहिं) संस्थान

आदि के भेदों से (पज्जायो) पर्याय है। चिदानन्दमयी एक लक्षण रूप स्वरूप अस्तित्व से निश्चित ज्ञानमयी परमात्मा पदार्थ रूप शुद्धात्मा से अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के संबंध से उत्पन्न हुआ जो नर-नारक आदि का स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदि से रहित परमात्मा द्रव्य से विलक्षण संस्थान व सहंनन आदि के द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभव लक्षण रूप स्वभाव व्यंजन पर्याय से भिन्न विभाव व्यंजय पर्याय है।

समीक्षा-शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चैतन्य स्वरूप जीव को छोड़कर संसारावस्था में जो जीव की विभिन्न गति और संस्थानादि हैं वे जीव नहीं है परन्तु पुद्गल की विभिन्न अवस्था होने के कारण पौद्गलिक हैं किन्तु व्यवहार नयापेक्षा (जो व्यवहार झूठा नहीं है परन्तु कर्म सापेक्ष होने के कारण परम यथार्थ भी नहीं है) जीव है। कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा भी है-

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।। (65)
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।। (66)

निश्चयनय से कर्म और करण में अभेद भाव है, इस न्याय से जो जिससे किया जाये वह वही है। ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पात्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य तो कुन्छ नहीं उसी प्रकार ये जीवस्थान हैं, वे बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सब पर्याप्त-अपर्याप्त हैं, वे सभी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे करण रूप हैं उनसे किये गये हैं, इसलिये पुद्गल ही हैं, वे जीव नहीं है तथा नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है और जो प्रत्यक्ष देखने में आने वाले शरीर आदि मूर्तिक भाव हैं वे पुद्गल कर्म प्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, सहंनन-ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किये हुए हैं, इसलिये पुद्गल के अभेद रूप हैं इसी कारण जीवस्थान पुद्गलमय कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं है ऐसा निश्चयनय का सिद्धांत है।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। (67)

निश्चय से यह जानना कि बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीर का सूत्र में जीव संज्ञा द्वारा कहा है। वहाँ पर प्रसिद्धि से घृत के घड़े की तरह व्यवहार है। यह व्यवहार अप्रयोजन भूत है। उसको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कहते हैं-जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्म से लेकर घी का घड़ा देखा था, घृत से खाली भिन्न घट नहीं देखा उसको समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृत का घट है, वह मिट्टीमय है, घृतमय नहीं है ऐसे उस पुरुष के घृत की प्रसिद्धि से समझाने वाला भी घृत का घट कहता है ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणी के अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसको शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ऐसा सूत्र में कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है। इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणी के वर्णादिमान् प्रसिद्ध हैं। उस प्रसिद्धि से जीव में वर्णादिमान् होने का व्यवहार सूत्र में किया है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कहं हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।। (68)

जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पुद्गल रूप मोहकर्म की प्रकृति से उदय होने से होते हैं, इसलिये नित्य ही अचेतन है, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्याय से वे पुद्गल ही है जीव नहीं है। यहाँ गुणस्थानों की नित्य अचेतनाओं से सिद्ध है और चैतन्य स्वभाव से व्याप्त आत्मा से भिन्न रूप से भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं प्राप्य है, इस हेतु से सिद्ध करना। चैतन्य मात्र आत्मा के अनुभव से यह बाह्य हैं इसलिये अचेतन ही है। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंध स्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गल कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही है, जीव नहीं है, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं हैं, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

मनुष्यादि पर्यायें कर्म जनित है

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।

पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।। (153) प्र.सा.

Human, hellish, sub-human and divine modifications of the soul are mutually different with regard to the figuration of (the body) etc, because of the operation of Nama-karman.

(णामकम्मस्स उदयादिहिं) नामकर्म के उदय से (निश्चय से) (जीवाणां) संसारी जीवों की (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तिर्यंच और देव (पज्जया) पर्यायें (संठाणादीहि) संस्थान आदि के द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्याय से भिन्न अन्य-अन्य रूप (जादा) उत्पन्न होती हैं। निर्दोष परमात्मा शब्द से कहने योग्य, नाम गोत्रादि से रहित शुद्ध आत्म द्रव्य से भिन्न नामकर्म के बंध, उदय, उदीरणा आदि के वश से जीवों की नर, नारक, तिर्यंच तथा देवरूप अवस्थाएँ अर्थात् विभाव व्यंजन पर्यायें अपने भिन्न-भिन्न आकारों से भिन्न-भिन्न उपजती हैं। मनुष्य भव में जो समचतुरस्त्रसंस्थान व औदारिक शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भव से उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हर एक नए-नए भव में कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध-बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे-अग्नि, तृण, काष्ठ, पत्र आदि के आकार से भिन्न-भिन्न आकार वाली हो जाती है तो भी अग्निपने के स्वभाव को अग्नि नहीं छोड़ देती है। क्योंकि ये नर-नारकादि पर्यायें कर्मों के उदय से होती हैं इससे ये शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है।

मुनि निन्दा से अनेक भव तक घोर दुःख

प्रद्युम्न ने प्रसन्नता के साथ आचार्य से निवेदन किया-'मैं आपके परामर्श का अक्षरशः पालन करूँगा। किन्तु मेरी एक शंका अन्य है, वह यह है कि बाल्यावस्था में ही मेरी माता (रुक्मिणी) से जो मेरा वियोग हुआ, वह क्या मेरे पापोदय से हुआ या माता के कर्मदोष से?' मुनिराज ने उत्तर दिया-'हे वत्स यह वियोग तुम्हारी माता के कर्म दोष से हुआ है। कारण पूर्व के संचित पाप-पुण्य से ही दुःख मिलते हैं। इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो--

जम्बूद्वीप के सुविख्यात भरतक्षेत्र में मगध नाम का सम्पन्न एवं उत्तम देश है।

वहाँ के लक्ष्मी नामक एक ग्राम में सोमशर्मा नामक एक ब्रह्माण रहता था। वह शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्म विचारक था। उसकी भार्या कमला थी, जिसके गर्भ से लक्ष्मीवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। जब लक्ष्मीवती यौवन विभूषित हुई, तो उसका असीम सौन्दर्य प्रकट हो पड़ा। वह शेष संसार को तृणवत हेय समझने लगी। संयोग से एकदिन एक मासोपवासी मुनिराज उसके गृह पर आहार हेतु पधारे। यद्यपि वे अवधिज्ञानी, कामजीत तथा रत्नत्रय-विभूषित थे, किन्तु उनका सर्वांग धूल से मलीन हो रहा था। लक्ष्मीवती अपने सुन्दर रूप को दर्पण में निहार रही थी, पीछे से आगन्तुक मुनि की छाया दर्पण में दिखलाई पड़ी। अपने प्रतिबिम्ब के निकट ही मुनि की छाया देखकर उसे बड़ा अभिमान हुआ। उसने विचार किया कि कहाँ मेरा मनोज्ञ रूप एवं कहाँ मुनि की यह निन्दनीय स्वरूप। उसने मुनि के स्वरूप की निन्दा कर घोर पाप अर्जित किया। इस पापोदय से वह कुष्ठ रोग से पीड़ित हुई। फलस्वरूप उसे असहनीय कष्ट होने लगा।

एक दिन वह अपने दुःखों को सहन न कर अग्नि में कूद पड़ी तथा आर्तध्यान से मृत्यु प्राप्त कर पापोदय से गर्दभी (गधी) हुई। इसके पश्चात् अगले भव में वह गृह शूकरी (पालतू सुअरी) हुई। कोटपाल के प्रहार से वह प्राण त्याग कर कुतिया हुई। शीतकाल में एक दिन वह तृण (घास) में बैठी थी कि उसमें अचानक अग्नि संयोग होगया तथा वह कृतिया मृत्यु को प्राप्त हुई। इसके पश्चात् पापादेय से उसने निगम नामक नगर में किसी धीवर की पुत्री के रूप में जन्म लिया। किन्तु उसकी देह निन्द्य तथा दुर्गन्ध युक्त हुई। इसलिये कुटुम्बवालों ने उसे घर से निकाल दिया। परिवार द्वारा निर्वासित वह धीवरी गंगा तट पर कुटिया बना कर रहने लगी। उसके उदर-पोषण का एकमात्र साधन था-डोंगी से यात्रियों को पार उतारना। इस कार्य से उसे कुछ धन प्राप्त हो जाता था। वह अपने अर्जित द्रव्य में से कुछ भाग अपने परिवार में भी भेज दिया करती थी। इस प्रकार अपने तीव्र पाप फल भोगती हुई वह जीवनयापन करती रही। इसका नाम दुर्गन्धा पड़ गया था। एक दिन वही मुनिराज गंगा तट पर पधारे, जिनकी इसने पूर्व में निन्दा की थी। माघ का महीना था, इसलिये भीषण शीत का प्रकोप था।

योगिराज को देखकर धीवरी ने विचार किया कि ऐसे में योगीन्द्र गंगा तट पर कैसे ठहरेंगे? उसने मुनिराज के समीप जाकर अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी एवं वस्त्र

ओढ़ा कर उनका शीत-निवारण करने लगी। वह प्रातःकाल तक उनकी वैयावृत्य करती रही। जब मुनिराज का ध्यान भंग हुआ, तो उन्होंने कहा-'हे पुत्री लक्ष्मीवती! कुशल तो है?' अपना नया नाम सुनकर धीवरी ने विचार किया कि योगीन्द्र क्या कहते हैं, यह सुनना चाहिए? जैन शासन को धारण करनेवाले साधु तो कभी असत्य नहीं बोलते। विचार करते ही उसे मूर्च्छा आ गयी एवं जाति-स्मरण हो गया। सचेत होने पर उसने मुनिराज से प्रार्थना की-'हे योगीश्वर! मैं किस निम्न दशा में आ पहुँची? कहाँ पूर्व में ब्राह्मण की पर्याय थी एवं कहाँ अब धीवरी हूँ। आपकी निन्दा कर मैंने जो भारी पाप अर्जित किया था, उसी का यह फल भोग रही हूँ। अब मुझे क्षमा कर दीजिये। वह धर्म मुझे सुनाइये, जिससे इस पाप से मेरी मुक्ति हो।' विलाप करती हुई धीवरी को सान्त्वना देते हुए मुनिराज ने कहा-'हे पुत्री! वृथा सन्ताप मत करो, क्योंकि यह संसार ही दुःख का कारण है। अतएव अब काल व्यर्थ न गँवा कर जिनेन्द्रभगवान् के धर्म को धारण करो। तू पूर्व-जन्म के पापों के कारण ही निन्द्य कुल में उत्पन्न हुई है।

जिनेन्द्रभगवान् के धर्म को धारण करो। तू पूर्व-जन्म के पापों के कारण ही निन्द्य कुल में उत्पन्न हुई है। अब तुम गृहस्थ-धर्म में अनुरक्त होकर अर्हंत देव द्वारा उपदेशित जैन-धर्म का पालन करो।' मुनि महाराज ने सम्यक्त्व सहित द्वादश प्रकार के धर्म उस धीवरी को समझाये। तत्पश्चात् परम दयालु मुनिराज तपस्या हेतु गमन कर गये एवं धीवरी जिन-धर्म के पालन में अहर्निश सन्नद्ध रह कर कुछ काल तक उसी कुटिया में रही। कालक्रम से वह बाक्षाकौशल नगरी में गयी। वहाँ जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में उसे धर्मपालनी नाम की अर्जिका मिली। अर्जिका ने धीवरी को बहुविध धर्मोपदेश सुनाया। अब तो वह धर्म-ध्यान में पूर्णरूपेण तन्मय हो गयी। एक दिन वह धीवरी पूर्वोक्त अर्जिका के साथ राजगृह नगर में गयी। उसने जिन-मन्दिर में जाकर प्रणाम किया। नगर के बाहर ही गोपुर था। अर्जिका गोपुर की गुफा में प्रवेश कर ध्यानस्थ हो गयी एवं धीवरी गुफा के बाहर ही जप-ध्यान करने लगी। दैवयोग से रात्रि में एक भयावह व्याघ्र वहाँ आया एवं उसने धीवरी का भक्षण कर लिया। जिन-धर्म के प्रभाव से ध्यान-योग में उसकी मृत्यु हुई। उस समय वह व्रतों का भी पालन कर रही थी, अतएव देह त्याग कर सोलहवें स्वर्ग में इन्द्राणी हुई। पुण्य-प्रभाव से उसने वहाँ चिरकाल तक सुखों का उपभोग किया।

अन्त में धीवरी के जीव ने कुण्डनपुर के राजा भीष्म की पुत्री के रूप में जन्म लिया। उसका नाम रुक्मिणी पड़ा। पहिले उसके विवाह-सम्बन्ध का निश्चय राजा दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ हुआ था। नारद मुनि के मुख से प्रशंसा सुन कर वह नारायण श्रीकृष्ण पर अनुरक्त हो गयी। उसने दूत द्वारा गुप्त रूप से श्रीकृष्ण को बुलवाया। श्रीकृष्ण एवं बलदेव दोनों भ्राता कुण्डनपुर जा पहुँचे। वे शिशुपाल का वध कर रुक्मिणी को पटरानी का पद देकर द्वारिका ले आये। उसी रुक्मिणी के गर्भ से तू उत्पन्न हुआ है। जन्म के छठवें दिन ही तुझे एक दैत्य हर कर ले गया था। (श्री प्रद्युम्न चरित्र)

प्रद्युम्न ने प्रश्न किया-'हे मुनिराज! मेरा अपनी माता के वियोग किस पाप के उदय से हुआ है?' यतिराज बोले-'हे वत्स! उसमें तेरा कोई भी पाप का कारण नहीं है। यह वियोग तेरी माता के पूर्व-जन्म के पापादेय से हुआ है। जब वह लक्ष्मीवती ब्राह्मणी थी, तब उसने एक मयूर-शावक को उसकी माता से पृथक् कर दिया था, उसी वियोग-जनित पाप के कारण तेरा वियोग हुआ है। ये तेरे षोडश वर्ष माता के कर्म फल से उससे पृथक्, व्यतीत हुए हैं। हे वत्स! इसलिये किसी का भी वियोग नहीं कराना चाहिये। पाप का फल हानिप्रद ही होता है।'

एक लड़का व कुछ कुत्तो से मुझे प्राप्त शिक्षायें

(खेल वा मैत्री का जीवन्त प्रायोगिक रूप)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः एक लड़की को देखा...)

एक लड़का को देखा तो ऐसे देखा, एक प्रेम स्वरूप, एक निश्चल (निश्छल) रूप।
एक भोला बालक, एक उपकारी रूप, एक निर्भय-निःशंक-खेल स्वरूप।। (1)
प्रातः भ्रमण में मैं ने यह देखा, चार-पांच कुत्तो से खेलते बाल देखा।
भेदभाव प्रतिस्पर्द्धा रिक्त खेल देखा, स्वार्थ, ईर्ष्या, घृणा तृष्णा रिक्त देखा।। (2)
एकान्त शान्त मैदान में यह देखा, धूली मिट्टी में दौड़ते-लोटते देखा।
ढोंग, पाखण्ड, दिखावा रहित देखा, कुत्ता-बाल में मैत्री प्रेम देखा।। (3)
उन कुत्तो को बड़े कुत्तों से लड़ते देखा, अन्य कुत्तों को स्वस्थान से भगाते देखा।
किन्तु उस बालक से प्रेम करते देखा, उसके पैर में पड़ते, सूंघते देखा।। (4)

यह देखता रहा योगासन करते हुये, भाव प्रफुल्लित हुआ शोध, बोध लिये।
उस बालक को बुलाया प्रेम भाव से, संकुचित हो आया शिर झुकाते हुए।। (5)
मैंने पूछा क्या नाम क्या पढ़ते हो? कहा विशाल आहारी छट्ठी पढ़ता हूँ।
बाल्यकाल से मैं खेलता हूँ कुत्तों से, खेलने हेतु आया हूँ मैं घर से।। (6)
चाचा के घर के पास कुत्ते रहते हैं, यहाँ आवारा रूप से घूमते हैं।
यह सुनकर मैं उसे धन्यवाद दिया, मैत्री-कृपा से उन्हें आशीर्वाद दिया।। (7)
कुत्ते भी आकर मेरे पास घूमते रहे, कोई लेटा, कोई मुझे देखते रहे।
मेरा हृदय पुलकित हुआ विशेष, शिक्षा ग्रहण करने के भाव विशेष।। (8)
विचार किया देखो कैसी दशा, पीछड़े कहने वालो की उच्चदशा।
घनी मानी शिक्षित कट्टर धार्मिक, स्वयं को उच्च मानने वालों की नीचदशा। (9)
दया प्रेम करुणा सेवा परोपकार, सरल सहज से जीवों के भाव-व्यवहार।
केवल ढ़ोंग पाखण्ड से ये गुण दूर होते, कृत्रिम बाजारु भोजन यथा अयोग्य होते।। (10)
मानव परिग्रही बन रहा है अभी, स्वधरती पर चलना न सिखा अभी।
मछली व पक्षी सम तैरते उड़ते, भूमी गोचरी महामानव नहीं बनते।। (11)
ऐसे प्रायोगिक अच्छे भावव्यवहार, बिना कहे मुझे शिक्षा मिले प्रचुर।
मैं गुणी-दुर्गुणी से भी शिक्षा लहूँ, सभी जीव सुखी रहे 'कनक' भाऊँ।। (12)
यह वसुधैव कुटुम्ब की दशा, जीव सुरक्षा व पर्यावरण की रक्षा।
''परस्परोपग्रहो जीवानां'' का सूत्र, ''जीने हेतु जीने दो'' व अहिंसा मंत्र।। (13)

ग.पु. कॉलोनी 12.5.2020 मध्याह्न-12.38

कोरोना वायरस से निर्भय होने हेतु-

मेरा आत्म सम्बोधन विदेही बनने हेतु-तन के बन्दी से विदेही हेतु

(चालः पिंजरे के पंछी रे...)

इस तन के बन्दी रे! ऽऽऽ हो ऽऽऽ तू शीघ्र विदेही बन ऽऽऽ
तू चेतन...देह अचेतन...त्यज मोह...नश्वर तन...(स्थायी)
देह पौद्गलिक पिण्ड मात्र जो...पूरण-गलन स्वभावी है...

तू तो चैतन्य पिण्ड मात्र जो...अनन्त ज्ञान सुख वीर्य मय...तू...(1)...
अनादिकालीन कर्मबन्ध से...अशुद्ध बन के पाया है देह...
राग द्वेष मोह काम क्रोध मद...विभाव रूप परिणमा रे...तू...(2)...
इससे तुझे तेरा नहीं है बोध...जिससे स्वयं को माना मैं हूँ तन...
इस कारण बना देह का बन्दी...दास बनकर काम किया रे...तू...(3)...
देहानुसार स्व को छोटा-बड़ा माना...दीन-हीन-अहंकारी बना रे
भोगोपभोग को ही स्व सुख माना...जन्म-जरा-मृत्यु (स्वभाव) माना रे...तू...(4)...
इससे प्रभावित हो हर पाप किया...चौरासी लक्ष योनि में पाया दुःख...
जिन पर्यायों को तूने पाया...उसी को स्वरूप माना रे...तू...(5)...
इस कारण तू संसार मध्य में...अनन्त जन्म जरा मरण किया...
हर कार्य संसार के अनन्त किया...जिसे स्व कर्त्तव्य माना रे...तू...(6)...
उस हेतु सदा ही प्रयत्न किया...उसकी सफलता में गर्व किया रे...
असफलता से दीन-हीन माना...स्व का गौरव न किया रे...तू...(7)...
अभी से विभाव बन्धन काटो...शुद्धात्मा शक्ति रूपी अस्त्र से काटो...
विमुक्त स्वाधीन स्वतन्त्र बनो...शुद्ध-बुद्ध-आनन्द-विदेही रे...तू...(8)...
इस हेतु निस्पृह निर्मम बनो...वीतरागी-विज्ञानी-स्वध्यानी बनो...
समता शान्ति आत्मविशुद्धि से...मुक्ति से 'कनक' अमृत बनो रे...तू...(9)...
तू तो अजर अमर अमृत...तेरा क्या बिगाडेंगे कोरोना वायरस...
तुझे तो कोई मारने में असमर्थ...आधि-व्याधि से ले यम (काल, मृत्यु) रे...तू...(10)...
इस तन के बन्दी रे! ऽऽऽ हो ऽऽऽ तू शीघ्र विदेही बन ऽऽऽ2
तू चेतन...देह अचेतन...त्यज मोह...नश्वर तन...

ग.पु.कॉ., दि-8/5/2020, रात्रि-11.43

प्रथम विश्वयुद्धः सैन्य शिविरों में गंदगी से पनपी थी महामारी

स्पेनिश फ्लू से 100 साल पहले हुई थीं 10 करोड़ मौतें

लदंन. चीन से फैला कोरोना वायरस (कोविड-19) धरती पर अंटार्कटिका

महाद्वीप को छोड़कर लगभग सभी जगह पहुंच चुका है। दिनोंदिन बिगड़ते हालात को देखकर स्वास्थ्य विशेषज्ञों को चिंता सता रही है कि वायरस कहां थमेगा और अपनी चपेट में और कितने लोगों को ले सकता है। दरअसल, यह संक्रमण लगातार अपने पैर पसार रहा है और हर दिन इसके मामले बढ़ते जा रहे हैं। हालांकि करीब 100 साल पहले प्रथम विश्वयुद्ध के तुरंत बाद फैले स्पेनिश फ्लू का प्रकोप इससे कहीं ज्यादा भयंकर था। इससे पांच से 10 करोड़ के बीच लोग मारे गए थे। बीबीसी की रिपोर्ट के अनुसार, स्पेनिश फ्लू नाम से जानी जाने वाली यह महामारी पश्चिमी मोर्चे पर स्थित छोटे और भीड़ वाले सैन्य प्रशिक्षण शिविरों में शुरू हुई। इन शिविरों और फ्रांस की सीमा के पास की खंदकों में गंदगी की वजह ये बीमारी पनपी और तेजी से फैलती चली गई।

घर लौटते सैनिकों के साथ फैलती गई

पहला विश्वयुद्ध नवंबर 1918 में खत्म हो गया था, पर घर लौटने वाले संक्रमित सैनिकों के साथ यह वायरस भी अन्य क्षेत्रों में फैलता गया। रिपोर्ट के मुताबिक, दुनिया में उसके बाद भी कोई महामारियां फैलीं, लेकिन इतनी घातक व व्यापक कोई नहीं रही।

शुरुआती दौर में थी हवाई यात्रा

जब स्पेनिश फ्लू फैला था तब दुनिया में हवाई यात्रा की शुरुआत बस हुई थी। यह बड़ी वजह थी कि उस समय दुनिया के दूसरे देश बीमारी के प्रकोप से अछूते रहे। कई जगहों पर स्पेनिश फ्लू को पहुंचने में कई महीने और साल लग गए।

कोरोना की लड़ाई को आसान बनाती है भारतीय जीवन पद्धति

कोरोना से लड़ाई कठिन है लेकिन भारतीय प्राचीन परंपराओं/पद्धतियों को अपनाकर इस लड़ाई को आसानी से जीता जा सकता है। जानते हैं इसके बारे में-

24 घंटे घी का दिया पूजा घर में जलाएं। इससे संक्रमण नहीं फैलेगा।

06 माह में बच्चे का अन्न-स्वर्णप्राशन कराते हैं। इससे इम्युनिटी बढ़ती है।

शवाड़-सूतक/क्वारंटाइन

अपने यहां क्वारंटाइन प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसे शवाड़ (सूतक)

कहते हैं। प्रसव के बाद प्रसूता-शिशु को अलग कमरे में रखकर सेवा सुश्रुता की जाती है, क्योंकि दोनों की इम्युनिटी कम होती, वायरस-बैक्टीरिया से बचाव होता है।

प्राचीन सैनिटाइजर

यज्ञ, हवन-पूजन में धूप, घी, लोबान, गुगुल, काला तिल, चंदन, कर्पूर, लौंग आदि इस्तेमाल होता है। ये प्राकृतिक सैनिटाइजर है। घर के अंदर आने पर जूता-चप्पल बाहर निकलते थे। वहीं किचन में हर किसी का प्रवेश नहीं होता था। सूतक में भी ऐसे बचाव करते हैं।

सूर्यास्त के बाद खाना न खाएं

हमारे भोजन में दही, दूध, घी, हरी और मौसमी सब्जियां को महत्व दिया जाता है। खाने में सभी षट्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कसाय) होते हैं। खाना सूर्यास्त से पहले ही खाने से संक्रमण से बचाव होता है। शरीर मजबूत होता, इम्युनिटी बढ़ती है।

प्रणाम से सोशल डिस्टेंसिंग

ब्रह्म मूहूर्त में उठते और योग-प्राणायाम करते हैं। शाम को जल्दी सो जाते हैं। शरीर के साथ मन और स्मरणशक्ति अच्छी रहता है। इम्युनिटी भी बढ़ती है। पैर छूकर प्रणाम या नमस्ते से सोशल डिस्टिंग होता है। संयुक्त परिवार में तनाव कम होता और मनोबल बढ़ता है। तनाव से इम्युनिटी घटती है। मनोबल कमजोर होने और एकाकी रहने से कई तरह का संक्रमण बढ़ता है। मनोव्याधियों से शरीर को ज्यादा नुकसान होता है। **-डॉ. रूपराज भारद्वाज**

वायरस से शिक्षा लेकर विकास करो

(आर्तनराधर्म परा भवंति, दुःख में सुमिरन सब करे, आवश्यकता आविष्कार की जननी, समस्या से समाधान, परोपकाराय सतां प्रवृत्तय)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.दुनिया में रहना है तो... 2.क्या मिलिए....)

शिक्षा लो भाई शिक्षा लो, कोरोना वायरस से शिक्षा लो।
मानव होने का गर्व छोड़ो प्रकृति का मालिक मत बनो।।

''परस्पर उपग्रहो जीवानां'' मानो; जीना है तो अन्य को जीने दो।
मा सम प्रकृति को तुम मानो, दूध पीओ किन्तु खून न पीओ।। (1)
संकीर्ण स्वार्थी क्रूर मत बनो, भस्मासूर सम प्रकृति को न संहारो।
क्रिया की प्रतिक्रिया होती अवश्य, समानुपाती से ले अनन्त तक।।
प्रकृति का मालिक बनने हेतु, शोषण से ले विनाश मत करो।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि वर्चस्व हेतु, विनाश न करो प्रकृति का विज्ञान के भी हेतु।। (2)
तथाहि शिक्षा परम्परा धर्म निमित्त, फैशन-व्यसन व आड़म्बर निमित्त।
मेला उत्सव जुलुस से ले विवाह निमित्त, न करो प्रदूषण से ले प्रकृति विनाश।।
ईर्ष्या तृष्णा घृणा वैर-विरोध त्यागो, इससे जायमान आक्रमण-युद्ध त्यागो।
इससे धन जन मन समय न होंगे नाश, रुक जायेंगे प्रदूषण से प्रकृति विनाश।। (3)
इस से शान्त-संबृद्ध होगी पृथ्वी, सस्य शामला होगी पूरी धरती।
संतोषी सुखी होगी मानव जाति, सादा जीवन उच्च विचार में प्रवृत्ति।।
तन मन आत्मा होंगे स्वस्थ सबल, आधि-व्याधि भी न होंगे प्रबल।
मद्य मांस तम्बाखू सेवन रहित, पौष्टिक सात्विक भोजन पानी सहित।। (4)
इस से होगा परिग्रह सीमित, यान वाहन फैक्ट्री खान सीमित।
शोषण मिलावट भ्रष्टाचार रहित, मानव होंगे समान धन अधिकार सहित।।
धनी-गरीब शोषक-शोषित रिक्त, वसुधैव कुटुम्ब साम्यवाद सहित।
नगर में जनसंख्या विस्फोट होगा कम, ग्राम व पल्ली में निवास सुख सहित।। (5)
मोक्ष पुरुषार्थ युक्त धर्म अर्थ काम ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास।
अन्त्योदय से ले सर्वोदय निमित्त, सतत करो पुरुषार्थ आत्म निमित्त।।
समस्या से समाधान करो शोध-बोध, आवश्यकता आविष्कार जननी ज्ञेय।
''आर्तनराधर्म परा'' होते विशेष, दुःख में सुमिरन सब करे विशेष।। (6)
दानदया सेवा परोपकार करो, संकट में अन्य का शोषण मत करो।
दानदयादि का सुफल मिलेगा तुम्हें, शोषण का कुफल मिलेगा तुम्हें।।
पार्श्वनाथ, जीवन्धर, बुद्ध, ईसा मसीह, नाइटिंगल, गाँधी, टेरेसा, सुभाष।
दयालु माता सम डॉक्टर, वैद्य, नर्स, भामाशाह आदि सम करो भाव-व्यवहार।। (7)
ठोकर से भी यदि न बना तू ठाकुर, अन्य उपाय होना नहीं सरल।
केवल औषधि से रोग दूर होने से, अन्यान्य रोग (समस्या) उत्पन्न संभव।।

आयुर्वेद विज्ञान व आध्यात्मिक सहित, समस्या समाधान होगा शाश्वत।
ऐसी शिक्षा यदि तुम वायरस से लो, सफल हो तुम ''कनक सूरी'' का आशीष।। (8)

ग.पु.कॉ. दि. 11-5-2020 रात्रि 9:39

(यह कविता मेरी शिष्या श्रीमती दीपिका नगीन शाह की भावना प्रार्थना से बनी।)

बार-बार डाइट बदलने से सेहत को होता है नुकसान; नकारात्मकता आ सकती है, उम्र भी कम हो सकती है

कम भोजन उपलब्ध होने की स्थिति में जीवित रहने की क्षमता पर भी असर संभव

लंदन. अगर आप सेहत को लेकर चिंतित हैं और फिटनेस के लिए बार-बार खान-पान या डाइट में बदलाव करते हैं, तो इससे फायदा नहीं, बल्कि नुकसान हो सकता है। आपकी सेहत सुधरने के बजाय खराब हो सकती है और यहां तक कि उम्र भी कम हो सकती है। यह खुलासा ब्रिटेन की शेफील्ड यूनिवर्सिटी के सांइटिस्ट की ताजा रिसर्च में हुआ है। इसके मुताबिक अगर आप बिना रोक-टोक के हर तरह का खाना चाहते हैं और अचानक सेहत सुधारने के नाम पर हेल्दी खाने को अपना लेते हैं, तो यह नुकसान करता है। शोधकर्ताओं ने इसके लिए फ्रूट फ्लाइज या ड्रोसोफिलिया किस्म की मक्खियों पर प्रयोग किए। इन मक्खियों को पहले ऐसा खाना खिलाया जो रोज के खाने से अलग था। इसके बाद वापस उसी खाने पर निर्भर बनाया। इससे उन्हें नुकसान होना शुरू हो गया। रिचडाइट या नियमित डाइट वाली मक्खियों की तुलना में इन मक्खियों के मरने की संभावना बढ़ गई। कई मक्खियों की मौत हुई, और अंडे भी कम दिए। रिच डाइट के लिए मक्खियां तैयार नहीं थीं।

रिसर्च में शामिल वैज्ञानिक डॉ.मिरे सिमंत कहते हैं, यह हमारी उम्मीदों और विकास के प्रचलित सिद्धांत के उलट था। विशेष या कुल पोषक तत्त्वों के सेवन में कमी मनुष्यों और जानवरों में जीवित रहने की क्षमता को जन्म देती है। उनमें यह क्षमता है कि वे भोजन की कम उपलब्धता की स्थिति में जीवित रहने और शरीर में ऊर्जा बनाए रखने में सक्षम होते हैं, जब तक कि पर्याप्त पौष्टिक भोजन न मिले। लेकिन खान-पान में लगातार बदलाव की आदत इस क्षमता और यहां तक कि जीवनकाल को कम कर देती है। शोधकर्ता एंड्यू मैकक्रेकन कहते हैं, सबसे आश्चर्यजनक यह रहा कि प्रतिबंधित आहार किसी

विशेष नुकसान का मूल कारण भी हो सकता है। इससे फार्मा सेक्टर में रिसर्च के नए दरवाजे खोल सकते हैं।

20% भारतीय तभी विदेश जांएगे जब वैक्सीन बनेगी, 71% मनोरंजन के लिए बाहर नहीं जाएंगे

सरकार से लेकर आम लोगों तक, सभी अब 'न्यू नॉर्मल' की बात कर रहे हैं। अधिकारी भी कहे चुके हैं कि हमें अब कोरोना के साथ ही जीना होगा। ऐसे में हाल ही में हुए दो सर्वे ने लोगों की सोच व व्यवहार में बदलाव और उनके मन में 'न्यू नॉर्मल' को लेकर हो रही तैयारी पर रोशनी डाली हैं। पहला सर्वे मैनेजमेटं कंसल्टिंग कंपनी मैक्किंसी ने किया है, जिसके मुताबिक भारत में लोग अर्थव्यवस्था को लेकर आशावादी हैं। सर्वे में मार्च के महीने में और अप्रैल मध्य में लोगों की सोच की तुलना भी की गई है। मार्च अंत में 52% लोगों को लगता था कि अर्थव्यवस्था 2-3 महीनों में सुधरने लगेगी, वहीं अप्रैल में यह आंकड़ा 6% बढ़कर 58% पर पहुंच गया। वहीं 52% लोगों को लगता है कि उनकी नौकरी खतरे में है, जो मार्च की तुलना में 2% ज्यादा है। 55% यह भी मानते हैं कि आने वाले हफ्तों में उनकी आय व बचत कम हो जाएगी। न्यू नॉर्मल के खर्च के पैमाने भी बदलेंगे। मैक्किंसी का सर्वे बताता है कि लोगों को लगता है कि वे किराना (44%), पसर्नल केयर प्रोड्क्टस (29%) व होम एंटरटेनमेंट (45%) पर ज्यादा करेंगे।

दूसरा सर्वे लंदन स्थित ग्लोबल मार्केट रिसर्च और डेटा कंपनी यूगॉव ने किया है। इसमें भी भारतीय काफी आशावादी नजर आ रहे हैं। सर्वे में शामिल ज्यादातर भारतीय मानते हैं कि देश में कोरोना महामारी मई अंत से लेकर जुलाई अंत तक नियंत्रण में आ जाएगी और खत्म हो जाएगी। ऐसे लोगों का आंकड़ा 48 फीसदी है।

वहीं दुनिया में लोग महामारी के खत्म होने को लेकर कम उम्मीदें हैं। केवल 40 फीसदी लोगों को ही लगता है कि कोरोना मई से जुलाई के बीच खत्म होगा। नॉर्मल लाइफ के बारे में पूछने पर 27 फीसदी ने कहा कि वे पांबदी हटने पर पार्क, गार्डन, कॉलेज-यूनिवर्सिटी, मॉल और सिनेमा आदि जाएंगे, वहीं 21 फीसदी ने कहा

कि वे वैश्विक स्तर पर रोगियों के कम होने के बाद विदेश यात्रा करेंगे, वहीं 20 फीसदी कोरोना वैक्सीन की खोज होने के बाद ऐसा करेंगे।

दो सर्वे से जानिए कैसा हो सकता है न्यू नॉर्मल?

नॉर्मल होने में कितना समय लगेगा?

11% लोगों का मानना है कि 0-1 महीने लगेगा।

4% एक साल से ज्यादा। **48%** 2-3 महीने।

8% 7-12 महीने। **29%** 4-6 महीने।

89% सोचते हैं कि सामान्य रूटीन में आने में 2+ महीने लगेंगे।

अर्थव्यवस्था कैसी रहेगी?

आशावादी 58% को उम्मीद 2-3 महीने में पटरी पर आ जाएगी।

अनिश्चित 30% को लगता है कि 6 से 12 महीने या ज्यादा लग सकते है।

निराशावादी 12% मानते हैं लंबा असर रहेगा और लंबी मंदी झेलनी होगी।

पैसा खर्च कैसे करेंगे?

73% अब पहले की तुलना में ज्यादा संभलकर पैसा खर्च करेंगे।

67% ने अपने खर्चे में कटौती करने की बात कही है।

खर्च में कटौती कहां करेंगे?

67% ने कहा वे अब जूते और कपड़े कम खरीदेंगे, 65% ज्वेलरी में कटौती करेंगे।

71% ने कहा कि मनोरंजन के लिए बाहर नहीं जाएंगे, 45% होम एंटरटेनमेंट पर खर्च बढ़ाएंगे।

किस बात की ज्यादा चिंता?

85% अपनी और परिवार की सुरक्षा को लेकर बहुत चिंतित है।

74% इस बात से परेशान हैं कि कोविड-19 कब तक चलेगा।

58% अपनी यात्राओं की योजना पर असर से परेशान हैं

कोरोना कब खत्म हो सकता है?

48% को लगता है कि मई अंत से जुलाई अंत तक देश में कोरोना खत्म हो जाएगा।

32% सोचते हैं कि अगस्त से अक्टूबर अंत तक ऐसा होगा।

7% को लगता है कि बीमारी साल के अंत तक ही खत्म होगी।

कोरोना से कुछ फायदा हुआ?

50% को लगता है कि कोरोना ने सिखाया है कि हमारे पास जो है, उसका सम्मान करें।

48% मानते हैं कि संकट की वजह से तकनीक बेहतर होगी।

6% को लगता है कि कोरोना से कोई भी अच्छा बदलाव नहीं होगा।

मार्च में 43% मास्क पहन रहे थे, अब 82% पहन रहे

कोरोना वायरस की वजह से न्यू नॉर्मल में पहले ही लोगों ने कई आदतों या व्यवहारों को अपना लिया है और ये बदलाव नजर आने लगे हैं। यूगॉव कोरोना के बाद मार्च से अब तक, लोगों के व्यवहार में बदलाव पर भी लगातार सर्वे कर रहा है। इसमें भारत के आंकड़ों के मुताबिक मार्च में जहां 59 फीसदी ही भीड़ वाली जगहों से बच रहे थे, वहीं मई में 81 फीसदी लोग भीड़भाड़ में जाने से बच रहे हैं। जो सार्वजनिक जगहों पर जा भी रहें हैं, उनमें 82 फीसदी लोग मास्क पहन रहे हैं, जबकि मार्च में 43 फीसदी लोग ऐसे थे। मार्च में 69 फीसदी पर्सनल हाइजीन का ख्याल रखते थे, अब 82 फीसदी ऐसा कर रहे हैं। मार्च में केवल 38 फीसदी सार्वजनिक जगहों पर मौजूद चीजों को नहीं छू रहे थे, अब 71 फीसदी लोग यह आदत अपने व्यवहार में ले आए हैं। काम पर जाने संबंधी व्यवहार में भी बदलाव आया है। जहां मार्च में 16 फीसदी काम पर जाने से बच रहे थे, अब ऐसे लोगों का आंकड़ा 68 फीसदी है। हालांकि कुछ चीज़ों में ज्यादा बदलाव नहीं आया है। जैसे मार्च में 54 फीसदी लोग कच्चा मांस इस्तेमाल कर रहे थे, वहीं मई में भी 48 फीसदी कच्चा मांस ले रहे हैं।

आराधना पाठ

(स्नान करते समय बोलना चाहिए)

मैं देव नित अरहंत चाहूँ, सिद्ध का सुमरन करौं।
मैं सुगुरुमुनि तीन पद ये, साधुपद हिरदय धरौं।।

मैं धर्म करुणामय जु चाहूँ, जहाँ हिंसा रंच ना।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूँ, जासु में परपंचना।। (1)
चौबीस श्री जिनदेव चाहूँ, और देव न मन बसैं।
जिन बीस क्षेत्र विदेह चाहूँ, वंदिते पातक नसैं।।
गिरनार शिखर सम्मेद चाहूँ, चंपापुर पावापुरी।
कैलाश श्री जिनधाम चाहूँ, भजत भाजै भ्रमजुरी।। (2)
नव तत्त्व का सरधान चाहूँ, और तत्त्व न मन धरौं।
षट्द्रव्य गुन परजाय चाहूँ, ठीक जासों भय हरौं।।
पूजा परम जिनराज चाहूँ, और देव न चहूँ कदा।
तिहुँकाल की मैं जाप चाहूँ, पाप नहीं लागै कदा।। (3)
सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र, सदा चाहूँ भावसों।
दशलक्षणी मैं धर्म चाहूँ, महा हरख उछावसों।।
सोलह जु कारन दुख निवारण, सदा चाहूँ प्रीतिसों।
मैं चित अठाई पूर्व चाहूँ, महा मंगल रीति सों।। (4)
अनुयोग चारों सदा चाहूँ, आदि अन्त निवाहसों।
पाये धरम के चार ये, चाहूँ अधिक उछावसों।।
मैं दान चारों सदा चाहूं, भुवन-वशि लाहो लहूँ।
आराधना मैं चारि चाहूँ, अन्त में यह ही गहूँ।। (5)
भावना बारह जु भाऊँ, भाव निरमल होत हैं।
मैं व्रत जु बारह सदा चाहूँ, त्याग भाव उद्योत हैं।।
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूँ, ध्यान आसन सोहना।
वसुकर्म तैं मैं छूटा चाहूँ, शिव लहूँ जहँ मोह ना।। (6)
मैं साधुजन को संग चाहूँ, प्रीति तिन ही सो करों।
मैं पर्व के उपवास चाहूँ, और आरंभ परिहरौं।।
इस दुक्ख पंचम काल माहीं, सुकुल श्रावक मैं लह्यो।

अरु महाव्रत धरि सको नाहीं, निबल तन मैंने गह्यो।। (7)
आराधना उत्तम सदा, चाहूँ सुनो जिनरायजी।
तुम कृपानाथ अनाथ 'द्यानत', दया करना न्यायजी।
वसु कर्म नाश विकास, ज्ञानप्रकाश मोको दीजिये।
करि सुगति गमन समाधि मरन, सुभक्ति चरनन् दीजिये।। (8)

अन्तिम भावना

भावना (1)

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ।
देहांत के समय में तुमको न भूल जाऊँ।। टेक।।
शत्रु अगर कोई हो, सन्तुष्ट उनको कर दूँ।
समता का भव धरकर, सबसे क्षमा कराऊँ।। दिन-रात..
त्यागूँ आहार पानी, औषध विचार अवसर।
टूटे न नियम कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ।। दिन-रात..
जागे नहीं कषायें, नहीं वेदना सताये।
तुमसे ही लो लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ।। दिन-रात..
आतम स्वरूप अथवा, आराधना विचारन।
अरिहन्त सिद्ध साधु, रटना यही लगाऊँ।। दिन-रात..
धरमात्मा निकट हो, चरचाधरम सुनावें।
वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ।। दिन-रात...
जीने की हो न वांछा, मरने की हो न इच्छा।
परिवार मित्र जन से, मैं राग को हटाऊँ।। दिन-रात..
भोगे जो भोग पहिले, उनका न होवे सुमरन।
मैं राज्य सम्पदा या पद, इन्द्र का ना चाहूँ।। दिन-रात..
रत्नत्रय का हो पालन, हो अन्त में समाधि।
शिवराम प्रार्थना है जीवन सफल जाऊँ।। दिन-रात..

भावना (2)

इतना तो करना स्वामी जब प्राण तन से निकले।
हो सिद्ध सिद्ध मुख में जब प्राण तन से निकले।।
सम्मेदशिखर का थल हो तीर्थंकरों का स्थल हो।
वहाँ ध्यान मेरा अटल हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
नेमी प्रभु का वट हो, सिर मोहता मुकुट हो।
वैराग्य अति प्रकट हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
चम्पापुरी का वन हो, जहाँ वासुपूज्य चरण हो।
उनके चरणों में मन हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
कैलाश पावापुरी हो, गिरनार सोनागरि हो।
सबके चरण में शिर हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
णमोकार मन्त्र मुख हो, जिनवाणी का भी सुख हो।
फिर नेक भी ना दुख हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
जब प्राण कण्ठ आवे, कोई रोग न सतावे।
प्रभु दर्श को दिखावे, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
सम्यक्त्व ज्ञान चारित, इन युक्त आत्मा हो।
मिथ्यात्व छूट जावे, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
मेरा ज्ञान में ही मन हो, मेरी ध्यान में लगन हो।
हो मैल कुछ ना दिल में, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
समता सुधा को पीकर, छोड़ूँ मैं राग-द्वेष।
मन शील से रंगा हो, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
इच्छा क्षुधा की होवे, जो चाह उस घड़ीं मे।
उनको भी त्याग कर दूँ, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
हे नाथ अर्ज करता, विनती पर ध्यान दीजै।
होवे समाधि पूरी, जब प्राण तन से निकले।। इतना तो...
जब प्राण तन से निकले, सोहं सोहं हो मुख में।
जब प्राण तन से निकले, अरहंत सिद्ध हो मुख में।। इतना तो...

समाधिमरण पाठ (बड़ा)

(मृत्यु महोत्सव पाठ)

(मुनियों के ऊपर घोर उपसर्ग (कष्ट, हिंसादि) का चिन्तन)

(सुरचन्दजी)

नरेन्द्र छंद

वन्दों श्री अरिहन्त परमगुरु, जो सबको सुखदाई।
इस जग में दुःख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई।।
अब मैं अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर माँहीं।
अन्त समय में यह वर माँगू, सो दीजे जगराई।। (1)
भवभव में तन धार नया मैं, भव भव शुभ सँग पायो।
भवभव में नृप रिद्धि लही मैं, मात पिता सुत थायो।
भवभव में तन पुरुष तनों धर, नारी हु तन लीनो।
भवभव में मैं भयो नपुंसक, आतमगुण नहिं चीनो।। (2)
भवभव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भवभव में गति नरकतनी धर, दुःख पावे विधि योगे।।
भवभव में तिर्यञ्च योनि धर, पायो दुःख अतिभारी।
भवभव में साधर्मीजन को, संग मिल्यो हितकारी।। (3)
भवभव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।
भवभव में मैं समवसरण में, देखो जिनगुण भीनो।।
ऐसी वस्तु मिली भवभव में, सम्यक गुण नहिं पायो।
ना समाधिजुतमरण कियो मैं, तातें जग भरमायो।। (4)
काल अनादि गयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहिं कीनो।
एक बार हू सम्यक्युत मैं, निज आतम नहिं चीनो।।
जो निज पर को ज्ञाय होय तो, मरण समय दुःख काई।
देह विनाशी मैं निजभासी, ज्योतिस्वरूप सदाई।। (5)
विषय कषायनि के वश होकर, देह आपनो जान्यो।

कर मिथ्या सरधान हिये बिच, आतम नाहिं पिछान्यो।।
यों क्लेश हियधार मरणकर, चारों गति भरमायो।
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदे में नहिं लायो।। (6)
अब यह अरज करों प्रभु सुनिये, मरण समय यह माँगो।
रोगजनित पीड़ा मत होवे, अरु कषाय मत जागो।।
ये मुझ मरण समय दुःखदाता, इन हर साता कीजै।
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यामद छीजै।। (7)
यह तन सात कुधात मई है, देखत ही घिन आवै।
चर्म लपेटी ऊपर सोहे, भीतर विष्टा पावै।।
अति दुर्गन्ध अपावनसों यह, मूरख प्रीति बढ़ावै।
देह विनाशी जिय अविनाशी, नित्यस्वरूप कहावै।। (8)
यह तन जीर्ण कुटीसम आतम! यातैं प्रीति न कीजै।
नूतन महल मिले जब भाई, तब यामें क्या छीजै।।
मृत्यु होन से हानि कौन है, याको भय मत लावो।
समता से जो देह तजोगे, तो शुभतन तुम पावो।। (9)
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं।
जीरन तन से देत नयो यह, या सम काहू नाहीं।।
ये सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजै।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समता भाव धरीजै।। (10)
जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई।।
राग-द्वेष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई।
अन्त समय में समता धारो, परभव पंथ सहाई।। (11)
कर्म महादुठ वैरी मेरो, ता सेती दुख पावे।
तनपिंजर में बन्द कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावे।।
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दया कर, तन पिंजरा सों काढ़े।। (12)

नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तन को पहिराये।
गन्ध-सुगन्धी अतर लगाये, षट्रस अशन कराये।।
रात दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी।
सो तन मेरे काम न आवे, भूल रह्यो निधि मेरी।। (13)
मृत्युराज को शरन पाय तन, नूतन ऐसो पाऊँ।
जामें सम्यक रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ।।
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाहीं।
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सबही हैं दुखदाई।। (14)
यह सब मोह बढ़ावन हारे, जिय को दुर्गति दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता।।
मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पावो सम्पति तेती।। (15)
चौ-आराधन सहित प्राण तज, तो ये पदवी पाओ।
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुक्ति में जावो।।
मृत्यु कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मँझारे।
ताको पाय क्लेश करो मत, जन्म जवाहर हारे।। (16)
इस तन में क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरन हो है।
तेज कांति बल नित्य घटत है, या सम अथिर सुको है।।
पाँचों इन्द्री शिथिल भई अब, वास शुद्ध नहिं आवै।
तापर भी ममता नहिं छोड़े, समता उर नहिं लावै।। (17)
मृत्युराज उपकारी जिय को, तनसों तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में, पर्‌यो पर्‌यो बिललावै।।
पुद्गल के परमाणु मिलकें, पिण्डरूप तन भासी।
या है मूरत मैं अमूरती, ज्ञानज्योति गुणखासी।। (18)
रोग-शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारे।
मैं तो चेतन व्याधि बिना नित, हैं सो भाव हमारे।।
या तनसों इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बन्यौ है।

खानपान दे याको पोष्यो, अब समभाव ठन्यौ है।। (19)
मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन, यह तन अपनो जान्यो।
इन्द्रीभोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछान्यो।।
तन विनशनतैं नाश जान निज, यह अयान दुखदाई।
कुटुम्ब आदि को अपनो जानो, भूल अनादी छाई।। (20)
अब निजभेद जथारथ समझ्यो, मैं हूँ ज्योति स्वरूपी।
उपजै विनसै सो यह पुद्गल, जान्यो याकों रूपी।।
इष्टानिष्ट जेते सुख-दुःख हैं, सो सब पुद्गल लारे।
मैं जब अपनो रूप विचारों, तब वे दुःख भागे।। (21)
बिना समता तनऽनंत धरे मैं, तिनमें ये दुःख पायौ।
शस्त्र घात तें अनेक बार मर, नाना-योनि भ्रमायौ।।
बार अनंत ही अग्नि माँहिं जर, मूवो सुमति न लायो।
सिंह व्याघ्र अहिनन्तबार मुझ, नाना दुःख दिखायो।। (22)
बिन समाधि ये दुःख लहे मैं, अब उर समता आई।
मृत्युराज को भय नहिं मानो, देवे तन सुखदाई।।
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजै।
जप-तप बिन इस जग के माँही, कोई भी ना सीजै।। (23)
स्वर्ग संपदा तपसों पावै, तपसों कर्म नसावै।
तपही सों शिवकामिनि पति ह्वै, यासों तप चित लावै।।
अब मैं जानी समता बिन मुझ, कोऊ नाहिं सहाई।
मात-पिता सुत बाँधव तिरिया, ये सब हैं दुखदाई।। (24)
मृत्यु समय में मोह करें ये, तातें आरत हो है।
आरततें गति नीची पावे, यों लख मोह तज्यो है।।
और परिग्रह जेते जग में, तिनसों प्रीति न कीजै।
पर भव में ये संग न चालें, नाहक आरत कीजै।। (25)
जे-जे वस्तु लखत हैं ते पर, तिनसों नेह निवारो।
परगति में ये साथ न चालें, ऐसो भाव विचारो।।

जो परभव में संग चले तुझ, तिनसे प्रीतिसु कीजै।
पञ्च पाप तज समता धारो, दान चार विधि दीजै।। (26)
दशलक्षणमय धर्म धरो उर, अनुकम्पा चित लाओ।
षोडशकारण नित्य चिन्तवो, द्वादश भावन भावो।।
चारों परवी प्रोषध कीजे, अशनरात को त्यागो।
समता धर दुरभाव निवारो, संयम सों अनुरागो।। (27)
अन्त समय में ये शुभ भावहिं, होवें आनि सहाई।
स्वर्ग मोक्ष फल तोहि दिखावें, ऋद्धि देहिं अधिकाई।।
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उर में समता लाके।
जा सेती गति चार दूरकर, बसो मोक्षपुर जाके।। (28)
मन थिरता करके तुम चिंतौ, चौ-आराधन भाई।
ये ही तोकों सुख की दाता, और हितू कोउ नाहीं।।
आगैं बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उरधारी।। (29)
तिन में कछुइक नाम कहूँ मैं, सो सुनो भव्य चित लाकै।
भाव सहित वन्दौं मैं तासों, दुर्गति होय न ताकै।।
अरु समता निज उर में आवै, भाव अधीरज जावै।
यों निशदिन जो मुनिवर को, ध्यान हिये विच लावै।। (30)
धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी।
एक श्यालनी जुग बच्चाजुत, पाँव भख्यो दुखकारी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
जो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।। (31)
धन्यधन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतम सों हित लायो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
जो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। (32)
देखो गजमुनि के सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहुबारी।

शीश जले जिमि लकड़ी तिनको, तो भी नाहिं चिंगारी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (33)
सनतकुमार मुनी के तन में, कुष्ट-वेदना व्यापी।
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिंतो गुण आपी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (34)
श्रेणिकसुत गंगा में डूबो, तव जिननाम चितार्‌यो।
धर संल्लेखना परिग्रह छोड़ो, शुद्ध भाव उर धारो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (35)
समन्तभद्र मुनिवर के तन में, क्षुधा-वेदना आई।
तो दुख में मुनि नेक न डिगियो, चिंतो निजगुण भाई।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (36)
ललित घटादिक तीस दोय मुनि, कौशांबी तट जानो।
नदी में मुनि बहकर मूवे, सो दुख उन नाहिं मानो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (37)
धर्मघोष मुनि चम्पानगरी, बाह्य ध्यान धर ठाड़ो।
एक मास की कर मर्यादा, तृषा-दुःख सह गाढ़ो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (38)
श्रीदत्तमुनि को पूर्व जन्म को, वैरी देव सु आके।
विक्रिय कर दुख शीत तनो सो, सह्यो साधु मन लाके।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (39)

वृषभसेन मुनि उष्णशिला पर, ध्यान धरो मन लाई।
सूर्यधाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सहि अधिकाई।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (40)
अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महा-वेदना पाई।
वैरी चंड ने सब तन छेदो, दुःख दीनो अधिकाई।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (41)
विद्युत्चर ने बहु दुख पायो, तो भी धीर न त्यागी।
शुभभावन सों प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (42)
पुत्र चिलाती नामा मुनि को, वैरी ने तन घातो।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण रातो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (43)
दंडक नामा मुनि की देही, बाणन कर अरि भेदी।
ता पर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (44)
अभिनन्दन मुनि आदि पाँच सौ, घानी पेलि जु मारे।।
तो भी श्रीमुनि समताधारी, पूरब कर्म विचारे।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (45)
चाणक-मुनि गोघर के माँहीं, मूँद अगिनि परजालो।
श्रीगुरु उर समभाव धारके, अपनो रूप सम्हालो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।

तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (46)
सात शतक मुनिवर दुःख पायो, हथनापुर में जानो।
बली ब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (47)
लोहमयी आभूषण गढ़ के, ताते कर पहराये।
पाँचों पांडव मुनि के तन में, तो भी नाहिं चिगाये।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्य-महोत्सव भारी।। (48)
और अनेक भये इस जग में, समता रस के स्वादी।
वे ही हमको हों सुखदाता, हर हैं टेव प्रमादी।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, ये आराधन चारों।
ये ही मोकों सुख की दाता, इन्हें सदा उर धारों।। (49)
यों समाधि उर माहीं लावो, अपनो हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठों मद को, ज्योति-स्वरूपी ध्यावो।।
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामान्तर के काजै।
सो भी शकुन विचारे नीके, शुभ के कारण साजै।। (50)
मात-पितादिक सर्व कुटुम्ब मिल, नीके शकुन बनावै।
हल्दी धनिया पुंगी अक्षत, दूध दही फल लावै।।
एक ग्राम के कारण एते, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगति को करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे।। (51)
सर्वकुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावैं सारे।
ये अपशकुन करैं सुन तोकौं, तू यों क्यों न विचारे।।
अब परगति को चलती बिरियाँ, धर्मध्यान उर आनो।
चारों आराधन आराधो, मोह तनों दुःखहानो।। (52)
ह्वै निशल्य तजो सब दुविधा, आतमराम सुध्यावो।
जब परगति को करहु पयानो, परम तत्त्व उर लावो।।

मोहजाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मित्र मृत्यु उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो।। (53)
दोहा-मृत्यु महोत्सव पाठ को, पढ़ो-सुनो बुद्धिमान।
सरधा धर नित सुख लहो, 'सूरचन्द्र' शिवथान।। (54)
पंच उभय नव एक नभ, संवत् सो सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय।। (55)

मोक्ष हेतु स्वदेह क्षय करूँ

(विदेही होने पर ही होता है मोक्ष प्राप्ति)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः पिंजरे के पंछी रे...)

हे! विदेही आत्मा रे!...हो ऽऽऽ तू देह का क्षय कर ऽऽ^2
देह क्षय से मोक्ष वर, जो चैतन्यअमृत घर/(धर)...(स्थाई)
कार्माण शरीर है बीज स्वरूप...जिससे उत्पन्न मन से तन...रे!
रागद्वेष मोह काम क्रोध मद...जिससे होता संसार भ्रमण रे...तू...(1)
बीज क्षय से यथा न अंकुर-वृक्ष...शाखा प्रशाखा से ले फूल फल रे...
तथा देह बीज क्षय से न संभव...संसार भ्रमण जन्म-मृत्यु जरा रोग रे...तू...(2)
देह क्षय से सभी उक्त हो जाते क्षय...चौरासीलक्षयोनियों के सभी दुःख रे...
तेरा-मेरा छोटा-बड़ा भेदभाव...देहाश्रित समस्त द्वन्द्व विभाव रे...तू...(3)
संसारी जीवों के मरण द्वारा भी...न होते देह क्षय सदा सर्वदा...
जिस जिस पर्याय में मरण होता...उस-उस भव का देह भिन्न रे...तू...(4)
किन्तु कार्माण शरीर तो अनादि सम्बन्ध...रहेगा भी अनन्त भविष्यत काल...
कार्माण तन जब तक न होगा क्षय...तब तक न बनोगे विदेही रे...तू...(5)
उक्त कार्य हेतु चाहिए उत्तम देह...उत्तम क्षेत्र काल सहित भाव रे...
समता शान्ति निस्पृह वीतरागता...आत्मविशुद्धि परिणाम रे...तू...(6)
इस हेतु भले उत्तम देह निमित्त...किन्तु देह न तेरा स्वरूप रे...

देह को स्वस्वरूप मानना मिथ्या...स्व को विदेही मानना सत्य रे...तू...(7)
इस से ज्ञान होता सम्यग्ज्ञान...जिससे होता सम्यक् आचरण...
तीनों ही आत्मस्वरूप मोक्षमार्ग...जिसकी पूर्णता से मोक्ष रे...तू...(8)
मोक्ष कहो या विदेही, निर्वाण (कहो)...सभी एक ही शुद्ध-बुद्ध आनन्द...
सच्चिदानन्द सत्यशिव सुन्दर...इसे ही ध्याये 'कनक सूरी' निरन्तर...तू...(9)

ग.पु.कॉ. 13-5-2020 मध्याह्न 12.50

आचार्य कनकनन्दी श्रीसंघ हेतु हम बच्चों की भावी योजना

सृजेता-कुमार वर्ण जैन

(चालः जिंदगी एक सफर...)

कनक गुरु आजीवन कॉलोनी रहो...हमें छोड़कर कहीं मत जाओ...
गुरुवर हैं गुणी...गुरुवर है ज्ञानी 2...(स्थायी)...
आपने छोड़े हैं राग और द्वेष...हर जीव को आप समान माने...
इसलिए हम आपके पास आते...और ज्ञान भरपूर पाते...
आपने बताया की परचिंता छोड़ो...परचिंता करोंगे तो पाप बंधेगा....
इसलिए हम परचिंता छोड़ रहे...आपके पास पढ़ने आ रहे...
आप ने (8000) आठ हजार कविता लिखी...ऐसी कविता कोई न बना पाए...
इसलिए हम भी कविता बनाते...और आप जैसा कवि बनना चाहते...
आप जैसी समता किसी में नहीं...आप जैसा जीनियस कोई नहीं...
ऐसे समताधारी गुरु को...'वर्ण' कवि वन्दन करे...
आपके लिए हम एक भवन बनाएंगे... उस भवन में स्वाध्याय भी होगा...
आहारचर्या व ग्रन्थालय होंगे...हम सब ऐसा भाव भाए...
हित-मित-प्रिय वचन बोलना...ऐसा कनक गुरु ने बताया...
इसलिए हम ऐसे वचन बोले...और सत्य मार्ग पर चले...

ग.पु.कॉलोनी सागवाड़ा, दिनांक-24/3/2020, मध्याह्न-3:05

आध्यात्मिक सच्चा श्रमण V/s श्रमणाभास (अवास्तविक रूप)

आध्यात्मिक सन्त ही विश्वसन्त व भावी भगवन्त

श्रमणाभास व उनके भक्त न बनते भगवन्त

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः इक लड़की को देखा...)

एक साधु को देखा तो ऐसा माना/(जाना), एक श्रद्धा स्वरूप, एक प्रज्ञापुरुष।
एक चारित्र रूप, एक साम्य स्वरूप, एक मोक्ष पथिक, एक तीर्थ स्वरूप।। (1)
भले बाह्य में वे होते देह रूप, श्रद्धा प्रज्ञा में/(से) वे होते मोक्ष भूत।
देह को वे मानते मोक्ष साधक रूप, अतः आहार औषधि लेते तप वर्द्धक।। (2)
शरीर को ही जब वे मानते पर, परिग्रह ग्रहण में कैसे होगें तत्पर।
रागद्वेषमोह को वे मानते शत्रु, उसे संवर्द्धन करने में कैसे होंगे तत्पर।। (3)
बाह्य शत्रु-मित्र से वे होते परे, अन्तरंग शत्रु-मित्र को जानते भले।
अन्तरंग शत्रु को वे करते क्षय, अन्तरंग मित्र (रूपी) गुणों की वृद्धि में तन्मय।। (4)
स्व-आत्म वैभव में वे होते सम्पन्न, बाह्य भौतिक सम्पदा को मानते विपन्न।
जिस से मोही (रागी) स्वार्थी उन्हें न जानते, उन्हें दीन-हीन असमर्थ मानते।। (5)
कुछ रूढ़ीवादी स्वार्थी अन्धभक्त होते, उन से भी धनमान सम्मान चाहते।
धार्मिक आयोजन उनसे कराना चाहते, भीड़ बोली से धन मान चाहते।। (6)
अतः ऐसे साधु उन कार्य में न जाते, ध्यान-अध्ययन प्रमुख साधना करते।
अतः वे मौन एकान्त में रहते, निस्पृह निराड़म्बर आत्म साधना करते।। (7)
जिससे वे अन्धभक्त उन्हें गलत मानते, उन्हें प्रणाम आदर भक्ति नहीं करते।
विधान पंचकल्याण चातुर्मास हेतु, निवेदन के विपरीत/(अनदेखा) बहिष्कार करते।।(8)
तो भी वे आध्यात्मिक सन्त महन्त, इसे स्व गौरव रूप में स्वीकार करते।
इस से उनकी साधना व शान्ति बढ़ती, समता विशुद्धि से आत्मउन्नति होती।। (9)
आदर सत्कार व ख्यातिलाभपूजा, मान सम्मान को व मानते अनात्म काम।
इन सब को मानते अनुकूल उपसर्ग, प्रतिकूल परीषह से भी ये गर्हित।। (10)
उपसर्ग विजयी व अन्तकृत केवली हुए, ख्यातिलाभ के इच्छुक नीचे गये।

पर रंजक व मनोरंजक होते नेता अभिनेता, आत्मरमण करने वाले विश्वनेता।। (11)
ऐसे सन्त ही होते हैं विश्वसन्त, वे ही बनते सर्वज्ञ भगवन्त।
वे ही तरणतारण व जीवन्त तीर्थ/(धर्म), उनका आदर्श मानें 'कनकनन्दी' सन्त।। (12)
सच्चे सन्त के भक्त-शिष्य भले होते कम, किन्तु वे ही होते पुण्यशाली महान्।
वे पाते इहपरलोक में सुख-सम्मान, आत्मतन करते स्वार्थी मोही जन।। (13)

ग.पु.कॉ. 13-5-2020 रात्रि 9.40

(यह कविता मेरे आध्यात्म अनुभवी भक्त शिष्य यशवन्त जैन के कारण बनी।)

दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप की विनय से ये नित्य ही पार्श्वस्थ है। ये गुणधारियों के छिद्र देखने वाले हैं अतः ये वंदनीय नहीं है। दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की विनय से ये नित्यकाल दूर रहते हैं अतः ये वंदनीय नहीं है। क्योंकि ये गुणों से युक्त संयमियों का दोष उद्भावना करते रहते हैं इसलिए इन पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वंदना नहीं करनी चाहिए।

पाँचों पार्श्वस्थ आदि का लक्षण

वसहीसु य पडिवद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई।।

जो वसतिओं में आसक्त है, जो उपकरणों को बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं।

कोहादिकलुसिदप्पा वयुगुणसीलेहि चावि परिहीणो।
संघस्स अयसकारी कुसीलसमणो त्ति णायव्वो।।

जिसने क्रोधादिकों से अपने को कलुषित कर रखा है, व्रतगुण और शीलों से हीन है संघ का अपयश करने वाला है कुशील श्रमण है ऐसा जानना।

वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुलसत्तणेण पडिबद्धो।
राजादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होई।।

वैद्यशास्त्र, मंत्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र में कुशल होने से उनमें आसक्ति रखते हैं अर्थात् हमेशा इन्हीं के प्रयोग में लगे रहते हैं एवं राजा आदिकों की सेवा करते है उनको संसक्त मुनि कहते हैं।

जिणवयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो।
करणालसो भवित्तासेवदि ओसण्णसेवाओ।।

जो जिन वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र रूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तरेह विध क्रियाओं में आलसी हैं, उनको अपसंज्ञक मुनि कहते हैं।

आयारियकुल मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो।
जिणवयणं णिंदत्तो सच्छंदो होइ मिगचारी।।

आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, जिन वचनों की निंदा करते हैं, स्वच्छंद प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं। उपरोक्त अवंदनीयों की तो वंदना करना ही नहीं चाहिए परन्तु वंदनीयों की भी कुछ अवस्था विशेष में वंदना नहीं करना चाहिए। यथा-

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।। (599)

जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेरकर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित हैं उनकी भी कभी इस समय वंदना न करे और यदि आहार कर रहे है अथवा नीहार कर रहे है उस समय भी वंदना न करें।

व्याक्षिप्त-ध्यान आदि से आकुलचित्त है, पीठ फेरकर बैठे हुए है, प्रमत्त-निद्रा या विकथा आदि में लगे हुए हैं, आहार कर रहे हैं या मल-मूत्रादि विसर्जन कर रहे है। संयमी मुनि भी यदि इस प्रकार की स्थिति में हैं तो साधु उस समय उनकी भी वंदना न करें।

यह प्रकरण मुख्यतया साधु के लिए है अतः आहार करते समय श्रावक यदि उन्हें आहार देने आते हैं तो 'नमोस्तु' करके ही आहार देते हैं।

दिगम्बरत्वादि द्रव्य लिंग न होने पर नमस्कार न करे-

द्रव्यलिंग समादाय भावलिंगी भवेन्मुनिः।
विना तेन न वंद्यः स्यान्नाना व्रत धरोऽपिसन्।। (74) नीतिसार

मुनि द्रव्य लिंग को (दिगम्बरत्व नग्रता) धारण कर भावलिंगी होते हैं। यानि उन्हें तीन गुप्ति और पाँच समिति रूप अष्टमातृका को ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि दिगम्बरत्वादि द्रव्य लिंग (वस्त्र त्याग) के बिना अनेक व्रत करने पर भी वंदनीय नहीं है।

लौकिक जन-संसर्ग श्रमण हेतु भी असंयम का कारण

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।

लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।। (268) प्र.सा.

He who has property grasped the interpretation of the sacred text who was pacified the passions and who exceis in austerities, cannot be self-controlled. If he does not abandon company with comman people.

(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्र के अर्थ और पदों को निश्चयपूर्वक जान लिया है, (समिदकसायो) कषायों को शांत कर दिया है (तओधिको चावि) तथा तप करने में भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लोगिगजणसंसग्गं) लौकिक जनों का अर्थात् असंयमियों का भ्रष्टचारित्र साधुओं का संगम (ण जहदि) नहीं त्यागता है। (संजदो ण हवदि) तो वह संयमी नहीं रह सकता है। जिसने अनेक धर्ममय अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों को बताने वाले सूत्र के अर्थ और पदों को अच्छी तरह निर्णय कर के जान लिया है, अन्य जीवों में व पदार्थों में क्रोधादि कषाय को त्याग करने से तथा भीतर परमशांत भाव में परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से कषायों को शांत कर दिया है, तथा अनशन आदि छः बाहरी तपों के बल से व अंतरंग में शुद्धात्मा की भावना के संबंध में औरों से विजय प्राप्त किया है, ऐसा तप करने में जो श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणों से युक्त साधु होने पर भी यदि स्वेच्छाचारी लौकिक जनों का संसर्ग न छोड़े तो वह स्वयं संयम से छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी यदि अनर्गल व स्वेच्छाचारी मनुष्यों की संगति को नहीं छोड़े तो अति परिचय होने से जैसे अग्नि की संगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है, ऐसे वह साधु विकारी हो जाता है।

समीक्षा-परिणत दशा में जीव बाह्य निमित से अधिक परिणमन करता है जैसे-पानी अग्नि के संपर्क में उष्ण हो जाता है एवं फ्रीज में रखने पर बर्फ बन जाता है, उसी प्रकार परिणत दशा वाला जीव कुसंगति से धर्मशील सदाचार से रहित हो जाता है एवं सुसंगति से सज्जन बन जाता है जिसको जो भाता है वह उसकी संगति

करता है। यदि कोई शीतलता चाहता है वह शीतल वस्तु जैसे जल, चंदन, बर्फ आदि की संगति करेगा और जिसे उष्णता चाहिए वह अग्नि, सूर्यकिरण, गरमपानी आदि की संगति करेगा। इसी प्रकार यदि श्रमण होकर भी लौकिक जन की संगति कर रहा है तो वह अंतरंग से लौकिकता (असंयम, विषयभोग) चाह रहा है। इसलिए इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है जो श्रमण होकर भी लौकिक जनों की संगति करता है वह संयमी नहीं है। नीतिकारों ने कुसंगति का फल निम्न प्रकार से कहा है-

पापं वर्धयते चिनोति कुमतिं कीर्त्याङ्गना नश्यति।
धर्म ध्वंसयतेतनोति विपदं सम्पत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्रकुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जन सङ्गतिर्न कुरुते लोकद्वय ध्वंसिनी।। (1)

कुसंगति पाप को बढ़ाती है, कुमति का संचय करती है, कीर्ति रूपी स्त्री नष्ट होती है, धर्म का विध्वंस करती है, विपत्ति को विस्तृत करती है, सम्पत्ति को नष्ट करती है, नीति और विनय का घात करती है, क्रोध उत्पन्न करती है और शान्ति को दूर करती है। इसी प्रकार दोनों लोकों को नष्ट करने वाली दुर्जन की संगति क्या-क्या नहीं करती है?

दुर्जनजन संसर्गात्, साधुजनस्यापि दोषमायाति।
दशमुखकृतापराधे जलनिधिरपि बन्धनं प्राप्तः।। (4)

दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन पुरुष भी दोष को प्राप्त होता है, जैसे रावण के द्वारा अपराध किये जाने पर समुद्र भी बंधन को प्राप्त हुआ।

अणुरप्या सतां सङ्गः सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुण रुपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः।। (6)

दुर्जन का थोड़ा भी संसर्ग विस्तृत सद्गुण को नष्ट कर देता है, जैसे कि तक्र-छाछ के योग से दूध अन्य गुण और अन्य रूप को प्राप्त हो जाता है।

मलिनयति कोटिपात्रं दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं प्रयच्छति दीप ज्वालेव खलमैत्री।। (10)

दुर्जन की मित्रता दीपक की ज्वाला के समान करोड़ो पात्रों को मलिन कर देती है,

गुण (पक्ष में बत्ती) को जलाती है, स्नेह (पक्ष में तेल) को शीघ्र नष्ट करती है और निर्मल पुरुष में मल दोष-प्रदान करती है अर्थात् निर्दोष को सदोष बना देती है।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।। (8) (द.पा.)

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

लौकिक जन की परिभाषा करते हुए आचार्य जयसेन ने कहा है कि जो स्वेच्छाचारी है वह लौकिक जन है अर्थात् जो आगम, नीति, आदर्श, मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वेच्छा से विचार करता है बोलता है, आचरण करता है वह स्वेच्छाचारी हैं ऐसे जो स्वेच्छाचारी होते हैं वे दूसरों के उपदेश को सत्यार्थ मार्ग को भी जानते नहीं है मानते नहीं है और न ही आचरण करते हैं। जैसे प्रबल वेग में बहती हुई नदी के स्रोत में गिरने वाले प्राणियों तथा तटस्थ वृक्ष आदि को भी बहाकर ले जाती है उसी प्रकार स्वेच्छाचारी व्यक्ति दूसरों को भी स्वेच्छासार में प्रवृत्ति कराता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि व्यक्ति अपने परिसर के व्यक्तियों को भी स्वयं के समान बनाना चाहता है। जैसे-जो मद्यपायी होता है उसकी संगति में आने वाले को मद्य पिलाता है तथा जो धूम्र पायी होता है वह अपने मित्रों को धूम्रपान कराता है। इसलिए तो व्यसन सीखने का एक कारण व्यसनी की संगति भी है। अभी प्रायोगिक रूप में देखा जाता है कि क्लब, होस्टल, परिवार, मित्रमंडली, प्रीतिभोज आदि में अधिकांश व्यक्ति जिस आचार, विचार, खान-पान के होते हैं वे दूसरों को भी उसी प्रकार बनाना चाहते हैं। अधिकांश व्यक्ति अशुद्ध खान-पान के होते हैं वे दूसरों को भी अपने समान बनाना चाहते हैं और वह नहीं बनता है तो उसकी कटु आलोचना करते हैं अधिकांश दुर्बल मानसिक, दृढ़ सकल्प हीन व्यक्ति अशुद्ध आचार-विचार वालों के जैसे ही बन जाते हैं। इतना ही नहीं दुर्जन संगति से वादविवाद कलह आदि भी बढ़ता है क्योंकि सबकी विचार धारा अलग-अलग होती है और जब नहीं मिलती तो उसमें टकराव व संघर्ष होता है।

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहि वज्जिज्जो।। (156) (नि.सा.)

नाना प्रकार के जीव हैं नाना प्रकार के कर्म है, और नाना प्रकार की लब्धियां है, इसलिए स्व और पर समय सम्बन्धी वचन विवाद वर्जित करना चाहिए।

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणते।

तह णाणी णाणणिहिं, भुजेइ चइतु परतत्तिं।। (157)

जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर सुजनरूप से गुप्तरूप से उसके फल का अनुभव करता है वैसे ही ज्ञानीजन परजनों के समुदाय को छोड़कर ज्ञाननिधि का अनुभव करता है।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।

भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।। (72) (स.तं)

मनुष्यों से अनेक प्रकार की बातें सुनने को मिलती है उन बातों को सुनने से, आत्मा में हलन-चलन होती है, उससे मन में विविध प्रकार के क्षोभ या चित्त विक्षेप होते हैं। इस कारण से आत्मध्यान करने वाला मुनि अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखना छोड़ दें।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।

मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा में ज्ञापनश्रम।। (58)

मूर्ख बहिरात्मा जीव बिना बतलाये गये आत्मस्वरूप को जिस तरह नहीं जानते हैं, उसी प्रकार बतलाने पर भी आत्म स्वरूप को नहीं जानते इस कारण मूर्ख बहिरात्माओं के लिए मेरा आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझाने का परिश्रम व्यर्थ है।

अभवच्चितविक्षेप एकांते तत्वसंस्थिति।

अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्वं निजात्मनः।। (36)

जिसके चित्त में रागद्वेष आदि का क्षोभ नहीं है तथा हेय तथा उपादेय तत्व विचार में जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा आत्मध्यानी मुनि अकेले निर्जन स्थान में आलस्य तथा निद्रा त्यागकर सावधानी से अपने आत्मा में शुद्ध स्वरूप के चिन्तन का अभ्यास करें।

चरञ्जे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।

एक चरियं दल्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता।। (2) (धम्म.)

विचरण करते यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने समान व्यक्ति को न पाये, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे। मूर्ख से मित्रता अच्छी नहीं।

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरूपासति।

न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा।। (5)

यदि मूर्ख जीवन भर पण्डित के साथ रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नहीं जान सकता है, जैसे कि कछली दाल (सूप) के रस को।

लौकिक जन श्रमण का लक्षण

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुदो चावि।। (269) प्र.सा.

If a monk after become a Nirgantha ascetic, Still dabbles in worldy profession (like palmistry etc) he is called a wordly man (or a commoner), even though he is endowed (externally) with selfcontrol and austerties.

जिनसे वस्त्रादि परिग्रह को त्याग कर मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने वाले भाव जो अपनी प्रसिद्धि, बढ़ाई व लाभ के बढ़ाने के कारण ज्योतिष्कर्म, मंत्र, यंत्र वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के उपायरूप व्यापारों के द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तप को धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है।

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थप्रव्रज्यश्लत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लीथीकृतशुद्ध चेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याधूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते। (तत्त्वप्रदीपिका)

परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रवज्या की प्रतिज्ञा लेकर जो जीव संयम तप के भार को वहन करता है वह भी यदि मोह की बहुलता के कारण शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार में चक्कर खाने से लौकिक कार्यों को करता है तो लौकिक कहा जाता है।

समीक्षा-कुन्द-कुन्द देव ने इस गाथा में श्रमणाभास या लौकिक श्रमण का वर्णन किया है। उन्होंने केवल गृह व्यापार में लिप्तजनों को ही लौकिक नहीं कहा परन्तु निर्ग्रन्थ होकर भी जो आत्म कल्याण को छोड़कर बाह्य कार्यों में रत रहता है उस श्रमण को भी लौकिक कहा है। श्रमण का अर्थ है जो आत्मा के लिए रागद्वेष आदि भावों से रहित होकर सतत श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं, इन्हें साधु कहते हैं। कहा भी है-

मानमायामदामर्ष क्षपणात्क्षपणः स्मृतः।

यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणा बुधाः (402) य.ति. चम्पू.

गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु क्षपण कहा गया है और अनेक स्थानों में इर्या समिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता इसलिए विद्वान उसे श्रमण जानते हैं।

निर्ममोनिरहंकारो निर्माणमदमत्सरः।

निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः।। (409)

जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है जो मान-मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय है और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि युक्त (राग द्वेष शून्य) है अर्थात् जो अपनी निन्दा करने वाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करने वाले मित्र से राग नहीं करता अतः उसे समधी कहते हैं।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। (10) र.श्रा.

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान ध्यान तथा तप रूपी रत्नों से सहित हो वह गुरु प्रशंसनीय है।

जीव अनादिकाल से स्वभाव स्व से बहिर्मुख होकर विभाव में रच रहा है, पच रहा है, रमण कर रहा है। इसे ही संसार/भवभ्रमण/पर परिणति कहते हैं। इस समय में जो परिणति होती है वह स्वरूप से विपरीत होती है। इसलिए मोक्ष की गति इससे विपरीत है। इसलिए मुमुक्षु की गति/प्रवृत्ति सांसारिक लोगों की गति से विपरीत होना स्वभाविक है।

अनुसरता पदमेतत् करंविताचार नित्यानिराभिमुखा।

एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः।। (16) (पु.सि.)

इस पद को अनुसरन करने वाले अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुए मुनियों की पाप मिश्रित आचार से सदा पराङ्मुख (सवर्था त्यागरूप लोक) को अतिक्रम किए हुए वृत्ति होती है। ऐसे महाश्रमणों की हर क्रिया हर आचार-विचार स्व आत्मकल्याण को लक्ष्य करके होते हैं वे कोई भी कार्य इसके विपरीत न करते हैं, न करवाते हैं, न अनुमोदन करते हैं।

चउविहा खलु आयार समाही भवइ तं जहा (1) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठज्जा (2) नो परलोगट्ठयाए आयार महिट्ठज्जा (3) नो कित्तिवण्णसदद्सिलोट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (4) नन्नत्थ अरहंतेहिं हेऊहि आयारमहिट्ठज्जा। (द.वै.)

आचार समाधि के चार प्रकार है, जैसे (1) इहलोक के निमित्त आचार के पालन नहीं करना चाहिए (2) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (3) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (4) परन्तु उपरोक्त भावना से रहित जो अन्य किसी भी लौकिक भावना से प्रेरित होकर धर्म करते हैं उनका धर्म धर्माभास है एवं वह श्रमण भी श्रमणाभास है। पंचमकाल में कुछ व्यक्ति विशेष लौकिक प्रयोजन से धर्म करते हैं। यथा-

भयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथैव च।

पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय से (2) अपनी योग्यता को प्रदर्शन करने के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे। जो मुनि लिंग को धारण करके भी सिद्धि को छोड़कर प्रसिद्धि में लग जाते हैं, प्रभावना के नाम पर परभावना में रत रहते हैं, स्वनिर्माण को छोड़कर भौतिक निर्माण (धर्मशाला, संस्था) में लगे रहते हैं, निहित स्वार्थ के लिए चमत्कार के प्रदर्शन के लिए भौतिक उपार्जन के लिए लोक प्रसिद्धि लोकसंग्रह के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र में लगे रहते हैं-वे भी श्रमणाभास है। ज्ञानार्णव में ध्यान के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है-

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः।। (46)
अनुद्धृतमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने।। (47)

जो लोगों को रंजित करने वाला पापरूप कार्यों से गुरुता को प्राप्त हैं, नहीं लीन हुआ है आत्मा में चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रिय के विषयों की गहनता में लीन हैं, जिनने मन के शल्य को दूर नहीं किया है तथा अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है और अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है ऐसे पुरुष ध्यान साधना में निषेधित है। क्योंकि इनमें ध्यान की योग्यता नहीं है।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्ग मोहनिद्रास्तचेतनाः।। (48)
अनुधुक्तास्तपः कर्तुंविषयग्रासलालसाः।
ससङ्गा शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः।। (49)
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिः स्पृहाः।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं।। (50)

जो हास्य, कौतुहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृत्ति के शास्त्रों का उपदेश करने वाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोग से जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) है, विकारयुक्त है और मोहरूप निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट हो गयी है, जो तप करने को उद्यमी नहीं है, विषयों से जिनकी चेतना नष्ट हो गई है, विषयों की जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित है, वस्तु का निर्णय जिनको नहीं है तथा जो भयभीत है, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष दैव के द्वारा ठगे गये हैं फिर ऐसे पुरुषों से ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषों ने अपने हित को तृण के समान समझ लिया है तथा मुक्ति रूपी स्त्री के संगम करने में निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यान के अन्वेषण करने को क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

पापभिचारकर्म्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।
यै क्रियन्तेऽधर्ममोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं।। (51)

जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिक में लंपट है, मोह से पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिए आचार्य महाराज खेद सहित कहते हैं कि हाय! हाय! अपने जीवन का नाश और अपने को संसारसमुद्र में डूबा दिया। वे पापाभिचार कर्म कौन-कौन से है, सो कहते हैं-

वश्याकर्षणविद्धेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। (52)
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।। (53)
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिस्रंशभूतभोगीन्द्रसाधनं।। (54)
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैदृष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।। (55)

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि, विष का स्तंभन रसकर्म रसायन, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधना, सेना का स्तंभन करना, जीतहार का विधान बताना, विद्या के छेदने का विधान साधना, बेधना, ज्योतिष का ज्ञान वैद्यकविद्यासाधन, यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवचन (मृत्यु जीतने का मंत्र साधना) पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश वा जल में विहार करने की विद्या) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखने के अञ्जन की साधना, शस्त्रादिक की साधना, भूतसाधन सर्पसाधन इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर दृष्ट चेष्टा करने वाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक के कार्य को भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः।। (56)
निस्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे।। (57)

कई निर्दय निर्लज्ज साधु पर से भी अतिशय निंदा करने योग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बना कर उससे धनोपार्जन करते हैं तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीविका का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।
मुक्त्यङ्ग लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनं।।

जो गृहस्थावस्था में हैं, उनको तो ऐसी अविद्या का आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्ति के अंगस्वरूप मुनि के भेष को धारण करके लोक का ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतुम्।
हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य सुहितं बुधैः।।

मनुष्यभव पाकर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानों को अपना हित विचार करके अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिए।

अहोविभ्रान्तचित्तानां पश्यपुंसां विचेष्टितम्।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम्।।

आचार्य महाराज कहते हैं कि देखो भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपन में भी पाखण्ड प्रपंच करके जन्म निष्फल कर देती है।

लिंग पाहुड में तो कुंदाकुंदाचार्य ने भ्रष्ट श्रमण को तिर्यंचादि शब्द से संबोधन करके कटु प्रहार किया है। यथा-

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं कि ते लिंगेण कायव्वो।। (2)

धर्म से ही लिंग होता है। लिंगमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है इसलिये भाव को धर्म जानो। भाव-रहित लिंग से तुझे क्या कार्य है?

जो पावमोहिदमदी लिङ्ग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं लिगं णासेदि लिंगीणं।। (3)

जिसकी बुद्धिपाप से मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देव के लिंग को नग्न दिगम्बर वेष को ग्रहण कर लिंगी के यथार्थ भाव की हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेष को नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।

कलहं वादं जूवा णिच्चं वहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। (6)

जो पुरुष मुनि लिंग का धारक होकर भी निरंतर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वाद-विवाद करता है अथवा जुआ खेलता है। वह चूँकि मुनि लिंग का धारक होकर भी निरंतर ऐसे कुकृत्य करता है अतः पापी है, और नरक जाता है।

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवाघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। (9)

जो मुनि का लिंग रखकर भी दूसरों के विवाह संबंध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात कराता है वह चूँकि मुनि लिंग के द्वारा इस कुकृत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

कंदप्पा इय वट्टइ कारमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। (12)

जो पुरुष मुनि वेषी होकर भी कंदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस संबंधी लोलुपता को धारण करता है वह मायाचारी मुनिलिंग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

धावदि पिंडणिमित्त कलहं काऊणः भुज्जेद पिंडं।
अवरूपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। (13)

जो आहार के निमित्त दौड़ता है कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरों से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

गिण्हदिं अदत्तदाणपरणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंग धारंतो चोरेण व होइ सो समणो।। (14)

जो मनुष्य जिन लिंग को धारण करता हुआ भी बिना दी गई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगाकर दूसरे की निंदा करता है वह चोर के समान है साधु नहीं है।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।

आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। (18)

जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यंच है साधु नहीं है।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।

बहुलं पि जाणमाणो भावविणठो ण सो सवणो।। (19)

हे मुनिवर! ऐसी खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि यद्यपि संयमी जनों के मध्य में रहता है और बहुत ज्ञानवान भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है। अर्थात् भावलिंग से रहित है यथार्थ मुनि नहीं है।

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वोसट्ठो।

पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। (20)

जो स्त्रियों में विश्वास उपजा कर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिंग से शून्य वह परमार्थ मुनि नहीं है।

असंत भावनमिच्छेण्य पूरक्खारञ्च भिक्खुसु।

आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च।

ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।

ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।

इति बालस्य सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति। (15) धम्म.

भिक्षुओं के बीच अगुआ होना, मठों का अधिपति बनना, गृहस्थ परिवारों में पूजित होना, गृही और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया माने सभी प्रकार के काम में वे मेरे ही अधीन रहे ऐसा मूर्ख का संकल्प होता है जिससे उसकी इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं।

(अञ्ञाहि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी)।

एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।

सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये।। (16)

लाभ का रास्ता दूसरा है और निर्वाण को ले जाने वाला दूसरा-इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनंदन न करे और विवेक (एकांतवास) को बढ़ावे।

न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा।

साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो।। (7)

ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ पुरुष वक्ता या रूपवान् होने मात्र से साधु-रूप नहीं होता।

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।

इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति।।

जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है वह पण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, इच्छा-लाभ से भरा (पुरुष) क्या श्रमण होगा?

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति।

सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयाय उपकड्ढति।। (6) (धम्मपद)

जैसे ठीक से न पकड़ने से कुश हाथ को ही छेदता है इसी प्रकार श्रामण्य ठीक से न ग्रहण करने पर नरक में ले जाता है।

मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।

महावराहो व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो।। (6) (धम्मपद)

आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला, खिला-पिलाकर पुष्ट किये मोटे सूअर की तरह मंद (अभागा) बार-बार गर्भ में पड़ता है।

सत्संग का फल दुःखक्षय

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।

अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।। (270) प्र.सा.

Therefore, a Sramana if he desires for release from misery, should always live with an ascetic of equal merits of possessing more merits.

आगे यह उपदेश करते हैं कि सदा ही उत्तम संसर्ग करना योग्य है-(तम्हा) इसलिए (जदि) यदि (समणो) साधु (दुक्ख परिमोक्खंइच्छदि) दुःखों से छूटना चाहता है तो (गुणादो समं) गुणों में समान (वा गुणेहिं अहियं समणं) वा गुणों से अधिक साधु के पास ठहरकर (णिच्चं) सदा (तम्हि) उसी ही साधु की (अधिवसदु) संगति करे क्योंकि हीन साधु की संगति से अपने गुणों की हानि होती है। इसीलिये जो

साधु अपने आत्मा से उत्पन्न सुख से विलक्षण नारक आदि से दुःखों से मुक्त चाहता है तो उसको योग्य है कि वह हमेशा ऐसे साधु की संगति करे जो निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के साधन में अपने बराबर हो या मूल व उत्तर गुणों में अपने से अधिक हो जैसे-अग्नि की संगति से जल के शीतल गुण का नाश हो जाता है तैसे ही व्यावहारिक या लौकिक जन की संगति से संयमी का संयम गुण नाश हो जाता है, ऐसा जानकर तपोधन को अपने समान या अपने से अधिक गुणधारी तपोधन का ही आश्रय करना चाहिए। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमय गुणों की रक्षा अपने समान गुणधारी की संगति से इस तरह होती है जैसे शीतल पात्र में रखने से शीतल जल की रक्षा होती है और उसी जल में कपूर, शक्कर आदि ठंडे पदार्थ और डाल दिये जावे तो उस जल के शीतलपने की वृद्धि हो जाती है उसी तरह निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय रूप गुणों में जों अपने से अधिक है उनकी संगति से साधु के गुणों की वृद्धि होती है ऐसा इस गाथा का अभिप्राय है।

यतः परिणामस्वभात्वेनात्मनः सप्तार्चिः संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दुःख मोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरक कोणनिहितशीततोयवत्समगण-संगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिन शर्करा संपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धि! (तत्वप्रदीपिका)

क्योंकि आत्मा परिणाम स्वभाव वाला है। इसलिए लौकिक संग से विकार अवश्यंभावी होने से संयत भी असंयत हो जाता है। जैसे अग्नि के संग से पानी उष्ण हो जाता है इसलिए दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमण को (1) समान गुण वाले श्रमण के साथ अथवा (2) अधिक गुण वाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिए (1) जैसे शीतल घर के कोने में रखे हुए शीतल पानी के शीतल गुण की रक्षा होती है उसी प्रकार समान गुण वाले की संगति में उस श्रमण गुण की रक्षा होती है और (2) जैसे अधिक शीतल हिम (बर्फ) के संपर्क में रहने से शीतल पानी के शीतल गुण में वृद्धि होती है, उसी प्रकार अधिक गुण वाले के संग से उस श्रमण के गुण वृद्धि होती है।

समीक्षा-प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। परिणमन के लिए अंतरंग एवं बहिरंग कारण चाहिए। अंतरंग कारण स्वयं द्रव्य होता है। बहिरंग कारण बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होता है। द्रव्य यदि शुद्ध है तो परिणमन शुद्ध होगा द्रव्य यदि अशुद्ध है तो परिणमन अशुद्ध होगा। बिना बाह्य एवं अंतरंग कारण द्रव्य में परिवर्तन नहीं हो सकता है। संसार के प्रत्येक कार्य भले बंध हो या मोक्ष हो-अच्छे हो या बुरे हो दोनों कारण के बिना नहीं हो सकते है।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथामोक्षविधिश्च पुंसां तनोभिवन्द्यास्त्वमृषिर्बुधानाम्।। स्व.स्तो.

हे भगवन्! घट आदि कार्यों में यह जो बाह्य और अभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है वह आपके मत में जीवादि द्रव्यगत स्वभाव है अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं किन्तु मोक्षाभिलाषी पुरुषों के मोक्ष की विधि भी घटित नहीं होती है इसलिए परम ऋद्धियों से युक्त आप गणधरादि बुद्धजनों के वंदनीय है।

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुम्भो।। (956) (मू.चा.)

संसर्ग से बोधि बढ़ती है तथा पुनः नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगंध से युक्त हो जाता है। सदाचार के संपर्क से सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि बढ़ जाती है। उसी प्रकार पुनः कुत्सित आचार वाले के संपर्क से नष्ट भी हो जाती है।

जैसे कमल आदि के संसर्ग से घड़े का जल सुगंधमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि के संयोग से उष्णा तथा विरस हो जाता है। इसलिए नीतिकारों ने सत्संगति करने के लिए प्रेरित किया है। यथा-

यदि सत्संगतिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ सज्ज्ञान गोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि।।

यदि तुम सज्जन पुरुषों के सहवास में रहोगे उनकी संगति में लग्न होवेंगे तो अवश्य ही ज्ञान की गोष्ठी में पड़ोगे अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त करोगे और भी नीतिकारों ने कहा भी है-

संत्संसर्ग सुधास्यन्दैः पुँसां हृदा पवित्रिते।

ज्ञान लक्ष्मीः पंद धत्ते विवेकमुदिता सता।। (1)

सत्संगति रूपी अमृत के प्रवाह से पवित्रित मनुष्यों के हृदय में ज्ञान लक्ष्मी विवेक से प्रसन्न होती हुई पैर रखती है।

शीतांशुरश्मि संपर्काद् विसर्पति यथाम्बुधिः।

तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञां पयोनिधिः।। (2)

चन्द्र किरणों से संपर्क से जिस प्रकार समुद्र बढ़ता है उसी प्रकार सदाचारी मुनष्यों की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञा रूपी समुद्र बढ़ता है।

उत्तम जन सङ्गत्या पुमानिहाप्नोति गौरवं सततम्।

सुरभि प्रसूनमिलित्तम तिलतैल सुरभिता याति।। (9)

यहाँ उत्तम जनों की संगति से मनुष्य निरंतर गौरव को प्राप्त होता है। जैसे सुगंधित फूल से मिला हुआ तेल सुगंध को प्राप्त हो जाता है।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं।

मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति।।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति।

सत्सङ्गति कथय किं न करोति पुँसाम्।। (12)

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है वचन में सत्य का सिंचन करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दिशाओं में कीर्ति विस्तृत करती है। कहो, सत्संगति पुरुषों का क्या नहीं करती है?

नु पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति न चन्दनं तगर मल्लिका वा।

सतां च गन्धः प्रतिवातमेति सर्वा दिशः सत्पुरुष प्रवाति।। (11) धम्म.

पुष्प, चंदन, तगर या चमेली किसी की भी सुगंध उल्टी-हवा नहीं जाती किन्तु सज्जनों की सुगंध उल्टी हवा भी जाती है, सत्पुरुष सभी दिशाओं में सुगंध बहाता है।

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरूपासति।

खिप्पं धम्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा।। (6)

यदि विज्ञ पुरुष एक मुहूर्त भी पंडित की सेवा में रहे तो वह शीघ्र ही धर्म को जान लेता है जैसे कि जिह्वा दाल के रस को।

मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।

एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।

सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं।। (7)

जो महीने-महीने सौ वर्ष तक हजार (मुद्रा) से यजन करे और यदि परिशुद्ध मन वाले एक (पुरुष) को मुहूर्तभर भी पूजे तो सौ वर्ष के हवन से वह पूजा ही श्रेष्ठ है।

अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धाचायिनो।

चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं।। (10)

जो अभिवादनशील है। जो सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं-(1) आयु (2) वर्ण (3) सुख (4) बल।

साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।

अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया।। (11)

आर्यों का दर्शन सुंदर है उनके साथ निवास सदा सुखदायक होता है, मूढों के दर्शन न होने से मनुष्य सदा सुखी रहता है।

धीरञ्च पञ्ञञ्च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।

तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा।। (12)

वैसे धीर, ज्ञानी बहुश्रुत, शीलवान, व्रत सम्पन्न, आर्य तथा बुद्धिमान, पुरुष का अनुगमन उसी भाँति करे जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-पथ का।

सचे लभेय निपक सहायं सदि चरं साधु विहारिधीरं।

अभिभुयय सब्बानि परिस्सयानि चरेययं तेनत्तमनो सतीमा।। (9)

यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पंडित मिल जाये, तो सभी विघ्नों को दूर कर उसके साथ स्मृतिमान् और प्रसन्न होकर विहार करे।

आहार मिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।

निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी।। (4) (उ.आ.)

अगर श्रमण तपस्वी समाधि की आकांक्षा रखता है तो वह परिमित और एषणीय आहार की इच्छा को करे, तत्वार्थों को जानने में निपुण बुद्धि वाला साथी खोजे तथा विवेक के योग्य एकांत घर में निवास करे। तुलसीदास ने भी संत समागम को दुर्लभ बताया है-

संतसमागम हरिभजन तुलसी दुर्लभ दोय।
सुतदारा अरू संपत्ति पापी के भी होय।
क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णव तरणि नौका।।

विनयी पुरुष की कथा

गुरु विनय से विद्यावृद्धि तो अविनय से विद्याहानि

वत्सदेश में सुप्रसिद्ध कौशाम्बी के राजा धनसेन अजैन धर्म के माननेवाले थे। उनकी रानी, धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी। उसने श्रावकों के व्रत ले रक्खे थे। यहाँ सुप्रतिष्ठ नाम का एक अजैन साधु रहता था। राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन बैठाकर भोजन कराते थे। इसके पास एक जलस्तंभिनी नाम की विद्या थी। उसके यह बीच यमुना में खड़ा रहकर ईश्वराधना किया करता था, पर डूबता न था। इसके ऐसे प्रभाव को देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे। सो ठीक ही है मूर्खो को ऐसी मूर्खता की क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती है।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में बसे हुए रथनूपुर के राजा विद्युत्प्रभ तो जैनी थे, श्रावकों के व्रतों के पालनेवाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा अजैन धर्म को माननेवाली थी। सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृति की सुन्दरता देखते और अपने मन को बहलाते कौशाम्बी की ओर आ गये। नदी-किनारे पहुँच कर इन्होंने देखा कि एक साधु बीच यमुना में खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है। विद्युत्प्रभने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है। विद्युत्प्रभने रानी से कहा-अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ। इसके बाद ये दोनों चाण्डाल का वेष बना ऊपर किनारे की ओर गये और मरे ढोरों का चमड़ा नदी में धोने लगे। अपने इस निन्द्यकर्म द्वारा इन्होंने साधु को अपवित्र कर दिया। उस साधु को यह बुरा लगा। सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपर की ओर चला गया। वहाँ उसने फिर नहाया धोया। सच है मूर्खता के वश लोग कौन काम नहीं करते। साधु की यह मूर्खता देखकर ये भी फिर ओर आगे जाकर चमड़ा धोने लगे। इनकी बार-बार यह शैतानी देखकर साधु को बड़ा गुस्सा आया। तब वह और आगे चला गया। इसके पीछे हो ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे। गर्ज यह कि इन्होंने

उस साधु को बहुत ही कष्ट दिया। तब हार खाकर बेचारे को अपना जप-तप, नाम-धन ही छोड़ देना पड़ा। इसके बाद उस साधु को इन्होंने अपनी विद्या के बल से वन में एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर उस पर झूलना आदि अनेक अचम्भे डालनेवाली बातें बतलाई। उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ। वह मन में सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डालों के पास है ऐसी तो अच्छे-अच्छे विद्याधरों या देवों के पास भी न होगी। यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता। अस्तु, देखें, इनके पास जाकर मैं कहूँकि ये अपनी विद्या मुझे भी दे दें। इसके बाद वह इनके पास आया और उनसे बोला-आप लोग कहाँ से आ रहे हैं? आपके पास तो लोगों को चकित करनेवाली बड़ी-बड़ी करामातें हैं ! आपका यह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्तर में विद्युत्प्रभ विद्याधरने कहा-योगीजी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ। मैं तो अपने गुरु महाराज के दर्शन के लिए यहाँ आया हुआ था। गुरुजी ने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसी के प्रभाव से यह सब कुछ मैं करता हूँ। अब तो साधुजी के मुँह में भी विद्यालाभ के लिए पानी आ गया। उन्होंने तब उस चाण्डाल रूपधारी विद्याधर से कहा-तो क्या कृपा करके आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ। उत्तर में विद्याधर ने कहा-भाई, विद्या के देने में तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेदवेदांग के पढ़े हुए एक उत्तम कुल के मनुष्य, तब आपका मेरा गुरु-शिष्य भाव नहीं बन सकता। और ऐसी हालत में आप से मेरा विनय भी न हो सकेगा और बिना विनय के विद्या आ नहीं सकती। हाँ यदि आप स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पावों में पड़कर बड़ी भक्ति के साथ यह-कहें कि प्रभो, आप हीकी चरणकृपा से मैं जीता हूँ ! तब तो मैं अपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध हो सकती है। बिना ऐसे किये सिद्ध हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है। उसने यह सब बातें स्वीकार कर लीं। तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया।

इधर सुप्रतिष्ठ साधु को जैसे ही विद्या सिद्ध हुई, उसने उन सब लीलाओं को करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधरने किया था। सब बातें वैसी ही हुई देखकर

सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध हो गई। इसके बाद वह भोजन के लिए राजमहल आया। उसे देर से आया हुआ देखकर राजाने पूछा-भगवन्, आज आप को बड़ी देर लगी? मैं बड़ी देर से आपका रास्ता देख रहा हूँ। उत्तर में सुप्रतिष्ठ ने मायाचारी से झूठ-मूठ ही कह दिया कि राजन्, आज मेरी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आये थे। ये बड़ी भक्ति से मेरी पूजा करके अभी गये हैं। यही कारण मुझे देरी लग जाने का है। और राजन् एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाश में ही चलने-फिरने लग गया। सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही में यह सब कौतुक देखने की उसकी मंशा हुई। उसने तब सुप्रतिष्ठ से कहा-अच्छा तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए। क्योंकि बहुत देर हो चुकी है। आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइगा। सुप्रतिष्ठ 'अच्छी बात है' कहकर भोजन के लिए चला आया।

दूसरे दिन सबेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी सुप्रतिष्ठ साधु के मठ में उपस्थित हुए। दर्शकों का भी ठाठ लग गया। सबकी आँखें और मन साधु की ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें। सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामात बतलाने को आरंभ करनेवाला ही था कि इतने में वह विद्युत्प्रभ विद्याधार और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेष में वहीं आ धमके। सुप्रतिष्ठ के देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गये। ऐसे समय उनके आ जाने से इसे उन पर बड़ी घृणा हुई। उसने मन ही मन घृणा के साथ कहा-ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये! उसका यह कहना था कि उसकी विद्या नष्ट हो गई। वह राजा वगैरह को अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने 'ऐसा एक साथ क्यों हुआ' इसका सब कारण सुप्रतिष्ठ से पूछा। झख मारकर फिर उसे सब बातें राजा से कह देनी पड़ीं। सुनकर राजा ने उन चाण्डालों को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया। राजा की यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजा को दे दी। राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नता से अपने महल लौट गया। सो ठीक ही है विद्या का लाभ सभी को सुख देनेवाला होता है।

राजा की भी परीक्षा का समय आया। विद्याप्राप्ति के कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबार में सिंहासन पर बैठा हुआ था। राजसभा सब अमीर-

उमरावों से ठसा-ठस भरी हुई थी। इसी समय राजगुरु चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजा को विद्या दी थी। राजा उसे देखते ही बड़ी भक्ति से सिंहासन पर से उठा और उसके सत्कार के लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा-प्रभो, आप हीके चरणों की कृपा से मैं जीता हूँ। राजा की ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ। उसने तब अपना खास रूप प्रगट किया और राजा को और भी कई विद्याएँ देकर वह अपने घर चला गया। सच है, गुरुओं के विनय से लोगों को सभी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

इस आश्चर्य को देखकर धनसेन, विद्युद्वेगा तथा और भी बहुत से लोगों ने श्रावक-व्रत स्वीकार किये। विनय का इस प्रकार फल देखकर अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे गुरुओं का विनय, भक्ति निर्मल भावों से करें।

जो गुरुभक्ति क्षणमात्र में कठिन से कठिन काम को पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओं की भूषण बने। मैं उन गुरुओं को नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्र से स्वयं तैरकर पार होते हैं और साथ ही और-और भव्यजनों को पार करते हैं।

जिनके चरणों की पूजा देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े महापुरुष करते हैं उन जिन भगवान् का, उनके रचे पवित्र शास्त्रों का और उनके बताये मार्ग पर चलनेवाले मुनिराजों का जो हृदय से विनय करते हैं, उनकी भक्ति करते हैं उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान-आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं। अर्थात् विनय के फल से उन्हें सब गुण होते हैं।

(आराधना कथाकोश)

सच्चा श्रावक योग्य कर्तव्य व अकर्तव्य

(नैतिक व आध्यात्मिक गुण युक्त श्रावक अन्यथा श्रावकाभास अवास्तविक श्रावक)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल:1.इक लड़की को देखा... 2.क्या मिलिए...)

एक श्रावक को जाना तो ऐसा माना, एक भक्ति स्वरूप, एक स्वयं सेवक।
एक दयादान सेवा परोपकार युक्त, देवशास्त्र गुरु श्रद्धान ज्ञान युक्त।। (1)

आत्म कल्याण हेतु जो धर्म युक्त, स्वयं को जो बनाना चाहे मोक्षभूत,
आत्म विश्वास जिस का दृढ़ युक्त, स्वयं को जो न माने देह स्वरूप।। (2)
फैसन-व्यसन व दंभ से मुक्त, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ युक्त,
अष्टअंग व अष्टगुणों से समन्वित, संवेग वैराग्य आस्तिक्य सौम्य युक्त।। (3)
अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार मुक्त, मिलावट शोषण जमाखोरी मुक्त।
मद्यमाँस तम्बाखू सेवन रहित, उत्पादन से ले क्रय-विक्रय से मुक्त।। (4)
न्याय से ही जो उपार्जित करते धन, मर्यादित रूप से करते जीवन यापन।
तथापि गृहस्थ काम बन्धता पाप, उसे दूर करने हेतु करते शक्ति से दान।। (5)
दिखावा आडम्बरों से रहित करते धर्म, ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व शून्य।
आहार औषधि अभयज्ञानदान युक्त, चन्दा चिट्टा बोली से रहित दान।। (6)
निस्पृही वीतरागी ज्ञानी-ध्यानी सन्त, उन्हें आदर्श मानते कामना रिक्त।
संकीर्णपंथमत जाति पूजा पाठ रिक्त, उक्त आदर्श साधुओं की सेवा रत।। (7)
त्रेपन क्रिया व चौतीस गुण युक्त, शास्त्र अध्ययन करे सद्गुरु समीप।
उदार पावन अनेकान्त सिद्धान्त युक्त, ज्ञान वैराग्य समता शान्ति वर्द्धक।। (8)
श्रद्धा विवेक क्रिया युक्त 'श्रावक', धर्म श्रवण युक्त होता 'श्रावक'।
श्रमण बनने की भावना युक्त श्रावक, ग्यारह प्रतिमा तक होते श्रावक।। (9)
दुःख क्षय, कर्मक्षय, बोधिलाभ हेतु, सुगति गमन, समाधिमरण हेतु।
जिनगुण सम्पत्ति हेतु सदा यत्नशील, संसार शरीर भोग निदान से दूर।। (10)
ऐसे श्रावक पाते स्वर्ग से मोक्ष तक, श्रावक हो सकते हैं मानव पशु तक।
नैतिक आध्यात्मिक गुणयुक्त श्रावक, धर्मचक्र के दो चक्र साधु-श्रावक।। (11)
श्रावक धर्म से परे होता श्रमणधर्म, ज्ञान-ध्यान प्रमुख है श्रमणधर्म,
ज्ञान-ध्यान साधना में सहयोगी श्रमण, साधु से न करवाये गृहस्थ धर्म।। (12)
मन्दिर मूर्ति निर्माण श्रावक धर्म, साधु का परमलक्ष्य परिनिर्वाण।
परिनिर्वाण का ज्ञान प्राप्त करे श्रावक, ऐसा श्रावक ही सच्चा माने 'कनक'।। (13)

ग.पु.कॉ. दि. 14-05-2020, मध्याह्न 1.29

(यह कविता ब्र. आशादेवी के भाव-व्यवहार अनुरूप है।)

''वन्देतद्गुणलब्धये'' हेतु देवदर्शन

(जिनदर्शन निजदर्शन हेतु; देव प्रतिमा स्थापना निक्षेप से भगवान् किन्तु साक्षात् भगवान् के अनन्त गुण मूर्ति में असंभव)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः1.इक लड़की को देखा...)

देव/(मूर्ति) दर्शन किया तो ऐसा माना, साक्षात् भगवान् का दर्शन किया।
भले मूर्ति न होती साक्षात् भगवान्, किन्तु स्थापना निक्षेप से माना भगवान्।। (1)
मूर्ति में भगवान् की कल्पना होती, भावना से भगवान् की कल्पना होती।
भावना के अनुसार मिलता फल, भावना भवनाशीनी भावनां भववर्द्धनी।। (2)
मूर्ति में भगवान् की कल्पना होती, वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी की होती।
सौम्यनासाग्रदृष्टि से आत्मदृष्टि मिली, परिग्रह रिक्त से वीतरागी दृष्टि मिली।। (3)
अस्त्र रहित से अहिंसा की मिली शिक्षा, हाथ पर हाथ से कृत्यकृत्य पना।
पत्नी रहित होने से ब्रह्मचर्य जाना, अष्ट प्रातिहार्य से अतिशय जाना।। (4)
देवदर्शन से स्वआत्मदर्शन होता, स्वभगवत् स्वरूप का ज्ञान होता।
स्वरूवरूप प्राप्ति की भावना होती, भावना अनुसार क्रियाएँ होती।। (5)
द्रव्यदृष्टि से हम दोनों जीवद्रव्य, इस दृष्टि से दोनों में समानता सर्व।
उनके गुण पूर्व प्रगट मेरे पूर्ण अप्रगट, अतः दोनों में अन्तर विशेषतः।। (6)
यथा बीज अंकुर से बने विशाल वृक्ष, तथा मैं भी विकास से बनूँ भगवन्त।
तिल में तैल यथा दुग्ध में घृत, पाषाण में निहीत मूर्ति सदृश्य।। (7)
तथा भव्य ही बनते हैं भगवान्, भगवान् है भव्य ही भावी पर्याय।
भव्य होता भगवान् की भूत पर्याय, जीव ही जिनेन्द्र, भक्त बने भगवान्।। (8)
ऐसा ही मुझे बनना है भगवान्, पतितपावन बनाये जैनधर्म।
सुदृष्टि से बना हूँ मैं आचार्य तक, गुणस्थान आरोहण से अरिहन्त सिद्ध।। (9)
सभी अरिहन्त-सिद्ध भी ऐसा ही बने, वे भी संसारी से मुक्त बने।
इस हेतु ही देवदर्शन आदि सभी धर्म, अन्यथा मिथ्या या भीखारी सम।। (10)
शुद्ध बुद्ध आनन्द नहीं देव मूर्ति, विद्यमान तीर्थंकर भी पा गये मुक्ति।

सिद्ध भगवान् तो अमूर्तिक ज्ञानानन्द, लोकाग्र शिखर में होते अवस्थित।। (11)
आशीर्वाद अभिशाप न देते भगवान्, भले साक्षात् समवशरण में विद्यमान।
वे स्वआत्म स्वरूप में ही होते लीन, भक्त-अभक्त पाते स्वभावानुसार कर्म।। (12)
भक्ति से भक्त को मिले पुण्य कर्म, जिससे उसे मिले स्वर्ग-अपवर्ग।
अभक्त को कुभाव से मिले पापकर्म, जिससे उसे मिले दुःख व दैन्य।। (13)
जो देवदर्शन पूजा कामना से करे, वह भक्त नहीं भीखारी सम करे।
ख्याति पूजा लाभ भोगोपभोग चाहे, वह निदान के कारण निरतिशय पुण्य बान्धे।। (14)
जिससे उसे देवदुर्गति मिले, भोगासक्त होकर संसार में भ्रमे।
मनुष्य में भी यदि धनमान मिले, सहीदान पूजा बिन अहंकार करे।। (15)
देवदर्शन अतः मैं आत्मदर्शन हेतु करूँ, निष्काम वीतराग भाव से करूँ।
सांसारिक वैभव परे आत्मवैभव हेतु करूँ, ''वन्देतद्गुणलब्धये'' हेतु 'कनक' करूँ।। (16)

ग.पु.कॉ.16-05-2020 मध्याह्न 1.28

योगि को अपना पूर्व-आचरण अज्ञानपूर्ण प्रतीत होता

(उत्तरोत्तर विज्ञान से पूर्व के आचरण अज्ञानपूर्ण प्रतीत होता)

(उत्तरोत्तर ज्ञान वृद्धि बिना स्व-पापात्मक अज्ञानपूर्व आचरण भी सही लगता)

-आचार्य कनकनन्दी

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तर विज्ञानाद्योगिनः प्रतिभाषते।। (251) आत्मानु.

(चालः जय हनुमान...)

जो आचरित पूर्व में सो सो है अज्ञान चेष्टित,
उत्तरोत्तर विज्ञान से योगि को होता प्रतिभाषित।। (1)
यथा यथा होता अन्धेरा क्षय, तथा तथा होता प्रकाश,
यथा यथा होता प्रकाश, तथा तथा दिखे पदार्थ।। (2)
मोह अज्ञान से आवृत जीव, नहीं देख पाते हैं सत्य।
यथा पलक से आवृत्त, चक्षु, नहीं देख पाती पदार्थ।। (3)
अतएव मोही अज्ञानी जीव स्वआत्मस्वरूप को न जान पाते।

शरीर को ही स्वरूप मान, कर, ''अहंकार'' ''ममकार'' करे।। (4)
शरीर जनित सुख दुःख व जन्म मरण व रोग
माता पिता धन जन पत्नी पुत्रादि को माने मम।। (5)
इस हेतु ही सभी काम करे, इस की सफलता को ही माने स्व सफल।
इस की असफलता से स्व को असफल माने यह मोहजाल।। (6)
इस से प्रभावित हो करते असिमसिकृषि वाणिज्य सेवा।
विवाह से ले भोगोपभोग, फैशन व्यसन साज सज्जा।। (7)
अन्याय अत्याचार पापाचार, मिलावट शोषण जमाखोर।
आक्रमणयुद्ध हत्या बलात्कार वैर विरोध संहार।। (8)
धर्म भी इस हेतु पालन करते, इहलोक परलोक निमित्त।
ख्यातिपूजालाभप्रसिद्धि वर्चस्व हेतु, न करते धर्म मोक्ष निमित्त।। (9)
द्रव्यक्षेत्रकालभव भाव उत्तम, पाकर जब जानते सत्य।
मैं हूँ सच्चिदानन्द आत्मतत्व, उक्त विभावों से भिन्न।। (10)
तब होता ज्ञान सम्यक्, जिससे उक्त विभावों को करे त्याग,
उत्तरोत्तर इस प्रक्रिया वृद्धि से, उत्तरोत्तर विभाव होते त्याग।। (11)
इस से उत्तरोत्तर होती आत्मविशुद्धि, जिससे बढ़े आत्मज्ञान/(आत्मशक्ति)
जिस से ''अहंकार'' ''ममकार'' क्षय से बने सच्चिदानन्द मय ''अहं''।। (12)
यह है परमज्ञान प्राप्ति उपाय, तथाहि परमविकास उपाय।
आत्मा को परमात्मा बनाने के उपाय ''सूरी कनक'' का ध्येय।। (13)
उक्त विषयों की प्रतीति मुझे हो रही है उत्तरोत्तर।
आगम अनुभव विज्ञान व स्व-पर में घटित भाव-व्यवहार।। (14)
अन्यथा जीव कितना भी करे अन्याय अत्याचार पापाचार।
उसे गलत नहीं माने यथा रावण, कंस से ले हिटलर।। (15)
युधिष्ठिर तक गृहस्थावस्था में खेले जुआ करे युद्ध।
तद्भवमोक्षगामी अंजन विद्युच्चर आदि किये चोर व्यसन।। (16)

ग.पु. कॉ. दि. 15-5-2020 रात्रि 1.53

धर्मानुराग-कथा

(महापापी लकुच बना महामुनि)

उज्जैन के राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्री के लकुच नाम का एक पुत्र था। लकुच बड़ा अभिमानी था। पर साथ में वीर भी था। उसे लोग मेघ की उपमा देते थे। इसलिए कि वह शत्रुओं की मान रूपी अग्नि को बुझा देता था, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथ का खेल था।

काल-मेघ नाम के म्लेच्छ राजा ने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी। अवन्ति देश की प्रजा को तब जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी। लकुच ने इसका बदला चुकाने के लिए काममेघ देश पर भी चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने पर विजयलक्ष्मी लकुच की गोद में आकर लेटी। लकुचने तब कालमेघ को बाँध लाकर पिता के सामने रख दिया। धनवर्मा अपने पुत्र की इस वीरता को देखकर बड़े खुश हुए। इस खुशी में धनवर्मा ने लकुच को कुछ वर देने की इच्छा जाहिर की। पर उसकी प्रार्थना से वर को उपयोग में लाने का भार उन्होंने उसी की इच्छा पर छोड़ दिया। अपनी इच्छा के माफिक करने की पिता की आज्ञा पा लकुच की आँखें फिर गई। उसने अपनी इच्छा का दुरुपयोग करना शुरू किया। व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई। तब अच्छे-अच्छे घराने की सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं। उनका धर्म भ्रष्ट किया जाने लगा। अनेक सतियों ने इस पापी से अपने धर्म की रक्षा के लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं। प्रजा के लोग तंग आ गये। वे महाराज से राजकुमार की शिकायत तक करने नहीं पाते कारण राजकुमार के जासूस उज्जैन के कोने-कोने मैं फैल रहे थे, इसलिए जिसने कुछ राजकुमार के विरुद्ध जबान हिलाई या विचार भी किया कि वह बेचारा फौरन ही मौत के मुँह में फेंक दिया जाता था।

यहाँ एक पुंगल नाम का सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम नागदत्ता था। नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी। एक दिन पापी लकुचकी इस पर आँखें चली गई। बस, फिर क्या देर थी? उसने उसे प्राप्त कर अपनी नीच मनोवृत्ति की तृप्ति की।

पुंगल उसकी इस नीचता से सिर से पाँव तक जल उठा। क्रोध की आग उसके रोम-रोम में फैल गई। वह राजकुमार के दबदबे से कुछ करने-धरने को लाचार था। पर उस दिन की बाट वह बड़ी आशा से जोह रहा था, जिस दिन कि वह लकुच से उसके कर्मों का भरपूर बदला चुका कर अपनी छाती ठण्डी करे।

एक दिन लकुच वन क्रीड़ा के लिए गया हुआ था। भाग्य से वहाँ उसे मुनिराज के दर्शन हो गये। उसने उनसे धर्म का उपदेश सुना। उपदेश का प्रभाव उस पर खूब पड़ा। इसीलिए वह वहीं उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया। उधर पुंगल ऐसे मौके की आशा लगाये बैठी ही था, सो जैसे ही उसे लकुच का मुनि होना जान पड़ा वह लोहे के बड़े-बड़े तीखे कीलों को लेकर लकुच मुनि के ध्यान करने की जगह पर आया। इस समय लकुच मुनि ध्यान में थे। पुंगल तब उन कीलों को मुनि के शरीर में ठोक कर चलता बना। लकुच मुनिने इस दुःसह उपसर्ग को बड़ी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुराग से सह कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया। सच है, महात्माओं का चरित्र विचित्र ही हुआ करता है। वह अपने जीवन की गति को मिनट भर में कुछ को कुछ बदल डालते हैं।

वे लकुच मुनि जयलाभ करें, कर्मों को जीतें, जिन्होंने असहाय कष्ट सहकर जिनेन्द्र भगवान रूपी चन्द्रमा की उपदेश रूपी अमृतमयी किरणों से स्वर्ग का उत्तम सुख प्राप्त किया, गुणरूपी रत्नों के जो पर्वत हुए और ज्ञान के गहरे समुद्र कहलाये। **(आराधना कथाकोश)**

प्रयोग व अनुभव सम्बन्धी कविता-

पतितों को भी पावन बनाना चाहूँ; पापीओं के लिए भी मैं मंगल कामना करूँ

(अच्छे भाव-काम के प्रतिफल भी अच्छे)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः1.आत्मशक्ति...2.क्या मिलिए...)

धन्य हो! मेरा भाग्य/(भाव) जगा है, आत्मतत्व का ज्ञान हुआ।

मैं हूँ अनन्तगुणों का स्वामी, तथा ही सभी जीवों को जाना।
निगोद से ले सिद्ध तक में, जीवों के गुणों की होती पूर्णता।
आत्मा परमात्मा में यह है भेद, यथा बीज-वृक्ष में होता भेद।। (1)
बीज से ही वृक्ष उत्पन्न होता, बीज सुप्त तो वृक्ष अभिव्यक्त।
दोनों अन्तर सुप्त व अभिव्यक्त, दोनों परस्पर होते जन्य-जनक।।
छोटा बीज में विशाल वृक्ष निहीत, अतः बीज नहीं पूर्णतः तुच्छ।
बीज नष्ट से वृक्ष नहीं संभव, तथाहि आत्मा-परमात्मा में ज्ञेय।। (2)
अतः न मानूँ किसी जीव को तुच्छ, तुच्छ मानने से बन जाऊँगा तुच्छ।
अरहिंत सिद्ध गणधर होते महान्, तथापि अन्य से न रखते तुच्छ भाव।।
तुच्छ जीवों के जो करते उपकार, वे तुच्छ जीव करते महान् प्रत्युपकार।
यथा बीज (वृक्ष) के रक्षण संवर्द्धन से, फूल फलादि मिलते प्रचुरता से।। (3)
सर्प-सर्पिणी के उपकार करने से, उपकारी बने वे अगले भव में।
चोर दृढ़ सूर्य को महामंत्र सुनाने से, धनदत्त के रक्षक बना देव बन के।।
ऐसा ही अनेक दृष्टान्त ज्ञात-अज्ञात, उपकृत पापी भी बने पुण्यात्मा श्रेष्ठ।
अतएव मैं पापी के भी उपकार भाऊँ, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ भाँऊ।। (4)
बाल्यकाल से कर रहा हूँ ये सतत्, सभी जीव प्रति भाव उपरोक्त।
इस के प्रतिफल भी मुझे मिले सतत, क्रिया की प्रतिक्रिया होती सतत।।
मेरे प्रति जो भी करते गलत भाव-काम, उनसे भी रखता हूँ साम्यभाव।
इस का भी प्रतिफल मुझे मिले उत्तम, भले उन्हें मिलते फल अनुत्तम।। (5)
आगम अनुभव व विज्ञान से जाना, कर्मानुसार प्रतिफल को माना।
अतएव मैं स्वयं को बना रहा हूँ योग्य, परम पावन बनना 'कनक' का लक्ष्य।।
पापी जब बनते उपदेश से पावन, उन में पूर्व अनुभव से आते श्रेष्ठ परिणाम।
''जो कम्मे सुरा वे धम्मे सुरा'' भी होतें, वे अधिक अच्छे भाव-काम करते।। (6)

ग.पु.कॉ. दि-19-5-2020 रात्रि 11.50

यह कविता स्वयंसेवी गुरुभक्त दिनेशचन्द्र शाह (जांगा) के कारण बनी।

आठ अनिष्ट कठिनता से छूटने वाले और पापों की खान स्वरूप फलों को छोड़कर ही शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष जिन धर्म के उपदेश ग्रहण करने के पात्र होते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि जब तक मानव विवेक पूर्वक दृढ़ संकल्प से अभक्ष भक्षण एवं अनैतिक आचरण से दूर नहीं हो जाता है तब तक वह प्राथमिक श्रेणी का भी धर्मात्मा नहीं बन सकता है। इतना ही नहीं, वह धर्म श्रवण के लिये योग्य पात्र भी नहीं बन सकता है। महाभारत में वेद व्यास ने भी कहा है-

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिका।

जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः।। (70)

जो धर्मात्मा पुरुष जन्म से ही इस जगत् में शहद, मद्य और मांस का सदा के लिए परित्याग कर देते हैं वे सब के सब मुनि माने गये हैं।

सदा यजति सत्राणि सदा दानं प्रयच्छति।

सदा तपस्वी भवति मधु मांस विवर्जनात्।। (15)

मद्य और मांस का परित्याग करने से मनुष्य सदा यज्ञ करने वाला, सदा दान देने वाला और सदा तप करने वाला होता है।

य इच्छेत पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरूपद्रवम्।

स वर्जये मांसानित् प्राणिनामिह सर्वशः।। (48)

जो मनुष्य अपने आप को अत्यन्त उपद्रवरहित बनाये रखना चाहता हो, वह इस जगत् में प्राणियों के मांस का सर्वथा परित्याग कर दे।

कर्मयोगी नारायण श्री कृष्ण ने संक्षिप्त रूप से दुःख से निवृत्त होने का उपाय बताते हुए कहा है-

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वभाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (17) गीता

He who is moderate in food, moderate in recreation, moderate in necessary action, moderate in steep, moderate in walking, can be able to practise Dhyana (yoga) the destroyer of grief.

जिसका आहर विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना जागना परिमित है उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है। (गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, लेखक बाल गंगाधार तिलक)

सप्त व्यसन के नाम-

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परनारं।

दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।। (59) वसुनन्दि

1. जुआ, 2.शराब, 3.मांस, 4.वेश्या, 5.शिकार, 6.चोरी, 7.परस्त्री, सेवन, ये सब व्यसन दुर्गति-गमन के कारणभूत पाप हैं।

सत्तण्णं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो।। (134)

सातों व्यसनों के फल से जीव संसार-सागर में भारी दुःख पाता है।

22 अभक्ष-

ओला घोर बड़ा निशि भोजन, बहुबीजा बैंगन संधान।

बड़ पीपर ऊमर कठुमर, पाकर फल या होय अंजान।।

कंदमूल माटी विष आमिष मधु माखन अरू मदिरापान।

फल अतितुच्छ तुषार चलितरस, ये बाईस अभक्ष बखान।।

ओला, दही बड़ा (कच्चे दूध से जमाये दही का बड़ा), रात्रि भोजन, बहुबीजा, बैंगन, आचार (चौबीस घण्टे बाद का), बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, अंजानफल (जिसको हम पहचानते नहीं ऐसे कोई फल, फूल, पत्ते आदि) कन्दमूल (मूली, गाजर आदि जमीन के भीतर लगने वाले), मिट्टी विष, (शंखियां, धतूरा आदि), आमिष-मांस, शहद, मक्खन, मदिरा, अतितुच्छ फल (जिसमें बीज नहीं पड़े हों ऐसे बिल्कुल कच्चे छोटे-छोटे फल), तुषार-बर्फ और चलित रस (जिनका स्वाद बिगड़ जाये ऐसे फटे दूध आदि) ये सब अभक्ष हैं।

प्रसिद्ध व्यसनी

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।

पत्तो सहावमाणं जूएण जुहिट्ठलो राया।। (125) वसु.नन्दी.श्रा.

जुआ खेलने से राजा युधिष्ठर राज्य से भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवास में रहे तथा अपमान को प्राप्त हुए।

उज्जाणम्मि रमँता तिसाभिभूया जलत्तिणाऊण।

पिविऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते जादवा तेण।। (126)

उद्यान में क्रीड़ा करते हुए प्यास से पीड़ित होकर यादवों ने पुरानी शराब को 'यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसी से वे नष्ट हो गये।

मंसासणेण गिद्धो वगरक्खो एग चक्कणयरम्मि।
रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गयो णरयं।। (127)

एक चक्र नामक नगर में मांस खाने से गृद्ध बक राक्षस, राज्यपद से भ्रष्ट हुआ, अपयश से मरा और नरक में गया।

सव्वत्थ निबुणबुद्धि वेसासंगेण चारूदत्तो वि।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेशगमणं च।। (128)

सर्व विषयों में निपुणबुद्धि चारूदत्त ने भी वेश्या के संग से धन को खोकर दुःख पाया और देश छोड़ना पड़ा।

होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणहियो वि संपत्तो।
मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण।। (129)

चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलने से मरकर नरक में गया।

णासावहारदोषेण दंडणं पाविउण सिरिभूई।
मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे।। (130)

न्यासापहार अर्थात् धरोहर को अपहरण करने के दोष से दण्ड पाकर श्रीभूति आर्तध्यान से मरकर संसार में दीर्घकाल तक रूलता फिरा।

होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कट्टी वि।
मरिऊण गओ णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो।। (131)

विचक्षण, अर्द्धचक्रवर्ती और विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंका का स्वामी रावण परस्त्री के हरण से मरकर नरक में गया।

एदे महाणुभावा दोसं एकेक्क-विसण-सेवाओ।
पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वणिणज्जये किंसो।। (132)

ऐसे-ऐसे महानुभाव एक-एक व्यसन के सेवन करने से दुःख को प्राप्त हुए फिर जो सातों ही व्यसनों का सेवन करता है उसके दुःख का क्या वर्णन किया जा सकता है।

साकेते सेवंत्तो सत्त वि वसणाइंरूद्रदत्तो-वि।
मरिऊण गओ विरयं भमियो पुण दीहसंसारे।। (133)

साकेत नगर में रूद्रदत्त सातों ही व्यसनों को सेवन करके मरकर नरक गया और फिर दीर्घ काल तक संसार में भ्रमता फिरा।

श्रेष्ठता-जेष्ठता-पूज्यता के कारण
आध्यात्मिक गुणों से जीव बने भगवान्
(पावनता व मुक्ति के क्रमविकास से आध्यात्मिक विकास)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः1.इक परेदशी तेरा.... 2.युमना किनारे...)

सिद्ध भगवान् होते परमपावन, द्रव्यभावनोकर्म रिक्त से पावन।
अरिहंत (भगवान्) होते भावकर्म रिक्त से पावन, सूरी-पाठक साधु उनसे न्यून।
घाती-अघाती रहित होते सिद्ध भगवान्, घाती कर्म रिक्त अरिहंत भगवान्।
अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान, मिथ्यात्व रहित सूरी पाठक श्रमण।। (1)
परम मुक्त होते सिद्ध भगवान्, भाव मुक्त होते अरिहन्त भगवान्।
मोह श्रद्धान (दर्शन) मुक्त होते शेष भगवान्, उपशम क्षायोपशम क्षय-श्रद्धान।।
पावन बनने हेतु अन्तरंग शुद्धि प्रधान, इससे बनते जीव बंधन मुक्त निदान।
इससे ही जीवों का होता उत्थान, गुणस्थान आरोहण से परिनिर्वाण।। (2)
एतदर्थ रत्नत्रय प्रमुख कारण, आत्मविश्वास ज्ञानचारित्र धर्म।
इसका ही विस्तार उत्तमक्षमादि दशधा धर्म, समताशान्ति आत्मविशुद्धि प्रधान।।
इस हेतु ही बाह्य धार्मिक आचरण, तप त्याग से ले ध्यान-अध्ययन।
दान दया सेवा परोपकार से ले पूजन, तीर्थ यात्रा से ले जपतप विधान।। (3)
बाह्य धर्म से यदि जीव न होता पावन, तब न होता क्षीण उसका कर्म बन्धन।
जिससे उसे न मिले परिनिर्वाण, अतः संसार में अनन्त भ्रमण।।
निरतिशय पुण्य से मिले सत्ता, सम्पत्ति उससे जीव की भोगोपभोग में आसक्ति।
भले वे बने राजा से ले स्वर्ग के देव, शुद्धता मुक्ति बिन न होते महान्।। (4)
आध्यात्मिक जीव बनते पूज्य महान्, शुद्धात्मा ही परम पूज्य से ले भगवान्।

शुद्ध बुद्ध परमात्मा ही होते भगवान्, इसे प्राप्त करना 'कनक' का लक्ष्य पावन।। (5)

ग.पु.कॉ. 21-05-2020 मध्याह्न 12:36

रहस्य उद्घाटक कविता- (समाधि मरण भावना)

भाव मोक्ष से दुःख क्षय संभव अन्यथा नहीं

(संसारी जीवों की समस्या, विषमता, विकृति आदि के कारण भावबन्ध (घातीकर्म) भाव की अशुद्धता/ अपूर्णता)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः झिलमिल सितारों का...)

जब तक होगा घातीकर्म का सद्भाव, तब तक बन्ध-विघ्न भी होना संभव।
घातीकर्म ही करते आत्मिक गुण विनाश, अनन्तज्ञानदर्शन व सुखवीर्य प्रमुख।। (1)
घातीनाश से होते प्रगट अनन्त चतुष्टय, जिससे जीव पाते हैं भाव विमोक्ष।
भाव मोक्ष से न होते बन्ध-विघ्न, उपसर्ग परिषह व स्थिति अनुभाग बन्ध।। (2)
यथा पार्श्ववीर व उपसर्ग विजयी केवली, उपसर्ग सहे सभी बनने के पूर्व केवली।।
केवली बनने से सभी उपसर्ग हुए अभाव, उपसर्ग हेतु उपादानकारण घाती सद्भाव।। (3)
यथा कार्बन सद्भाव से लोहा में लगे जंग, कार्बन अभाव से हीरा में न लगे जंग।
तथाहि ज्ञानदर्शनमोहनीय अन्तराय सद्भावे, संसारी जीव पाते अनेक बन्ध बाधायें।। (4)
इससे ही संसारी जीव होते गुलाम, रागद्वेषकाम क्रोधादि के आधीन।
शत्रु मित्र भाई बन्धु आदि के आधीन, भोगोपभोग सत्ता सम्पत्ति के गुलाम।। (5)
तद्भव मोक्षगामी महान् पुरुष तक गृहस्थ अवस्था में कुछ पापों में आसक्त।
पंचपाप सप्तव्यसनों में भी आसक्त, आरंभपरिग्रह से ले युद्ध से न विरक्त।। (6)
साधु अवस्था में भी कुछ सहे नाना कष्ट, ताड़न मारन निन्दा अपमानादि कष्ट।
देव मानव तिर्यंच प्राकृतिक उपसर्ग, सहन किये बत्तीस परीषह पर्यन्त।। (7)
अनन्त जीवों के अनन्त भाव व कर्म, अनन्त होते परिणमन व परिणाम।
इसलिए अल्पज्ञों को न होता सम्पूर्णज्ञान, जिससे न कर पाते बन्ध-विघ्न निवारण।। (8)
अतएव असर्वज्ञ न होते सम्पूर्ण सुखी, सम्पूर्ण सुखी बनने हेतु बनते मुनि।

मुनि बनकर आत्मसाधना से घाती नाशते, अनन्त चतुष्टय प्राप्ति से सुखी बनते।। (9)
इस हेतु ही चक्रवर्ती तक बनते श्रमण, अन्यथा कोई भी जीव न पाते सुख सम्पूर्ण।
भाव मोक्ष अनन्तर पाते वे परिनिर्वाण, यह ही जीवों के शाश्वत सुख के धाम।। (10)
यह है सर्व समस्याओं के निवारण उपाय, अन्य समस्त उपाय न पूर्ण उपाय।
रागीद्वेषीमोहीकामी से अज्ञात उपाय, शाश्वतसुख हेतु 'कनक' सेवन करे ये उपाय।। (11)
मिथ्यात्वयुक्त व निदानयुक्त कर्म के कारण, जीव पाते हैं अधिक बन्ध व विघ्न।
निकाचित कर्म देते हैं, अधिक दुःख, सम्यक्त्वयुक्त निदान रहित से न अधिक दुःख।। (12)

ग.पु.कॉ. 20-5-2020 रात्रि 11.18

निर्मोही के स्व को भगवान् मानना V/S मोही के स्व को भगवान् मानना

(निर्माही अन्त में भगवान् बनते व मोही दानव व नारकी बनते)

(आत्मविश्वास-आत्मगौरव V/S अहंकार-ममकार)

(चालः 1.तुम दिल की... 2.आत्मशक्ति...)

भव्य सुदृष्टि आध्यात्मिक ज्ञानी स्व को मानते निश्चय से भगवान्।
ऐसा ही अन्य जीवों को मानते ''सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया'' प्रमाणम्।।
इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन जिससे होते ज्ञान-आचरण सम्यक्।
इससे बढ़ते ज्ञान-वैराग्य जिससे आत्मविशुद्धि से बनते श्रमण।।
इस हेतु त्यागते सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि-वर्चस्व-भोगोपभोग।
सामान्य सुदृष्टि जीव से लेकर राजा-महाराजा से ले चक्रवर्ती तक।। (1)
साधु बनकर करते ध्यान अध्ययन तप-त्याग से आत्मविशुद्धि।
समता-शान्ति-निस्पृह-निराडम्बरता से आत्मविशुद्धि में परिणति।।
इससे वे राग-द्वेष मोह काम क्रोध मदमत्सर ईर्ष्या तृष्णा घृणा।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश नाशकर बनते शुद्ध-बुद्ध परमात्मा।। (2)
यह निर्मोही के स्व को भगवान् मानने की अन्तिम फल बनना भगवान्।
इससे अनन्त विपरीत है मोही के स्व को मानना भगवान्।।

यथा रावण-कंस-जरासन्ध-हिरणयकश्यपु आदि प्रसिद्ध उदाहरण।
वे रागद्वेषमोह काम क्रोध मदमत्सर आदि विभाव बढ़ाकर बनना चाहते भगवान्।। (3)
इससे वे अन्याय अत्याचार पापाचार दुराचार भ्रष्टाचार करते।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि वर्चस्व, ख्याति पूजा लाभ हेतु वे करते।।
आक्रमण युद्ध हत्या बलात्कार शोषण आदि से भगवान् बनना चाहते।
इससे वे स्वपर के अपकारी बनकर मानव से दानव-नारकी बनते।। (4)
आध्यात्मिक दृष्टि से स्व को भगवान् मानने वाले बनते सच्चे भगवान्।
सम्यग्दृष्टि मानव-पशु-पक्षी-नारकी-देव भी स्व को निश्चय से माने भगवान्।।
इससे अतिरिक्त कोई भी त्रिलोक में त्रिकाल में नहीं बन सकते भगवान्।
भगवान् बनने हेतु 'सूरी कनकनन्दी' स्व को निश्चय से माने भगवान्।। (5)

आत्मा अनन्त गुणधाम

(चालः1.भातुकली...(मराठी)...)

मैं कथा सुनाऊँ आत्मा, अनन्त गुणधाम की...
आत्मा ही परम सत्य, स्वयम्भू सनातन (परम) शक्ति...(ध्रुव)
अनन्त गुण गण अनन्त नाम, यथा गुण तथाहि नाम...
ज्ञानवान् से भगवान्, सब जानने से सर्वज्ञ...
ऐश्वर्यशाली से ईश्वर हो ऽऽऽ, परम सत्य से परमेश्वर
कभी न मरने से अमृत, शुद्ध चैतन्य परमतत्त्व...(1)
परमेष्ठी ही परम पद स्थित, स्वभाव से अविचलित अच्युत...
जगत् में ज्येष्ठ से जगज्जेष्ठ, शाश्वत से सनातन...
स्वयं से प्रभु स्वयम्प्रभु हो ऽऽऽ, स्वयं ही विभु स्वयंविभु...
स्वयं ही बुद्ध स्वयम्बुद्ध, जगत् के हितकर जगद्धित...(2)...
कर्मबन्धन रिक्त विमुक्तात्मा, कलङ्क रिक्त निष्कलङ्कात्मा...
मूर्तिक से परे हो अमूर्त, स्वयं में ही स्थित प्रतिष्ठित...
सत् चित् आनन्द तव स्वरूप...हो ऽऽऽ, अतः आप सच्चिदानन्द...
परम पुरुष हो परम ब्रह्म, आत्म स्वरूप ही 'कनक' श्रमण...(3)...

मम शुद्धात्म स्वरूपः सच्चिदानन्द

(अतः मैं निश्चय से जन्म-जरा-रोग-शोक-मरण से परे)

(चालः 1. मन तड़पत...(बिन गुरु ज्ञान नहीं...)....2.तुम दिल की.... 3.देहाची/तिजोरी...(मराठी)...)

मैं हूँ सत्-चित्-आनन्द रूप, जीव द्रव्य होने से भगवत् रूप।
तन-मन-इन्द्रिय मेरा न रूप, राग-द्वेष-मोहादि विभाव रूप।। (स्थायी)
''सत्'' होने से मैं हूँ शाश्वतिक, ''सत् द्रव्य लक्षणं'' से गुण-अनन्त।
''चैतन्य'' स्वरूप से न निर्जीव रूप, अनन्तानन्तज्ञान-दर्शन रूप।। (1)
''आनन्द'' स्वरूप से अनन्तसुख, अतः दुःख शोकादि न मम रूप।
अनादिकर्मबन्ध से बना अशुद्ध, जिससे हुए राग-द्वेष-मोहादि विभाव।। (2)
इससे जायमान तन-मन-इन्द्रिय, यथा पुद्गल संयोग से नीला आकाश।
पुद्गल वियोग से अमूर्तिक आकाश, तथाहि कर्मवियोगे (मैं) सत्-चित्-आनन्द।। (3)
पुद्गल अभाव से न आकाश विनाश, तथाहि कर्मक्षय से न मेरा विनाश।
किन्तु पुद्गल से नभ होता प्रदूषित, तथाहि कर्म से मैं हुआ हूँ अशुद्ध।। (4)
''अहमेक्को खलु सुद्धो'' हूँ निश्चय नय से, दंसणणाणमयक्षयाअरूपी से।
''णत्थिमम अण्ण किंचिवि'' तथा, ''अण्ण परमाणु मित्तपि'' निश्चय से।। (5)
अतः निशंक हूँ निर्भय निर्द्वन्द्व, हानि-लाभ से परे ''सच्चिदानन्द''।
जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक शून्य, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द हूँ 'श्रमण कनक'।। (6)

ज्ञान-वैराग्य हेतु पाप-पापियों का वर्णन आगम में

(दुःख में सुमिरन सब करे/ आर्त्तनरा धर्मपरा भवन्ति)

(चालः1.आत्मशक्ति...2.भातुकली...)

पाप व पापियों का प्रचुर वर्णन किया है जैनाचार्यो ने।
इससे प्राप्त दुःखों को बताकर पाप से निवृत्त किया उन्होंने।। (ध्रुव)
अनादिकालीन पाप के उदय से जीव करते हैं बहुपाप।

रागद्वेषमोहकामक्रोधादि आवेशित जीव करते नानाविध पाप।।
इसके साथ-साथ जो देखते-सुनते पाप उससे प्रेरित करते पाप।
संज्ञा लेश्या व कषाय आवेशित पापों को ही मानते सही काम।। (1)
इससे पाप की शृंखला चलती अनादिकाल से अनन्त तक।
पंचपरिवर्तन अनन्त करते कष्ट भोगते हैं अनन्त तक।।
जब तक गुरु उपेदश सहित नहीं प्राप्त करते पंचलब्धि।
तब तक भव्य न बनते सम्यक्त्वी इस हेतु चाहिए पंचलब्धि।। (2)
देशनालब्धि से जब भव्य जीव बनते हैं सम्यग्दृष्टि।
जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष की होती रूचि।।
जिससे उनका ज्ञान होता सुज्ञान जिससे होता सही विवेक।
हेय-उपादेय, ग्राह्य-अग्राह्य, पुण्य-पाप का होता विवेक।। (3)
इससे होता आचरण सम्यक् जिससे होता है हितग्रहण।
इससे होता है अहितत्याग पापपरिहरण व पुण्याचरण।।

आसव बंधण संवर निज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीव विसेसा ते वि समासेण पभणाओ।। (28) द्रव्य.
णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो णव होंति त्ति।। (621, गो.जी.)
मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।। (47, रत्न.)
णाणं णरस्ससारो सारो वि णरस्स होई सम्मत्तं।
समत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।। (31, आ. कुन्दकुन्द)
विगलित दर्शन मोहैः समंजस ज्ञान विदित तत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निः प्रकम्पैः सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम्।। (37, पुरु.)

इसलिए आगम में पाप व पापियों का हुआ बहुत वर्णन।
जिससे भव्य पाप को त्यागकर पुण्य से पाये परिनिर्वाण।।

तद्भवमोक्षगामी तीर्थंकर तक पापात्मक दृश्य से हुए विरक्त।
नीलांजना की मृत्यु से लेकर पशुबली से नेमिनाथ विरक्त।। (4)
ऐसा ही अधिसंख्य मोक्षगामी राजा से ले चक्री हुए विरक्त।
साधु पाठक आचार्य गणधर बुद्ध ऋषि मुनि साध्वी हुए विरक्त।।
दुःखमासुखमा में दुःख होने से सुख प्राप्ति हेतु होता पुरुषार्थ।
भोगभूमि में तथा स्वर्ग में दुःख अभाव से न तथा पुरूषार्थ।। (5)
अतः दुःख व दुःख के कारण तथाहि निवारण उपाय जानने योग्य।
महात्माबुद्ध को भी हुआ ऐसा वैराग्य शोध किया दुःखनिवृत्ति मार्ग।।
यह है शिक्षा यह है रहस्य इसे न जानते कुज्ञानी-मोही।
आगम अनुभव मनोविज्ञान से काव्य रचा है ''कनकनन्दी''।। (6)
विज्ञान में अभी शोध हुआ है जो हिंसात्मक दृश्य देखते।
उन्हें हिंसा से विरक्ति होती यथा अशोक को कलिंग युद्ध से।। (7)

(ग.पु.कॉ, दि-9-8-2020, रात्रि-9.59)